बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समीक्षा

(संस्कृत जैन ग्रन्थों के आधार पर)

(रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय बरेली की
डी.लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

आशीर्वाद व प्रेरणा -
आध्यात्मिक संत परम् पूज्य मुनि श्री १०८ सुधासागरजी महाराज
एवं क्षु. गम्भीरसागरजी महाराज व क्षु. धैर्यसागरजी महाराज

-: सम्पादक द्वय :-

डॉ. रमेशचन्द जैन
एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्
जैन दर्शनाचार्य
संस्कृत विभाग
बिजनौर (उ.प्र.)

डॉ. अरुणकुमार शास्त्री
व्याकरणाचार्य
सरस्वती भवन
सेठजी की नसियाँ
ब्यावर (राज.)

-: प्रकाशक :-
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.)

प्रकाशक :
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर

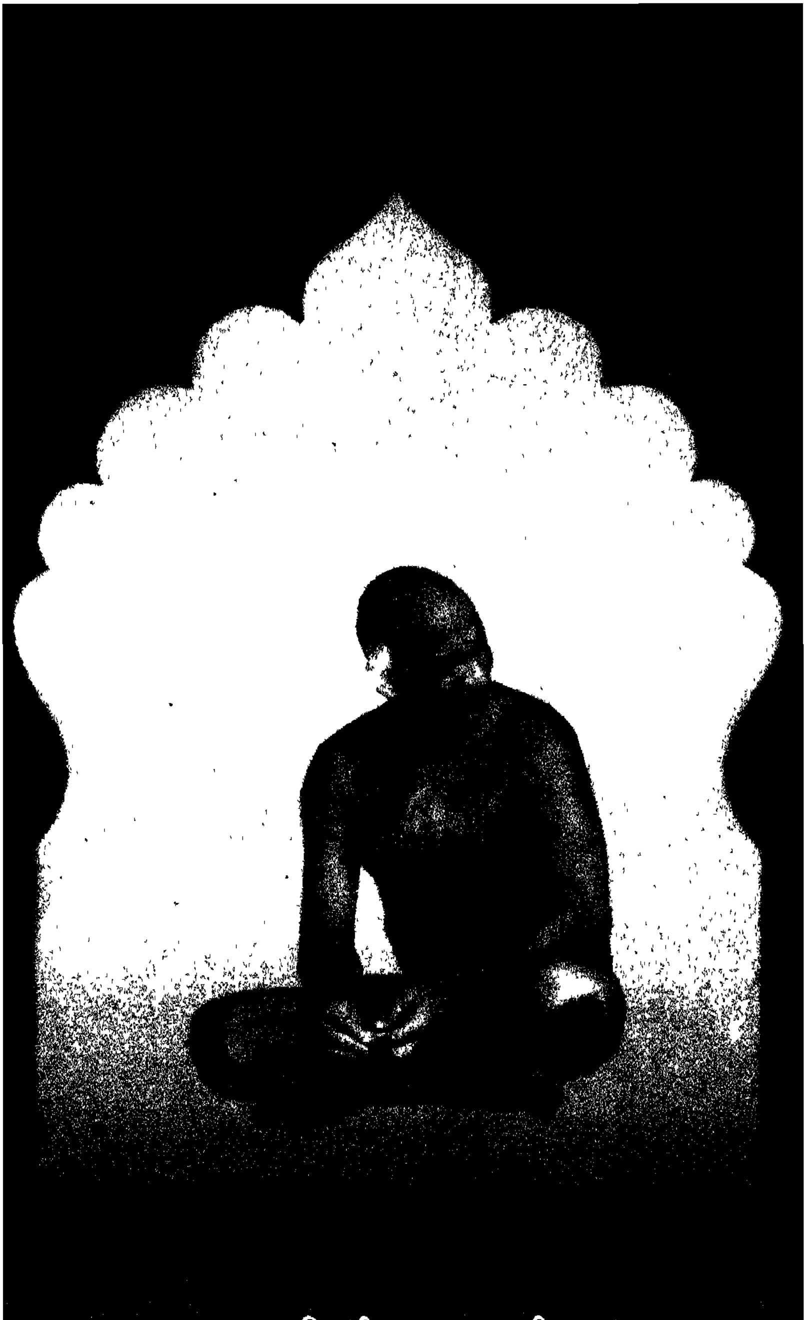
ग्रन्थमाला सम्पादक एवं नियामक:
(1) डॉ रमेशचन्द जैन, बिजनौर
(2) डॉ अरूणकुमार शास्त्री, ब्यावर

प्रूफ रिडिंग :
पदमचन्द पाटनी, नसीराबाद

प्रथम संस्करण - 1995

मूल्य : 75/-

प्राप्तिस्थान :
1 आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
सेठजी की नसियाँ, ब्यावर (राज)
2 दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र संघीजी मंदिर
सांगानेर, जयपुर (राज.)



परम् पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवं

क्षु. श्री गंभीरसागरजी एवं क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

सौजन्यता :

श्री दूलीचन्दजी गोधा 26 आनासागर लिंक रोड़, अजमेर **श्री कैलाशचंद जी जैन** 45 सिविल लाईन्स, जयपुर (राज)	}	750
श्री कैलाशचंद जी सुभाषचन्दजी पाटनी अजमेर		250

प्रकाशक :

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ-विमर्श केन्द्र सरस्वती भवन,

सेठ जी की नसियाँ, ब्यावर (राज.)

मुद्रण एवं लेज़र टाइप सैटिंग :

निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टर्स

पुरानी मण्डी, अजमेर फोन **422291**

समर्पण

卐

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी,

जिनशासन प्रभावक देवगढ़

आदि तीर्थो के परम उद्धारक

सुयोग्य वक्ता एवं प्रभावी प्रवचनकार

श्रमणसाधना में अहर्निश तत्पर

मुनि श्री १०८ सुधासागरजी महाराज

के

कर कमलों में यह कृति

श्रद्धा और विनय भावना के साथ समर्पित

गुरुचरण चञ्चरीक

- डॉ. रमेशचन्द जैन

प्रकाशकीय

चिरंतन काल से भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोमुखी होने से बचाया है। इस देश से एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे। इस प्राणवान बहूमूल्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यों का महान योगदान रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्ययनादि कार्य सम्पादिक किये गये। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अनुशीलनादि में अनेक जेन-अजैन विद्वान् भी अग्रणी हुए। फलत: इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकाराच्छादिक मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये। इन गहनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है। विद्वानों के शोध-अनुसंधान-अनुशीलन कार्यों को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाए उदित भी हुई, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्ववानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य-विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ/अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी है तो शोधार्थियों को बहुपरिश्रमोपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं। और भी अनेक बाधायें/समस्याएें जैन ग्रन्थों के शोध-अनुसन्धान-प्रकाशन के मार्ग में है, अत: समम्याओं के समाधान के साथ-साथ विविध संस्थाओं-उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महमूस की जा रही थी।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र भूरामल शास्त्री (आ. ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है। महाकवि ने चार-चार संस्कृत महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया। यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा मे हुआ। इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परोन्नायक सन्तशिरोमणी आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यर्थाथ उद्घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू. मुनिपुंगव सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ। राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत/संगोष्ठी सागानेर में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयोजित हुई व इसी सुअवसर पर दि जैन समाज, अजमेर ने आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चार्तुमास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की। पू. मुनि श्री के सानिध्य में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने,

शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाङ्मय सहित सकल जैन विद्या पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन - प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आये। इसके अनन्तर मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर (राज.) में मुनिश्री के संघ सानिध्य में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्धसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वत् गोष्ठि में उक्त कार्यों के संयोजनार्थ डॉ. रमेशचन्द्र जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्यावर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यों हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पू. मुनिश्री के मंगल आशिष से दिनांक 18.3.95 को त्रैलोक्य तिलक महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर. के. मार्बलस किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुखराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय का व्यापक मूल्यांकन-समीक्षा-अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है।

केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों की विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के प्रथम मास में ही निम्न पुस्तकें प्रकाशित की -

प्रथम पुष्प - इतिहास के पन्ने - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
द्वितीय पुष्प - हित सम्पादक - आचार्य ज्ञानसागरजी द्वारा रचित
तृतीय पुष्प - तीर्थ प्रवर्तक - मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन
चतुर्थ पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा - डॉ. श्रीमती विजयलक्ष्मी जैन
पंचम पुष्प - अञ्जना पवनंजयनाटकम् डॉ रमेशचन्द जैन, बिजनौर
षष्टम पुष्प - जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरुप - डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित
सप्तम पुष्प - बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समीक्षा - डॉ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर आर. डी. लिट् हेतु

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अनेकान्त रूप वस्तु व्यवस्था के माध्यम से क्षणिक वादी बौद्ध दर्शन की मिथ्या धारणाओं को प्रस्तुत कर भव्य जीवों के लिए सन्मार्ग का निर्देशक देने वाला है-

अरुण कुमार शास्त्री,
ब्यावर

दो शब्द

आद के युग का मनुष्य तुलानात्मक रूप में प्राचीन काल के मनुष्यों की अपेक्षा वैचारिक दृष्टि से अधिक सहिष्णु, तार्किक और सूक्ष्मान्वेषी हो गया है। दर्शन के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए ये तीनों ही तत्त्व अत्यावश्यक हैं। तुलनात्मक अध्ययन को महत्त्व देने पर मनुष्य में इन तीनों गुणों का विकास होता है और वह बहुत कुछ सोचने और समझने में समर्थ हो पाता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुएमैंने श्रमण संस्कृति की दो विचारधाराओं के तुलनात्मक अध्ययन को अपने डी. लिट्. के शोधप्रबन्ध का विषय चुना और "बौद्धदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा : संस्कृत जैन ग्रन्थों के आधार पर" विषय पर रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय की अनुमति से कार्य किया।

दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और जटिल है तथा सामान्य मनुष्य के ज्ञान की अपनी सीमायें हैं, अत: यह अध्ययन कितना सफल हुआ, इसका आकलन तो मैं नहीं कर सकता, पाठक श्री इस विषय में एकमात्र निर्णायक सिद्ध होंगे, तथापि इस अध्ययन से भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन को यदि किञ्चित भी गति प्राप्त हुई तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा। जैनाचार्यो द्वारा बौद्धदर्शन पर किए गए साहित्यक कार्य का जब मैंने अध्ययन किया तो मुझे ज्ञात हुआ कि जैन दार्शनिक रचनाओं में समीक्षात्मक रूप में बौद्धदर्शन का विशाल भण्डार है। वस्तुत: जैन तत्त्वज्ञों का अन्य दर्शनों का अध्ययन और मनन दूसरों के लिए स्पृहा की वस्तु है। इन आचार्यो के प्रति श्रद्धा के जितने सुमन चढ़ाये जाँय, थोड़े ही रहेंगे।

निरन्तर ज्ञान की आराधना में संलग्न आर्यिका रत्न ज्ञानमती माता जी के प्रति मैं प्रणत हूं, जिनके चरणों में बैठकर मैंने अष्ट सहस्री के मार्मिक स्थलों को समझा और उनके अष्टसहस्री के हिन्दी अनुवाद का उपयोग किया।

बौद्ध तथा जैन न्याय के आधुनिक प्रकाण्ड विद्वानों में न्यायाचार्य पं महेन्द्रकुमार जी को भारतीय दर्शन का कोई अध्येता भुला नहीं सकता, उनकी प्रस्तावनाओं और तुलनात्मक टिप्पणियों का मैंने अपने उपर्युक्त शोधप्रबन्ध में यथेष्ट उपयोग किया और पद पद पर उनके अदभ्य उत्साह का अनुभव किया। श्रद्धेय पं जुगल किशोर मुख्तार, पं सुखलाल संघवी, पं. दलसुख मालवणिया, पं कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं फूलचन्द्र शास्त्री, डॉ. दरबारी लाल कोठिया, डॉ. लालबहादुर शास्त्री, प्रो. उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य प्रभृति विद्वानों के ग्रन्थों से मुझे भरपूर सहायता मिली। विमलमति डॉ शेरवात्स्की, आचार्य नरेन्द्रदेव, शास्त्री प्रभृति विद्वानों की रचनाओं से मैं लाभान्वित हुआ। डॉ. विजयलक्ष्मी जैन ने ग्रन्थ लिखते समय गार्हस्थिक चिन्ताओं से मुझे दूर रखकर अध्ययन का पर्याप्त समय दिया और निरन्तर मुझे उत्साहित करती रहीं। मेरे अनुज डॉ. अशोककुमार जैन, डॉ नरेन्द्रकुमार जैन, डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन लेखन कार्य में मुझे सहयोग देते रहे, इन सभी के प्रति मेरा हार्दिक धन्यवाद।

ग्रन्थ प्रकाशन में जिनदातारों सहयोग प्राप्त हुआ, उनके प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित है।

पूज्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज एवं उनके सुयोग्य शिष्य मुनि श्री 108 सुधासागर जी महाराज, जिन्हें यह ग्रन्थ समर्पित किया गया है, वर्तमान समय के महानतम साधु हैं, उनके चरणों में बैठकर हृदय में वैराग्य की जो धारा प्रवाहित होती है, उसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। उनके दर्शन कर तन, मन, नयन सब कृतार्थ हो जाते हैं, लगता है मेरा मनुष्य जन्म सफल हो गया, पूर्वजन्मों के संचित कर्मों की जंजीरें टूट कर बिखर रही हैं और ज्ञान की अगाध सरिता मानस में प्रविष्ट हो रही है। मुनिवर को जब मैं सामने विराजमान देखता हूँ तो ऐसी अनुभूति होती है कि स्वर्ग और अपवर्ग पृथ्वी पर उतर आया है। उनके ज्ञान, ध्यान और तपोमय जीवन को मेरी सारी श्रद्धा और भक्ति समर्पित है। गुरुचरणों के प्रसाद से मुझे रत्नत्रय का लाभ हो, यही एक मात्र कामना है।

गुरुचरण चञ्चरीक

रमेशचन्द जैन

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद :: विषय प्रवेश

द्वितीय परिच्छेद :: आर्यसत्य

तृतीय परिच्छेद :: अनात्मवाद

चतुर्थ परिच्छेद :: वैभाषिक मत समीक्षा

पंचम परिच्छेद :: सौत्रान्तिक मत समीक्षा

षष्ठ परिच्छेद :: क्षणिकवाद समीक्षा

सप्तम परिच्छेद :: विज्ञानवाद समीक्षा

अष्टम परिच्छेद :: चित्राद्वैत समीक्षा

नवम् परिच्छेद :: शुन्यवाद समीक्षा

दशम परिच्छेद :: प्रमाण

प्रमाण का स्वरूप,
प्रमाण का भेद,
प्रत्यक्ष प्रमाण

✣ ✣ ✣

वीरं नमामि सर्वज्ञं वीतरागंजगद्दितम् ।
धर्मशासन तीर्थेशं विशुद्धं परमेश्वरम् ॥

द्वादशाङ्गं श्रुतज्ञानं प्रणमामि च श्रद्धया ।
स्याद्वादभीनुनायेन सर्वतत्त्वं प्रकाशितम् ॥

सर्वसाधून्न मस्कृत्य मूलोत्तर गुणार्च्चितान् ।
पुस्तिकां ज्ञानरक्षार्थं सप्रमाणं लिखाम्यहम् ॥

卐 श्री ऋषभदेवाय नमः 卐

प्रथम परिच्छेद

विषय प्रवेश

बौद्धमत का प्रवर्तन– बौद्धधर्म की स्थापना ऐतिहासिक काल में गौतम बुद्ध ने की। बौद्धों का विश्वास है कि शाक्य मुनि अन्तिम बुद्ध थे। उनसे पहिले 23 बुद्धों ने इस धर्म का प्रचार भिन्न-भिन्न युगों में किया था। कौशल जनपद के कपिलवस्तु नगर में शाक्य गणराज्य में बुद्ध का जन्म 505 वि. पू. की वैखाखी पूर्णिमा को लुम्बिनी नामक उद्यान में हुआ था। 29 वर्ष की अवस्था में सारे सुख वैभव को छोड़कर इन्होंने वन का मार्ग लिया। कुछ समय तक ये सुयोग्य गुरु की खोज में रहे। अनन्तर छः वर्ष तक इन्होंने कठोर तपस्या की, किन्तु इन्हें सम्बोधि प्राप्त न हुई। 35 वर्ष की अवस्था में 471 वि. पू. की वैशाखी पूर्णिमा को उरुवेला नामक स्थान में उन्हें आर्यसत्यों का साक्षात्कार हुआ। अनन्तर उन्होंने अपने धर्म का उपदेश दिया, फलस्वरूप दूर-दूर तक इनका धर्म फैल गया। 426 वि. पू. की वैशाखी पूर्णिमा को 80 वर्ष की आयु में मल्ल गणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर में बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए।[1]

बौद्धदर्शन का उद्गम – बौद्धदर्शन के उद्भव का आधार तथा उसके प्रामाण्य की अन्तिम भूमि भगवान बुद्ध की अभिसम्बोधि तथा उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व की दीप्ति है। बुद्ध परमतत्त्व के निर्देश में महामौन धारण करते थे, जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्र विचार की परम्परा को एक अदम्य प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार बुद्ध के निर्वाण काल (पाँचवी शताब्दी ईस्वी पूर्व) से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी तक अर्थात् शंकराचार्य के समय तक बौद्धदर्शन ने भारतीय दर्शन के विकास में सक्रिय योग दिया। उसके बाद वह अपने विकृत तान्त्रिक रूप में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक जीवित रहा। सम्राट अशोक (तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व) के समय तक आते आते बौद्धधर्म अठारह सम्प्रदायों या निकायों में विभक्त हो गया था, किन्तु श्रौत परम्परा या जैन परम्परा के समीक्षकों ने प्रायः इन अठारह निकायों पर विचार नहीं किया। सभी प्राचीन वैदिक या जैन विचारकों ने सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञानवादी (योगाचार) और माध्यमिक (शून्यवाद) इन चार सम्प्रदायों का ही उल्लेख कर उन्हें अपनी समीक्षा का विषय बनाया है। इनमें से प्रथम दो का अन्तर्भाव सर्वास्तिवाद, जिसे हमहीनयान कह सकते हैं, में हो जाता है तथा शेष दो सम्प्रदाय महायानिकों के हैं।[2]

बौद्धदर्शन का विकास – आचार्य बलदेव उपाध्याय का कथन है कि विक्रम के पूर्व पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक लगभग 1500 वर्ष बौद्धदर्शन के उदय और अभ्युदय का महत्वपूर्ण समय है। इस दीर्घकाल में बौद्धाचार्य बौद्धधर्म के तीन बार प्रवर्तन स्वीकार करते हैं, जिसे वे त्रिक प्रवर्तन के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक विभाग लगभग 500 वर्षों का माना जा सकता है। प्रथम काल विभाग में प्रधान सिद्धान्त पुद्गल नैरात्म्य (आत्मा का निषेध) था। इसमें बाह्य आयतन या विषय की सत्ता का निषेध माना जाता था। यह जगत् शक्तियों का मूल सत्ताविहीन, एक क्षणिक परिणाम या सन्तानमात्र है, यही तथ्य सर्वत्र प्रतिपादित किया जाता था। दूसरा काल विभाग विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर पंचम शताब्दी तक है, जब पुदगल नैरात्म्य के स्थान पर धर्म नैरात्म्य सर्वमान्य सिद्धान्त था। व्यक्तिगत कल्याण के स्थान पर सार्वजनीन कल्याण की भावना विराजने लगी। शून्यवाद के उदय का यही युग है। इस युग में बोधिसत्व के उदार भाव ने विश्व के सामने मैत्री तथा करुणा का आदर्श उपस्थित किया। तीसरे विकास का समय विक्रम

की पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक है । तर्कविद्या की उन्नति इस युग की विशेषता थी । विज्ञानवाद, के उदय का यही समय है। विषयीगत प्रत्ययवाद का सिद्धान्त इस समय मान्य हुआ । इस युग के अनन्तर बौद्धदर्शन में नवीन कल्पना का अभाव मिलता है । अब बौद्ध तत्वज्ञान की अपेक्षा बौद्धधर्म विशेष उन्नति करता दृष्टिगोचर होता है ।[3]

बौद्ध साहित्य - बौद्ध साहित्य के भण्डार में पालि त्रिपिटक ही पावन बौद्ध साहित्य का सबसे प्राचीन और सम्पूर्ण उपलब्ध संग्रह है । वह तीन भागों में व्यवस्थित रूप से विभाजित है। पहला विभाग विनयपिटक है, जिसमें अनुशासन के नियम दिए गए हैं, दूसरा सुत्तपिटक है, जिसमें उपदेशों का संकलन है और तीसरा अभिधम्मपिटक है, जिसमें मनोवैज्ञानिक नीतियों पर आधारित दुरुह दर्शन के ग्रन्थ संग्रहित हैं ।

इस सूत्रात्मक साहित्य के अतिरिक्त पालि में जो अन्य साहित्य है, उसमें मिलिन्द पञ्ह, नेत्तिप्रकरण, विनय और अभिधम्म पिटकों पर बुद्धदत्त लिखित भाष्य, पालि त्रिपिटक ग्रन्थों पर टीकायें, जिनमें बुद्धघोष या धम्मपाल द्वारा लिखित जातक कथायें, श्री लंका की गाथायें जैसे दीपवंस, महावंस और चूलवंस तथा प्राचीन संस्कृत काव्य के अनुकरण पर परवर्ती काल में पालि में रचित ग्रन्थ इत्यादि आते हैं । बुद्धघोष की विद्वतापूर्णमौलिक कृति विशुद्धिमग्ग भी उल्लेखनीय है, जिसे प्रारम्भिक बौद्धधर्म का एक विश्वकोष कहा जा सकता है।[4] संस्कृत में हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थरत्न विद्यमान हैं । महायान सूत्रों में अष्ट साहस्त्रिका, प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गरुडव्यूह, तथागत गुहयक, समाधिराज तथा दशभूमीश्वर ये 10 धर्म ग्रन्थ मुख्य माने गए हैं । विदेशी भाषाओं में अनेक पालि तथा संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हुए तथा अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ । इस प्रकार बौद्धसाहित्य का प्रणयन विपुल रूप में हुआ ।

बौद्धदर्शन के प्रमुख आचार्य

पालि ग्रन्थकार-

नागसेन - स्थविर नागसेन का जन्म मध्यदेश की पूर्वी सीमा पर स्थित हिमालय पर्वत के समीपवर्ती कजंगला नामक प्रसिद्ध कस्बे में हुआ । उनके पिता का नाम सोणुतर था, जो एक ब्राह्मण थे । वेद, इतिहास और लोकायत शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर नागसेन ने स्थविर रोहण से बुद्धशासन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की और बौद्धधर्म में प्रवेश किया ।

अनन्तर अस्सगुत्त तथा धर्मरक्षित से उन्होंने बौद्धधर्म का विशेष अध्ययन किया । एक बार स्यालकोट में उनकी ग्रीक राजा मिलिन्द से भेंट हुई । मिलिन्द या मिनेण्डर का शासन काल प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व माना जाता है । अपने मूल रूप में मिलिन्दपञ्ह इसी समय लिखा गया । मिलिन्दपञ्ह में मेनाण्डर के प्रश्नों का नागसेन द्वारा समाधान संरक्षित है । मिलिन्दपञ्ह से ज्ञात होता है कि भदन्त-नागसेन के उत्तरों से सन्तुष्ट होकर राजा मिलिन्द अपने को उपासक के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना करता है। मिलिन्दपञ्ह के लेखक का शब्दाधिकार और उसकी शैली की प्रभावशीलता, उसका ओजमय शब्दचयन, प्रभावशाली कथन प्रकार, उपमाओं और युक्तियों के द्वारा उसका स्वाभाविक अलंकार विधान, सबसे बढ़कर उसकी सरलता, भव्यता और प्रसाद गुण ये सब गुण उसे साहित्यिक गद्य के निर्माताओं की उस श्रेणी में बैठा देते हैं जहाँ उसका तेज सर्वोपरि है ।[5] राजा मिलिन्द नागसेन के पास जाकर बैठ जाता है और उनसे पूछता है-

"भन्ते । आप किस नाम से पुकारे जाते हैं, आपका क्या नाम है ?"

"महाराज । मैं नागसेन नाम से पुकारा जाता हूँ । सब्रह्मचारी भिक्षु मुझे यही कहकर पुकारते हैं । माता पिता अपने बच्चों के इसी नाम प्रकार के नाम रखते हैं, जैसे "नागसेन" "सुरसेन" आदि।

लेकिन ये सब नाम केवल व्यवहार के लिए हैं। तात्त्विक दृष्टि से इस प्रकार का कोई व्यक्ति नहीं होता।"

"भन्ते। नागसेन। यदि यथार्थ में कोई व्यक्ति है ही नहीं तो आपको अपनी आवश्यक वस्तुयें कौन देता है ? उन वस्तुओं का उपयोग कौन करता है? पुण्य कौन करता है ? ध्यान कौन लगाता है ? आर्य मार्ग और उसका फल निर्वाण कौन प्रत्यक्ष करता है ? भले, बुरे का फिर तो कोई कर्ता ही नहीं ? आपका कोई गुरु भी नहीं, आप उपसम्पन्न भी नहीं, आप कहते हैं आपको लोग "नागसेन" नाम से पुकारते हैं। नागसेन है क्या ?

"क्या केश नागसेन है ?"

"केश किस प्रकार नागसेन हो सकते हैं"

"तो क्या नख, दाँत, चमड़ी, मांस, शरीर नागसेन हैं"

"राजन्। ये भी नहीं"

"तो क्या पञ्च स्कन्धों का संयोग नागसेन है"

"नहीं , महाराज।

" तो क्या फिर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों से व्यतिरिक्त कोई नागसेन वस्तु है

"नही, महाराज।

मिलिन्द राजा थक जाता है। उसकी बुद्धि आगे संप्रश्न करना नहीं जानती।

"भन्ते ! मैं पूछते पूछते हार गया, फिर भी मैं यह न जान सका कि नागसेन क्या है ? तो क्या नागसेन केवल एक नाम ही है ? अन्ततः नागसेन है क्या ? वास्तव में भन्ते। आप असत्य बोल रहे हैं कि नागसेन नामका यथार्थ में कोई व्यक्तित्व विद्यमान नहीं है।"

भदन्त नागसेन की यह अनात्मवाद की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। इसके उद्धरण के बिना मूल बुद्ध दर्शन सम्बन्धी अनात्मवाद का कोई भी विवेचन पूरा नहीं माना जा सकता।[6]

बुद्धदत्त - आचार्य बुद्धदत्त चोल राज्य में उरगपुर (वर्तमान उरईपुर) के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष के समान उन्होंने भी अनुराधपुर के महाविहार में रहकर अध्ययन किया था। सिंहल सेलौटकर उन्होंने कावेरी नदी के तट पर स्थित एक विहार में बैठकर, जिसे कृष्णदास या विष्णुदास नामक एक वैष्णव ने बनवाया था, अपने ग्रन्थों की रचना की। बुद्धदत्त के ग्रन्थों में अभिम्मावतार का स्थान सबसे ऊँचाहै। यद्यपि वह बुद्धघोष द्वारा अभिधम्भ पिटक परकी गई अट्ठकथाओं का संक्षेप ही है, फिर भी बुद्धदत्त ने बुद्धघोष का अन्धानुकरण नहीं किया है। बुद्धघोष ने पाँच दार्शनिक तत्त्व रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान माने हैं, परन्तु आचार्य बुद्धदत्त ने उनका वर्गीकरण और विवेचन चित्त, चैतसिक रूप और निव्वाण के रूप में किया है।[7] बुद्धदत्त द्वारा रक्ति ग्रन्थ या अट्ठकथायें इस प्रकार हैं- 1. विनय विनिच्छय 2. उत्तरविनिच्छय 3. अभिम्मावतार 4 रुपारुपविभाग और 5. मधुरत्थविलासिनी।

बुद्धघोष - आचार्य बुद्धघोष का जन्म गया के समीप बौधिवृक्ष के पास हुआ। ये प्रारम्भ में वेद, वेदाङ्ग में निष्णात विद्यार्थी थे, अनन्तर इन्होंने बौद्ध प्रव्रज्या ले ली। बाद में भिक्ष संघ ने उनके घोष को बुद्ध के समान जानकर बुद्धघोष की पदवी दे दी। उनकी तीक्ष्णबुद्धि को देखकर उनके गुरु महास्थविर रेवत ने उनसे कहा - "लंका द्वीप में महास्थिवर महेन्द्र द्वारा संगृहीत सिंहली भाषा में प्रमाणिक अट्ठकथायें सुरक्षित हैं। तुम वहाँ जाकर उनका श्रवण करो, बाद में मागधी भाषा में उनका रुपान्तर करो, ताकि वे सबके लिए हितकारी हों।" गुरु आज्ञा पाकर बुद्धघोष लंकाधिपति महानाम के शासनकाल में लंका गए और वहा अनुराधपुर के ग्रन्थाकर विहार में बैठकर बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं के मागधी रुपान्तर सम्बन्धी कार्य को पूर्ण किया। बुद्धघोष का जीवन काल चौथी पाँचवी शताब्दी माना जाता है।[8]

आचार्य बुद्धघोष ने निम्नलिखित रचनायें की - 1. विसुद्धिमग्ग 2. समन्तपासादिका 3. कंखावितरणी 4. सुमंगलविलासिनी 5. पपञ्चसूदनी 6. सारत्थप्पकासिनी 7. मनोरथपूरणी 8. परमत्थजोतिका 9. अट्ठसालिनी 10. सम्मोहविनोदनी 11-15 पञ्चप्पकरणट्ठकथा 16. जातकट्ठवण्णना 17. धम्मपदट्ठकथा 18. अन्य ग्रन्थ ज्ञानोदय आदि जो अनुपलब्ध हैं।[9]

धम्मपाल - आचार्य बुद्धघोष के सम-सामयिक बुद्धदत्त के अतिरिक्त एक अन्य प्रसिद्ध अट्ठकथाकार आचार्य धम्मपाल हैं। धम्मपाल का जन्म तमिल प्रदेश के काञ्चीपुर में हुआ था। इनकी भी शिक्षा सिंहल के महाविहार में हुई। इन्होंने तमिल प्रदेश के पदरतित्थ (या बदरतित्थ) नामक विहार में आकर निवास किया और यहीं अपनी अट्ठकथायें लिखीं। आचार्य धम्मपाल की रचनायें ये हैं-1- परमत्थदीपनी, 2- नेत्तिप्पकरण अट्ठकथा 3- नेतित्थकथाय टीका 4- परमत्थमञ्जूषा 5- लीनत्थप्पकासिनी या लीनत्थवण्णना 6- जातकट्ठकथा टीका 7- मधुरत्थ विलासिनी टीका (बुद्धदत्त कृत)।

संस्कृत ग्रन्थकार

अश्वघोष - अश्वघोष सुवर्णाक्षी के पुत्र थे तथा इनका जन्म स्थान साकेत था। ये आर्य भदन्त, महापण्डित, महावादिन् तथा महाराज आदि विरुदों से अलंकृत थे। इन्हें कनिष्क का समकालीन कहा जाता है। इस प्रकार उनका काल ईसा को प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है। अश्वघोष का महायान सम्प्रदाय के विकास में महत्वपूर्ण योग रहा है। कुछ लोगों के मतानुसार अश्वघोष महायान सम्प्रदाय तथा माध्यमिक शून्यवाद के मूल प्रवर्तक थे। अश्वघोष के नाम से शुद्ध बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में महायानश्रद्धोत्पाद संग्रह, वज्रसूची, गण्डीस्तोत्रगाथा तथा सूत्रालङ्कार प्रसिद्ध हैं। महायान श्रद्धोत्पादसंग्रह लिखने का कारण उस समय प्रचलित बौद्ध भिक्षुओं की दार्शनिक भ्रान्तियों का निराकरण करना है। हीनयानियों की त्रुटियों को देखकर अश्वघोष ने परमार्थसत्य (तथता) को स्पष्ट करने के लिए इस दार्शनिक ग्रन्थ की रचना संस्कृत में की थी। इसी में सर्वप्रथम शून्यवादी विचारधारा का संकेत मिलता है, जो नागार्जुन की शून्यविवर्तवादी माध्यमिक शाखा का मूलाधार है। दूसरा ग्रन्थ है वज्रसूची, इस ग्रन्थ में ब्राह्मणधर्म के द्वारा मान्य वर्ण व्यवस्था तथा जातिभेद की छीछालेदर की गयी है। गण्डी स्तोत्र गाथा 29 छन्दों की छोटी रचना है, जिसमें अधिकतर स्रग्धारा छन्द हैं। बहुमत इसे अश्वघोष की रचना नहीं मानता। सूत्रालङ्कार के विषय में भी ऐसा ही मतभेद है। अश्वघोष की साहित्यिक रचनायें तीन हैं- बुद्धचरित, सौन्दरनन्द तथा शारिपुत्रप्रकरण[10]। इन रचनाओं का उद्देश्य काव्य के माध्यम से दर्शन की शिक्षा देना रहा है। बौद्धदर्शन के प्राय: सभी प्रमुख सिद्धान्त यहाँ सरल भाषा में व्यक्त किये गए हैं। उदाहरणत: निर्वाण के विषय में वे कहते हैं- "आत्मा निर्वाण की दशा में न पृथ्वी में जाती है, न अन्तरिक्ष में, न दिशा में, न किसी विदिशा में, किन्तु क्लेश के क्षय से ठीक उसी तरह केवल शान्ति को प्राप्त होती है, जैसे दीपक निर्वृत्ति की दशा में न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न दिशा में, न किसी विदिशा में, अपितु तेल के क्षय के कारण केवल शान्ति को प्राप्त होता है[11]। आचार्य पूज्यपाद ने "प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्" कहकर सवार्थसिद्धि[12] में बौद्धों की इसी मान्यता की ओर संकेत किया है।

नागार्जुन - ये आन्ध्र राजा गौतमी पुत्र यज्ञश्री (166-196ई.) के समकालीन माने जाते हैं। इन्होंने शून्यवाद की प्रतिष्ठापना की थी। इनका जन्म विदर्भ में एक ब्राह्मण के घर हुआ था। ये वैद्यक तथा रसायन शास्त्र के भी आचार्य बतालाए जाते हैं। अलौकिककल्पना, अगाद्य विद्वत्ता तथा प्रगाढ़ तान्त्रिकता के कारण इनकी विपुल कीर्ति भारत के दार्शनिक जगत में सदा अक्षुण्ण बनी रहेगी। नागार्जुन के नाम से बहुत से ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनकी वास्तविक कृतियाँ निम्नलिखित प्रतीत होती हैं-

1. माध्यमिककारिका 2. युक्ति षष्टिका 3. प्रमाण-विध्वंसन, 4. उपाय-कौशल्य 5. विग्रह-व्यावर्तनी 6. सुहुल्लेख 7. चतु:स्तव ।[13]

आर्यदेव - आर्यदेव नागार्जुन के प्रधान शिष्य थे । नागार्जुन और आर्यदेव की जीवनियों का अनुवाद कुमारजीव नें ई. 405 में किया है। अतएव इनका समय तीसरी शताब्दी का द्वितीय तृतीय चरण होना चाहिए । आर्यदेव का जन्म सिंहल में हुआ था । तत्कालीन राजा के आश्रम में वे तरुण हुए, प्रव्रजित हुए और वहीं से दक्षिण भारत में आकर नागार्जुन से दीक्षा ग्रहण की । आर्यदेव के चतु:शतक, चित्तविशुद्धिप्रकरण तथा हस्तबालप्रकरण नाम के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं ।[14]

असङ्ग - इनका समय लगभग 405-470 ई. माना जाता है ।[15] ये आचार्य वसुबन्धु के ज्येष्ठ भाई थे । वसुबन्धु को वैभाषित मत से हटाकर योगाचार मत में इन्हीं ने दीक्षित किया । असङ्ग सम्भवत: वह प्रथम बौद्ध लेखक थे, जिन्होंने नैयायिकों के पञ्चावयवी परार्थानुमान को बौद्ध क्षेत्र में व्यवहारत: प्रचलित किया । इन्होंने वादकला के सम्बन्ध में कुछ नियमों की भी स्थापना की जो न्याय सम्प्रदाय द्वारा निर्धारित नियमों से वस्तुत: भिन्न नहीं थे ।[16]

वसुबन्धु - वसुबन्धु स्वतन्त्र विचारक थे, किन्तु उनका झुकाव सौत्रान्तिक मतवाद की ओर था । पीछे से असंग ने महायान धर्म स्वीकार कर लिया और उनकी प्रेरणा से वसुबन्धु भी महायान के मानने वाले हो गए । ताकाकुसु के अनुसार वसुबन्धु का काल 420 ई. और 500 ई के बीच है ।[17] वसुबन्धु का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधर्मकोश है । इसके चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं । वृद्धावस्था में वसुबन्धु के असंग ने प्रभाव से महायान धर्म स्वीकार किया और विंशतिका और त्रिंशिका नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचे । ये विज्ञानवाद के ग्रन्थ हैं । रिंशतिका पर वसुबन्धु ने अपनी वृत्ति लिखी । वसुबन्धु के कुछ अन्य ग्रन्थ हैं -पंचस्कन्ध प्रकरण, व्याख्यायुक्ति और कर्मसिद्धिप्रकरण। वसुबन्धु की मृत्यु 80 वर्ष की अवस्था में अयोध्या में हुई ।[18] पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री का कथन है कि वसुबन्धु के ग्रन्थों को अकलङ्क ने देखा था । एक दो स्थल पर वसुबन्धु के अभिधर्मकोश से उन्होंने तत्वार्थवार्तिक में प्रमाण उद्धृत किए हैं ।[19]

दिङ्नाग - दिङ्नाग वसुबन्धु के समर्थक थे । उनका समय 350 से 500 ई के बीच माना जाता है । तारानाथ के अनुसार दिङ्नाग वसुबन्धु के ही शिष्य थे जो उनके शिष्य सम्प्रदाय में सबसे बड़े विद्वान और स्वतन्त्र विचारक हुए । दिङ्नाग ने अपने महान् पाण्डित्य का बल वसुबन्धु कृत अभिधर्मकोश के मण्डन में लगाया । बाण ने अपने हर्षचरित में कहा है:- "दिङ्नाग के मस्तक की कूट कल्पनाओं से विकट बना हुआ जो वसुबन्धु का अभिधर्म कोश था, उसे आचार्य दिङ्नाग शास्त्रार्थों में अपने दाहिने हाथ में लेकर बायें हाथ से अभिमानपूर्वक जब उसकी ओर संकेत करते थे तब उनके बायें हाथ की नखकरणों की सलिलधारा मानों वसुबन्धु के कोश ग्रन्थ का भावनामय ऐसा स्नान कराती थी, जिससे शास्त्रार्थसमर की रसहीनता उत्पन्न हो जाती थी, अथवा जिससे युद्धों के गुरुत्तर भार की सम्भावना उत्पन्न हो जाती थी अथवा, शास्त्रार्थ रूपी युद्ध में प्रतिभा प्रदर्शन द्वारा जलविरहित केवल भावनामय अभिषेक किया जाता था ।[20] कालिदास के मेघदूत में भी दिङ्नाग के स्थूल हस्तावलेपों का संकेत है ।[21] अकलङ्क ने दिङ्नाग के प्रमुख ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय से एक कारिका उद्धृत की है और लघीयस्त्रय की विवृति के 'अपरे' करके एक मत का उल्लेख किया है, जिसे प्रभाचन्द्र दिङ्नाग का मत बतलाते हैं ।[22] दिङ्नाग के प्रमुख ग्रन्थ हैं- 1. प्रमाणसमुच्चय 2. प्रमाणसमुच्चय वृत्ति 3. न्यायप्रवेश 4. हेतुचक्रनिर्णय 5. प्रमाणाशास्त्रन्यायप्रवेश 6. आलम्बन परीक्षा 7. आलम्बनपरीक्षावृत्ति 8. त्रिकालपरीक्षा 9. मर्मप्रदीप । दिङ्नाग को मध्ययुगीन न्याय का पिता कहा जाता है ।

शान्तिदेव - ये सुराष्ट्र के राजा कल्याणवर्मन के पुत्र थे । नालन्दा विहार के सर्वश्रेष्ठ पण्डित जयदेव इनके गुरु थे । ये धर्मपाल के अनन्तर नालन्दा के पीठ स्थविर हुए । इनके तीन ग्रन्थों के

नाम उपलब्ध होते हैं । 1. शिक्षा समुच्चय 2. सूत्रसमुच्चय 3. बोधिचर्यावतार ।[23] अकलङ्कदेव ने "अविद्याप्रत्यया: संस्कारा" इत्यादि वार्तिक की जो व्याख्या तत्वार्थवार्तिक में की है, वह शान्तिदेव के शिक्षा समुच्चय और बोधिचर्यवतार से प्रभावित है ।[24]

धर्मकीर्ति – धर्मकीर्ति का जन्म दक्षिण त्रिमलय में हुआ था । तिब्बती परम्परा के अनुसार इनके पिता का नाम कोरुनन्द था । पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने सिद्धिविनिश्चय टीका की एक पंक्ति "कुरुन्दारकोऽसि केन तदत्सरभ्रसांत तादवसरभ्रशांत उद्धभृत्" कर "कुरुन्दारकोऽसि" के स्थान में "कोरुनददारकोऽसि" पाठ सुझाया है । इससे सिद्ध होता है कि धर्मकीर्ति के पिता कोरुनन्द थे, यह अनुश्रुति दसवीं सदी से पुरानी है ।[25] धर्मकीर्ति का समय पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने 620 ई. से 690 तक निर्धारित किया है ।[26] जैनेतर दार्शनिकों में से जिसने जैन आचार्य अकलङ्क को सबसे अधिक प्रभावित किया, वह उसका समकालीन बोद्धनैयायिक धर्मकीर्ति था। अकलङ्क ने धर्मकीर्ति के प्राय: सभी ग्रन्थों का आलोडन किया था और उनकी शैली के आधार पर अपने प्रकरणों की रचना की थी । पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री और न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि अकलङ्क ने धर्मकीर्ति का अच्छा अध्ययन किया था और उनकी ही शैली के आधार पर अपने प्रकरणों की रचना करके धर्मकीर्ति के सभी मुख्य मुख्य मन्तव्यों की आलोचना की थी ।[27]

धर्मकीर्ति ने बौद्धन्याय पर अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, उनमें दिङ्नाग के ग्रन्थों की व्याख्या की गई थी । उनका प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ स्पष्टत: "प्रमाणसमुच्चय" के वार्तिक के रूप में प्रसिद्ध है ? इसीलिए बौद्धन्याय में धर्मकीर्ति वार्तिककार नाम से विख्यात है । धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का इतना आदर एवं प्रचार हुआ कि इनके सामने दिङ्नाग के ग्रन्थों का अध्ययन समाप्त प्राय: हो गया ।[28] धर्मकीर्ति ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की -1-प्रमाणवार्तिक 2- प्रमाणविनिश्चय 3- न्यायबिन्दु 4- हेतुबिन्दु 5- सम्बन्धान्तर परीक्षा 6- वादन्याय 7- सन्तानान्तरसिद्धि ।

धर्मोत्तर - आचार्य धर्मोत्तर कल्याणरक्षित तथा धर्माकरदत्त (अर्चट) के शिष्य थे । मल्लवादी ने न्याय बिन्दुटीका पर धर्मोत्तरटिप्पण लिखा है । किन्तु मल्लवादी का समय विवादाग्रस्त है, अत: उससे धर्मोत्तर के समय निर्धारण में सहायता नहीं मिल सकती है । अकलङ्क ने धर्मोत्तर के मत का खण्डन किया है । न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार के अनुसार अकलङ्क देव का समय 720-780 है ।[29] इस प्रकार धर्मोत्तर के समय की अपर सीमा अष्टम शती का प्रथम चरण हो सकती है ।[30] न्यायबिन्दु टीका के अतिरिक्त धर्मोत्तरकृत निम्नलिखित 5 ग्रन्थों का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध होता है-1. प्रमाण विनिश्चयटीका 2. प्रामाण्यपरीक्षा 3. अपोहप्रकरण 4. परलोकसिद्धि 5. क्षणभङ्ग सिद्धि ।

शान्तरक्षित - धर्मकीर्ति के टीकाकारों में शान्तिरक्षित बड़े प्रखर विद्वान थे । इनका समय 705-762 ई. माना जाता है । इन्होंने सन् 743 ई. में अपनी प्रथम तिब्बत यात्रा की थी । जैनाचार्य अकलङ्कदेव के कई श्लोकों और पक्तियों को देखने तथा उनकी तुलना शान्तरक्षित से करने पर दोनों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का आभास हो जाता है ।[31] इस प्रकार सिद्ध होता है कि अकलङ्क ने शान्तिरक्षित के ग्रन्थों को देखा था तथा उनके कतिपय प्रसङ्गों की आलोचना की थी । शान्तिरक्षित के दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं -1 वादन्याय टीका 2- तत्त्वसंग्रह । तारानाथ के अनुसार शान्तिरक्षित के अन्य ग्रन्थ हैं- माध्यमिकालङ्कारकारिकावृत्ति, हेतुचक्रडमारु, तत्त्वसिद्धि ।

बौद्धदर्शन की समीक्षा करने वाले प्रमुख जैन आचार्य :-

कुन्दकुन्द- कुन्दकुन्द विक्रम की प्रथम शताब्दी के आचार्यरत्न माने जाते हैं[32] । जैन परम्परा में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद कुन्दकुन्द का नाम लेना मङ्गलकारक माना जाता

है ।[33] उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं -1. नियमसार 2. पंचास्तिकाय 3. प्रवचनसार 4. समयसार 5. बारसअणुवेक्खा 6. दंसणपाहुड 7. चरितपाहुड 8. सुतपाहुड 9. बोधपाहुड 10. भावपाहुड 11. मोक्खपाहुड 12. सीलपाहुड 13. लिंगपाहुड 14. दसभतिसंगहो । इनके अतिरिक्त 43 अन्य ग्रन्थों का पता लगाया गया है ।[34] आचार्य कुन्द कुन्द ने विभिन्न दृष्टियों का समन्वय किया है । द्रव्य का आश्रय लेकर उन्होंने सत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए कहा है कि द्रव्य दृष्टि से देखा जाय तो भाव-वस्तु का कभी नाश नहीं होता और अभाव की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार द्रव्य दृष्टि से सत्कार्यवाद का समर्थन करके आचार्य कुन्द कुन्द ने बौद्धसम्मत असत्कार्यवाद का भी समर्थन करते हुए कहा है "गुण और पर्यायों में उत्पाद और व्यय होते हैं।'[35] अतएव यह मानना पड़ेगा कि पर्याय दृष्टि से सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होती है ।[36]

औपनिषदिक दर्शन , विज्ञानवाद और शून्यवाद में वस्तु का निरुपण दो दृष्टियों से होने लगा था । एक परमार्थदृष्टि और दूसरी व्यावहारिक दृष्टि । तत्त्व का एक रूप पारमार्थिक और दूसरा सांवृतिक वर्णित है । एक भूतार्थ है तो दूसरा अभूतार्थ, एक अलौकिक है तो दूसरा लौकिक, एक शुद्ध है तो दूसरा अशुद्ध , एक सूक्ष्म है तो दूसरा स्थूल । जैन आगम में व्यवहार और निश्चय दो नय या दृष्टियाँ क्रमशः स्थूल-लौकिक और सूक्ष्म तत्त्वग्राही मानी जाती रही हैं । आचार्य कुन्द कुन्द ने आत्मनिरुपण उन्हीं दो दृष्टियों का आश्रय लेकर किया है । आत्मा के पारमार्थिक शुद्ध रूप का वर्णन निश्चय नय के आश्रय से और अशुद्ध लौकिक-स्थूल आत्मा का वर्णन व्यवहार नय के आश्रय से उन्होंने किया है ।[37]

कुन्दकुन्द की दृष्टि में आत्मा को ज्ञान आदि स्वपरिणामों का ही कर्ता मानना चाहिए । आत्मेतर कर्म आदि यावत् कारणों को अपेक्षा कारण 'या' निमित कहना चाहिए । वस्तुतः दार्शनिकों की दृष्टि से जो उपादान कारण है उसी को आचार्य ने परमार्थ दृष्टि से कर्ता कहा है और अन्य कारणों को बौद्धदर्शन प्रसिद्ध हेतु, निमित्त या प्रत्यय शब्दों से कहा है ।[38]

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि तत्त्व का वर्णन न निश्चय से हो सकता है, न व्यवहार से, क्योंकि ये दोनों नय अमर्यादित एवं अवाच्य को मर्यादित और वाच्य बनाकर वर्णन करते हैं। अतएव वस्तु का परमशुद्धस्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है । वह न व्यवहारग्राहय है और न निश्चय ग्राहय। जेसे जीव को व्यवहार के आश्रय से 'बद्ध' कहा जाता है और निश्चय के आश्रय से 'अबद्ध' कहा जाता है । स्पष्ट है कि जीव में 'अबद्ध' का व्यवहार भी 'बद्ध' की अपेक्षा से हुआ है अतएव आचार्य ने कह दिया कि वस्तुतः जीव न 'बद्ध' है और न 'अबद्ध,' किन्तु पक्षातिक्रान्त है यही समयसार है, यही परमात्मा है ।[39] नागार्जुन के शून्यवाद के विरोध में लोगों का तर्क था कि आप जिन वाक्यों और शब्दों से शून्यता का समर्थन कर रहे हैं वे वाक्य या शब्द शून्य हैं या नहीं । यदि शून्य हैं तो उनसे शून्यवाद का समर्थन कैसे हो सकता है ? यदि शून्य नहीं है तो शून्यवाद का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है ।[40] नागार्जुन इसके उत्तर में कहते हैं कि लोगों को उनकी भाषा में ही समझाना पड़ता है । शून्य जगत को शून्य भाषा में शून्यवाद का समर्थन करना होगा । म्लेच्छ को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा का ही सहारा लेना पड़ता है । दूसरा कोई उपाय नहीं है -

नान्ययाभाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा ।
न लौकिक मृते लोकः शक्यो ग्राहयितु तथा ।

(माध्यमिक कारिका पृ. 370)

कुन्दकुन्द के सामने प्रश्न आता है कि यदि परमार्थ से आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र नहीं है तो व्यवहार से उनका कथन क्यों किया जाता है ? क्यों नहीं एक परमार्थ भूत ही कथन करते हैं ।[41] कुन्दकुन्द का उत्तर है -

जहणवि सक्कमणज्जो अणज्जमासं विणा ड गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥

(समयसार-8)

जिस प्रकार अनार्य को अनार्य भाषा के बिना नहीं समझाया जा सकता उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश शक्य नहीं है ।

सांख्य आत्मा को कुटस्थ नित्य मानता है, बौद्ध चित्त सन्तान को सर्वथा क्षणिक मानता है। एक की दृष्टि में जो कर्ता है वही भोक्ता है । दूसरे की दृष्टि में कर्ता कोई अन्य है, भोक्ता कोई अन्य है। आचार्य कुन्दकुन्द दोनों की मिथ्यादृष्टि मानते हैं -जिसका एकान्त से ऐसा सिद्धान्त है कि जो कर्ता है, वही भोगता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि, अनार्हत है, जो मानता है कि कर्म तो कोई अन्य ही करता है और उसका फल कोई अन्य भोगता है वह भी मिथ्यादृष्टि, अनार्हत है[42]। तात्पर्य यह कि पर्यायार्थिक नय के द्वारा जिनका विभाग किया जाता है ऐसी देव मनुष्यादि पर्यायों के द्वारा यह जीव नाश को प्राप्त होता है, किन्तु द्रव्यार्थिक नय के द्वारा जिसका विभाग किया जाता है ऐसी कुछ अवस्थाओं के द्वारा नाश को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जीव का स्वरूप नित्य और अनित्य स्वभाव वाला है । इसलिए द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से तो करने वाला और भोगने वाला जीव एक ही है, किन्तु पर्यायार्थिक नय से करने वाला और भोगने वाला दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं । इस विषय में एकान्त नहीं है ।[43]

आचार्य कुन्दकुन्द ने खड़िया का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे खड़िया निश्चय से दीवाल से भिन्न है, व्यवहार से कहा जाता है कि खड़िया दीवाल को सफेद करती है, इसी प्रकार निश्चय दृष्टि से ज्ञायक आत्मा सहज है, परद्रव्य को जानता है, इसलिए ज्ञायक है. ऐसा नहीं है । व्यवहार दृष्टि से ज्ञायक अपने स्वभाव के द्वारा परद्रव्य को जानता है । इस प्रकार सर्वज्ञ निश्चय दृष्टि से आत्मज्ञ और व्यवहार दृष्टि से सर्वज्ञ है ।[44] समयसार की जयसेनाचार्यकृत टीका में बौद्धों की ओर से कहा गया है कि बुद्ध भी व्यवहार से सर्वज्ञ होते हैं, उन्हें दूषण क्यों देते हो ? इसका परिहार करते हुए कहा गया है कि सौगत आदि के मत में जैसे निश्चय नय की अपेक्षा व्यवहार सत्य नहीं है, वैसे ही व्यवहार से भी व्यवहार इनके यहाँ मिथ्या ही है, किन्तु जैनमत में तो व्यवहारनय यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्या है, किन्तु व्यवहार रूप में तो सत्य ही है । यदि लोक व्यवहार रूप में भी सत्य न हो तो फिर सारा लोक व्यवहार मिथ्या हो जाय ऐसा होने पर कोई भी व्यवस्था नहीं बने । इसलिए जैसा ऊपर कहा गया है वह ठीक ही है कि परद्रव्य को तो आत्मा व्यवहार से जानता देखता है, किन्तु निश्चय से अपने आप को देखता जानता है।[45]

समन्तभद्र - आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार[46] ने समन्तभद्र के साहित्य का गम्भीर आलोडन कर उनका समय विक्रम की द्वितीय शती माना है । इनके मत का समर्थन डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने अनेक युक्तियों से किया है । उन्होंने लिखा है -स्वामी समन्तभद्र का समय 120-185 ई निर्णीत होता है और यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म पूर्वतटवर्ती नागराज्य संघ के अन्तर्गत डरगपुर (वर्तमान त्रिचनापल्ली) के नागवंशी चोलनरेश कीलिकवर्मन के कनिष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी सर्ववर्मन (शेषनाग) के अनुज राजकुमार शान्तिवर्मन के रूप में सम्भवतया ई सन् 120 के लगभग हुआ था । सन् 138 ई. पदावली प्रव. शक सं. 60) में उन्होंने मुनि दीक्षा ली और 185 ई. के लगभग वे स्वर्गस्थ हुए प्रतीत होते हैं ।[47] समन्तभद्र द्वारा प्रणीत रचनायें निम्नलिखित मानी जाती हैं-

1. बृहत् स्वयम्भूस्तोत्र
2. स्तुति विद्या-जिनशतक
3. देवागम स्तोत्र-आप्तमीमांसा ।
4. युक्तयनुशासन ।
5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।
6. जीवसिद्धि ।
7. प्रमाणपदार्थ
8. तत्त्वानुशासन ।

9. प्राकृत व्याकरण । 10. कर्मप्राभृत टीका ।

11. गन्धहस्तिमहाभाष्य

स्वामी समन्तभद्र स्तुतिकार थे । बाद के कुछ ग्रन्थकारों ने इसी विशेषण के साथ उनका उल्लेख किया है । अपने इष्ट देव की स्तुति के ब्याज से उन्होंने एक ओर हेतुवाद के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की, दूसरी ओर विविध एकान्तवादों की समीक्षा करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की । उन्होंने जैन परम्परा में सम्भवतया सर्वप्रथम न्यायशब्द का प्रयोग करके एक ओर न्याय को स्थान दिया तो दूसरी ओर न्यायशास्त्र में स्याद्वाद को गुम्फित किया[48] । उनके ग्रन्थों में अन्य विषयों के साथ बौद्धों के क्षणिकात्मवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, असत्कार्यवाद, सन्तानवाद, अवक्तव्यवाद, निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद इत्यादि विषयों का निरुपण तथा समीक्षा की गयी है । समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर अकलंकदेव ने अष्टशती तथा विद्यानन्द ने अष्टसहस्त्री की रचना की । इन ग्रन्थों का अधिकांशभाग बौद्ध दर्शन के उहापोह से समन्वित है । वसुनन्दि प्रभृति टीकाकारों ने भी समन्तभद्र के ग्रन्थों के हार्द को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ।

सिद्धसेन - विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन के समय निर्धारण का प्रयत्न किया है । तदनुसार उनका समय पूज्यपाद (विक्रम की छठी शती) और अकलङ्क (वि. की 7 वी. शती) का मध्यकाल अर्थात वि. सं. 625 के आस पास माना जाता है ।[49] सिद्धसेन नाम के एक से अधिक आचार्य हुए हैं । सन्मतिसूत्र और कल्याणमन्दिर जैसे ग्रन्थों के रचियता सिद्धसेन दिगम्बर सम्प्रदाय में हुए हैं । इनके साथ दिवाकर विशेषण नहीं है । दिवाकर विशेषण श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुए सिद्धसेन के साथ पाया जाता है, जिनकी कुछ द्वात्रिंशिकायें, न्यायावतार आदि रचनायें है । इनका समय सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन से भिन्न है । प्रो सुखलाल संघवी ने दोनों को एक मानकर उनका काल विक्रम की पांचवी शताब्दी माना है ।

जैन साहित्य के क्षेत्र में दिग्नाग जैसे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की आवश्यकता ने ही प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन को उत्पन्न किया है । आचार्य सिद्धसेन का समय विभिन्न दार्शनिकों के वाद विवाद का समय था । उनकी दृष्टि में अनेकान्तवाद की स्थापना का यह श्रेष्ठ अवसर था, अत: उन्होंने सन्मति तर्क की रचना की । उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नाना वादों को सन्मति तर्क में विभिन्न नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया । अद्वैतवादों को उन्होंने द्रव्यार्थिक नय के संग्रह-नयरूप प्रभेद में समाविष्ट किया । क्षणिकवादी बौद्धों की दृष्टि को सिद्धसेन ने पर्यायनयान्तर्गत ऋजुसूत्रनयानुसारी बताया । सांख्य दृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया और काणाद दर्शन को उभयनयाश्रित सिद्ध किया ।[50] उनका तो यहाँ तक कहना है कि संसार में जितने वचन प्रकार हो सकते हैं, जितने दर्शन एवं नाना मतवाद हो सकते हैं, उतने ही नयवाद है । उन सबका समागम ही अनेकान्तवाद है ।[51] सांख्य की दृष्टि संग्रहावलम्बी है, अभेदग्रामी है । अतएव वह वस्तु को नित्य कहे, यह स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है और बौद्ध पर्यायानुगामी या भेददृष्टि होने से वस्तु को क्षणिक या अनित्य कहे, यह भी स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है, किन्तु वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन न तो केवल द्रव्य दृष्टि में पर्यवसित है और न पर्यायदृष्टि में, अतएव सांख्य या बौद्ध को परस्पर मिथ्यावादी कहने का स्वातन्त्रय नहीं ।[52]

पात्रकेसरी - स्वामी पात्रकेसरी के समय की सीमा विक्रम की नवम् शताब्दी से पूर्व निश्चित रूप से सिद्ध होती है । क्योंकि महापुराण के प्रारम्भ में जिनसेनाचार्य ने उनका उल्लेख किया है। दिङ्नाग ने त्रैरुप्य हेतु के लक्षण का खण्डन करने के लिए उन्होंने त्रिलक्षण कदर्थन नामक ग्रन्थ लिखा, अत: पात्रकेसरी दिङ्नाग (ईसा की पाँचवी शताब्दी) के पश्चात् होने चाहिए । त्रिलक्षण कदर्थन विषयक उनका श्लोक निम्नलिकित है-

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेणकिम् ।।

बौद्ध दार्शनिक शान्तिरक्षित ने "तत्त्वसंग्रह" के अनुमान परीक्षा नामक प्रकरण में पात्रकेसरी के "त्रिलक्षणकदर्थन" नामक ग्रन्थ से कारिकायें उद्धृत करके उनकी आलोचना की है। अकंलकदेव भी शान्तिरक्षित के पूर्वसमकालीन थे, अत: उन्होंने भी उस ग्रन्थ को देखा होगा, अत: न्यायशास्त्र के मुख्य अंग हेतु आदि के लक्षण का उपपादन अवश्य ही पात्रकेसरी की देन है।[53]

मल्लवादी - विजयसिंह सूरि प्रबन्ध में एक गाथा में लिखा है कि वीर सं. 884 में मल्लवादी ने बौद्धों को हराया। अर्थात विक्रम सं. 414 में यह घटना घटी। इससे यह अनुमान होता है कि विक्रम 414 में मल्लवादी विद्यमान थे। आचार्य सिंह गणि जो नयचक्र के टीकाकार हैं, अपोहवाद के समर्थक बौद्ध विद्वानों के लिए अद्यतन बौद्ध विशेषण का प्रयोग करते हैं। उससे सूचित होता है कि दिङ्नाग जैसे बौद्धविद्वान् न केवल मल्लवादी के, अपितु सिंह गणि के भी समकालीन हैं। समकालीन होते हुए भी मल्लवादी वृद्ध हैं और दिङ्नाग युवा है।[54]

मल्लवादी की सन्मतितर्क की टीका महत्वपूर्ण है। यह टीका इस समय अनुपलब्ध है। उनका प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ ग्रन्थ 'नयचक्र' है। आज तक के ग्रन्थों में यह एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। तत्कालीन सभी वादों को सामने रखते हुए उन्होंने एक वाद चक्र बनाया। उस चक्र का उत्तर उत्तरवाद पूर्व पूर्ववाद का खण्डन करके अपने अपने पक्ष को प्रबल प्रमाणित करता है। प्रत्येक पूर्ववाद अपने को सर्वश्रेष्ठ एवं निर्दोष समझता है। वह यह सोचता ही नहीं कि उत्तरवाद मेरा भी खण्डन कर सकता है। इतनें में तुरन्त उत्तरवाद आता है और पूर्ववाद को पछाड़ देता है। अन्तिम वाद पुन: प्रथम वाद से पराजित होता है। अन्त में कोई भी वाद अपराजित नहीं रह जाता। अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लेने से सभी वाद सुरक्षित रह सकते हैं। अनेकान्तवाद के अनुसार समन्वय में सभी वादों को उचित स्थान प्राप्त हो जाता है, कोई भी वाद बहिष्कृत घोषित नहीं किया जाता।[55]

सुमति - बौद्धदार्शनिक शान्तरक्षित ने अपने ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह के अन्तर्गत स्याद्वाद परीक्षा (कारिका 1262 आदि) और बहिरर्थ परीक्षा (कारिका 1940) आदि में सुमति नामक दिगम्बराचार्य के मत की आलोचना की है। सुमति ने सिद्धसेन के सन्मति तर्क पर विवृति लिखी थी, ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख वादिराज सूरि के पार्श्वनाथचरित के प्रारम्भ में है और श्रवणबेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति में उन्हें सुमतिसप्तक का रचयिता कहा है। सुमति का दूसरा नाम सन्मति भी था।[56]

भट्टाकलंक - भट्ट अकंलक प्राचीन भारत के अद्‌भूत विद्वान् तथा लोकोत्तर विवेचक ग्रन्थकार एवं जैन वाङ्मय रूपी नक्षत्र लोक के सबसे अधिक प्रकाशमान तारे हैं।[57] अकलंक ने न्याय प्रमाण शास्त्र का जैन परम्परा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषायें, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्गीकरण किया, और परार्थानुमान तथा वाद, कथा आदि परमत प्रसिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में जो जैन प्रणाली स्थिर की, संक्षेप में अब तक में जैन परम्परा में नहीं, पर अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध तर्कशास्त्र के अनेक पदार्थों को जैनदृष्टि से जैन परम्परा में जो सात्मीभाव किया तथा आगमसिद्ध अपने मन्तव्यों को जिस तरह दार्शनिकों के सामने रखने योग्य बनाया, वह सब छोटे-छोटे ग्रन्थों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय प्रमाण स्थापना युग का द्योतक है।[58]

अकंलक देव का समय ई. 720-780 सिद्ध होता है।[59] उनके ग्रन्थों में बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति , प्रज्ञाकरगुप्त, धर्माकरदत्त (अर्चट) शान्तभद्र, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि तथा शान्तरक्षित के ग्रन्थों का उल्लेख या प्रभाव[60] दृष्टिगोचर होता है। अकलंक जैन न्याय के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। उनके पश्चात् जो जैन ग्रन्थकार हुए उन्होंने अपनी न्याय विषयक रचनाओं में अकलंकदेव

का ही अनुसरण करते हुए जैन न्याय विषयक साहित्य की श्रीवृद्धि की और जो बातें अकलंदेव ने अपने प्रकरणों में सूत्र रूप में कही थीं, उनका उपपादन तथा विश्लेषण करते हुए दर्शनान्तरों के विविध मन्तव्यों की समीक्षा में बृहत्काय ग्रन्थ रचे, जिससे जैन न्याय रूपी वृक्ष पल्लवित और पुष्पित हुआ ।[61] अकलंदेव की रचनायें निम्नलिखित हैं-

1. तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य 2. अष्टशती 3. लघीयस्त्रय सविवृत्ति 4. न्यायविनिश्चय 5.सिद्धिविनिश्चय 6 प्रमाणसंग्रह

तत्त्वार्थवार्तिक - यह गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ पर उद्योतकर के न्यायावार्तिक की शैली से लिखा गया प्रथम वार्त्तिक है । पूज्यपाद की सर्वाथसिद्धि का बहुभाग इसमें मूलवार्तिक का रूप पा गया है । इसके प्रथम अध्याय में अन्य दर्शनों के साथ बौद्धों का प्रतीत्यसमुत्पाद भी है । इसमें दिङनाग के प्रत्यक्ष-लक्षण कल्पना-पोढ का खण्डन है, धर्मकीर्तिकृत अभ्रान्त पद वाले प्रत्यक्ष-लक्षण का नहीं । इसमें बौद्धों के अभिधर्मकोश प्रमाण समुच्चय तथा सन्तानान्तरसिद्धि ग्रन्थों के अवतरण विद्यमान हैं ।[62]

अष्टशती - यह समन्तभद्रकृत देवागम स्तोत्र की संक्षिप्त वृत्ति है । गहनता, संक्षिप्तता तथा अर्थगाम्भीर्य में इसकी समानता करने योग्य कोई दूसरा ग्रन्थ दार्शनिक क्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। अष्टशती में उन सब विषयों पर तो प्रकाश डाला ही गया है जो आप्तमीमांसा में उल्लिखित हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त इसमें नए विषयों का भी समावेश किया है । इसमें सर्वज्ञ को न मानने वाले मीमांसक और चार्वाक के साथ-साथ सर्वज्ञविशेष में विवाद करने वाले बौद्धों की भी आलोचना की गयी है । सर्वज्ञ साधक अनुमान का समर्थन करते हुए उन पक्षदोषों और हेतुदोषों का उद्भावन करके खण्डन किया गया है, जिन्हें दिङ्नाग आदि बौद्ध नैयायिकों ने माना है । इच्छा के बिना वचन की उत्पत्ति, बौद्धों के प्रति तर्क प्रमाण की सिद्धि, धर्मकीर्ति द्वारा अभिमत निग्रहस्थान की आलोचना, स्वलक्षण को अनिर्देश्य मानने की आलोचना, स्वलक्षण में अनभिलाप्यत्व की सिद्धि आदि नूतन विषयों पर अष्टशती में अच्छा प्रकाश डाला गया है ।[63]

लघीयस्त्रयसविवृति - यह ग्रन्थ प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचन प्रवेश इन छोटे-छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है लघीयस्त्रय सविवृति की प्रतियों में इसके प्रमाण प्रवेश और नय प्रवेश को एक ग्रन्थ के रूप में माना है तथा प्रवचन प्रवेश को जुदा । क्योंकि उसमें प्रथक् मङ्गलाचरण किया गया है और नयप्रवेश के विषयों को दुहराया है । इससे ज्ञात होता है कि अकलंकदेव ने प्रथम दिङनाग के न्यायाप्रवेश की तरह जैनन्याय में प्रवेश कराने के लिए प्रमाणनयप्रवेश बनाया था। पीछे या तो स्वयं अकलंकदेव ने या अनन्तवीर्य ने तीनों प्रकरणों की लघीयस्त्रय संज्ञा रखी है ।[64]

न्यायविनिश्चय सवृत्ति - धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक की तरह न्यायविनिश्चय की रचना गद्यपद्यमय रही है । वादिराज सूरि के इस पर न्यायविनिश्चयविवरण टीका बनाई, जिसके आधार पर न्यायविनिश्चय के पद्यभाग की पुन: स्थापना तो की गई, किन्तु गद्यभाग के संकलन का साधन न होने से वह कार्य सम्पन्न न हो सका । न्यायविनिश्चय प्रमाणवाद तथा तर्कशास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें प्रधान बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति तथा उनको अनुगामी विद्वानों द्वारा प्रतिपादित तर्क सिद्धान्तों का प्रामाणिक वर्णन और विस्तृत समीक्षा है । यह अपनी व्यापक विवेचकता तथा अद्भुत युक्तिवाद के लिए ख्यात भारतीय तर्कशास्त्र का विश्वकोष है ।[65]

सिद्धिविनिश्चय- सिद्धिविनिश्चय मूलश्लोक तथा उसकी वृत्ति दोनों अकलंककर्तृक हैं। क्योंकि इसके गद्य और पद्य दोनों अकलंकदेव के नाम से उद्धृत हैं । सिद्धिविनिश्चय में 12 प्रस्ताव हैं । इसमें प्रमाण, प्रमेय, नय और निक्षेप का विवेचन है । इसमें बौद्धों की प्रमाणमीमांसा, सन्तानवाद, निर्वाण तथा क्षणिकवाद इत्यादि विषयों की प्रकरणानुसार समीक्षा प्राप्त होती है ।

प्रमाणसंग्रह - यह अकलंकदेव की अन्तिम कृति है। इसमें प्रमाण और प्रमेय का वर्णन प्रौढ़ शैली से किया गया है।

अकलंकदेव का नाम बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति से जुड़ा हुआ है। अकलंक ने धर्मकीर्ति की शैली, भावना और विधि का पूरी तरह अनुसरण किया है। उन्होंने धर्मकीर्ति की केवल मौलिक कृतियों का ही अध्ययन नहीं किया, अपितु उन पर लिखी हुई सभी व्याख्याओं का अध्ययन किया। यह उन शब्दों से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है जो उन्होंने धर्मकीर्ति की कृतियों और व्याख्याओं से उद्धृत किए हैं।

अकलंक ने धर्मकीर्ति के सम्पूर्ण वाक्य को कभी ज्यों का त्यों तथा कभी मामूली परिवर्तनों के साथ ले लिया है। बहुत बार उन्होंने धर्मकीर्ति के ही वाक्यों को उन्हीं के खण्डन के लिए लिया है, परन्तु धर्मकीर्ति के नाम का उल्लेख नहीं किया। उनकी सामान्य शैली है- धर्मकीर्ति के विचारों को पहले प्रस्तुत करना, अनन्तर उसका खण्डन करना। इससे स्पष्ट द्योतित होता है कि अकलंक की कृतियों का उद्देश्य लगातार जैन सिद्धान्तों को बौद्ध तथा विशेष रूप से धर्मकीर्ति के प्रहारों से बचाना था। शैली में भी अकलंक ने धर्मकीर्ति का अनुसरण किया है, क्योंकि धर्मकीर्ति की भाँति अकलंक भी समझने में कठिन, सुव्यवस्थित, ठोस और संक्षिप्त शैली का प्रयोग करते हैं[66]। इस प्रकार जैन न्याय के विकास में अकलंक का योग अप्रतिम है।

हरिभद्र सूरि - आचार्य हरिभद्र बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने आगम, आचार, योग, कथा, ज्योतिष, दर्शन इत्यादि अनेक विधाओं पर साहित्य रचना की। उनकी दार्शनिक कृतियाँ निम्नलिखित हैं।[67]

1. अनेकान्तजयपताका 2. अनेकान्तवाद प्रवेश 3. अनेकान्तसिद्धि 4. आत्मसिद्धि 5 तत्त्वार्थसूत्रलघुवृति 6. द्विजवदनचपेटा 7. धर्मसंग्रहणी (प्राकृत) 8. न्यायप्रवेश टीका 9 न्यायावतारवृत्ति 10 लोकतत्त्वनिर्णय 11. शास्त्रवार्तासमुच्चय 12. षड्दर्शनसमुच्चय 13. सर्वज्ञसिद्ध 14 स्याद्वादकुचोद्यपरिहार।

हरिभद्र की यह विशेषता है उन्होंने अपने प्रतिपक्षी के प्रति जैसी हार्दिक बहुमानवृत्ति प्रदर्शित की है वैसी दार्शनिक क्षेत्र में दूसरे किसी विद्वान् ने, कम से कम उनके समय तक तो प्रदर्शित नहीं की।[68] शान्तरक्षित ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर जैन मन्तव्यों की परीक्षा की है, तो हरिभद्र ने बौद्ध मन्तव्यों की, परन्तु दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। शान्तिरक्षित मात्र खण्डनपटु हैं, किन्तु हरिभद्र तो विरोधी मत की समीक्षा करने पर भी जहाँ तक सम्भव हो, कुछ सार निकालकर उस मत के पुरस्कर्ता के प्रति सम्मानवृत्ति भी प्रदर्शित करते हैं। क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीन बौद्ध वादों की समीक्षा करने पर भी हरिभद्र इन वादों के प्रेरक दृष्टिबिन्दुओं को अपेक्षा विशेष से न्याय्य स्थान देते हैं और स्वसम्प्रदाय के पुरस्कर्ता ऋषभ, महावीर आदि का जिन विशेषणों से वे निर्देश करते हैं वैसे ही विशेषणों से उन्होंने बुद्ध का भी निर्देश किया है और कहा है कि बुद्ध जैसे महामुनि एवं अर्हत् की देशना अर्थहीन नहीं हो सकती।[69] ऐसा कहकर उन्होंने सूचित किया है कि क्षणिकत्व की एकांगी देशना आसक्ति की निवृत्ति के लिए ही हो सकती है।[70] इसी भाँति बाह्य पदार्थ में आसक्त रहने वाले आध्यात्मिक तत्व से नितान्त पराङ्मुख अधिकारियों को उद्दिष्ट करके ही बुद्ध ने विज्ञानवाद का उपदेश दिया है तथा शून्यवाद का उपदेश भी उन्होंने जिज्ञासु अधिकारी विशेष, को लक्ष्य में रखकर ही दिया है, ऐसा मानना चाहिए।[71] कई विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध आचार्यों के सामने इतर बौद्ध विद्वानों की ओर से प्रश्न उपस्थित किया गया कि तुम विज्ञान और शून्यवाद की ही बातें करते हो, परन्तु बौद्ध पिटकों में जिन स्कन्ध, धातु, आयतन आदि बाह्य पदार्थों का उपदेश है, उनका क्या प्रयोजन है ? इसके उत्तर में स्वयं विज्ञानवादियों और शून्यवादियों ने भी अपने सहबन्धु बौद्ध प्रतिपक्षियों से हरिभद्र के जैसे ही

अभिप्राय को कहा है कि बुद्ध की देशना अधिकार भेद से है ।[72] जो लौकिक स्थूल भूमिका में होते थे, उन्हें वैसे ही और उन्हीं की भाषा में बुद्ध उपदेश देते थे । हरिभद्र बौद्ध नहीं है, फिर भी बौद्ध वादों को अधिकार भेद से योग्य स्थान देकर वे यहाँ तक कहते हैं कि बुद्ध कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं वह तो एक महान मुनि हैं और ऐसा होने से बुद्ध जब असत्य का आभास कराने वाला वचन कहें, तब वे सुवैद्य की भाँति विशेष प्रयोजन के बिना तो वैसा कह ही नहीं सकते। इस प्रकार हरिभद्र की यह महानुभावता दर्शन परम्परा में एक विरल प्रदान है ।[73]

बौद्ध परम्परा की, विशेष करके महायान की, एक परिभाषा के साथ जैन परिभाषा की तुलना करके हरिभद्र ने जो सार निकाला है, वह उनकी गहरी सूझ बतलाता है । महायानी बौद्धों में बोधिसत्त्व पद प्रसिद्ध है । जो चित्त केवल अपनी मुक्ति में ही कृतार्थता न मानकर सबकी मुक्ति का आदर्श रखता है और उसी आदर्श की सिद्धि का संकल्प करता है वह चित बौधिसत्व है । हरिभद्र कहते हैं कि यही बात जैन परम्परा में सम्यग्दृष्टि पद से कही गयी है । जब कोई जीव अपने ऊपर छाये हुए तीव्र क्लेशावरण के मन्द होने पर तथा मोहग्रन्थि का भेद होने पर योगाभिमुख होता है तब वह अपने उद्धार के साथ विश्वोद्धार का भी महान् संकल्प करता है । जैन परिभाषा के अनुसार ऐसा संकल्प करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव ही बौद्ध परिभाषा के अनुसार बोधिसत्व है[74]। साथ ही परन्तु हरिभद्र ऐसा भी सूचित करते हैं कि सभी जीव या सत्व ऐसे संकल्प के अधिकारी नहीं होते, कोई इससे मन्द अथवा निम्न कक्षा के भी संकल्प कर सकते हैं और उसके अनुसार सिद्धि भी प्राप्त कर सकते हैं । हरिभद्र के कथन का मुख्य हार्द तो यह है कि संकल्प एक अक्षोभ्य प्रेरक बल है । वह जितना महान हो, मनुष्य उतना ही महान बन सकता है । परन्तु वे मानसिक विकास के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर यह भी सूचित करते हैं कि भिन्न- भिन्न साधकों का संकल्पबल अल्पाधिक भी होता है। ऐसा निरूपण करते समय उन्होंने जैन परम्परा में सुविदित तीर्थकर, गणधर और मुण्डकेवली आदि योगियों की उच्चावच्च अवस्था का स्पष्टीकरण भी किया है ।[75]

विद्यानन्द - आचार्य विद्यानन्द ई 770 से 840 के विद्वान् माने जाते हैं ।[76] उन्होंने **इतरदार्शनिकों** के साथ साथ नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर इन **बौद्ध दार्शनिकों** के ग्रन्थों का सर्वाङ्गीण अभ्यास किया था । इसके साथ ही साथ जैन दार्शनिक तथा आगमिक साहित्य भी उन्हें विपुल मात्रा में प्राप्त था ।[77] उनके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं - 1 विद्यानन्द-महोदय 2 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 3.अष्टसहस्त्री 4 युक्त्यनुशासनालङ्कार 5 आप्तपरीक्षा 6. प्रमाण परीक्षा 7. पत्रपरीक्षा 8 सत्यशासनपरीक्षा 9 श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र ।

'विद्यानन्द-महोदय' सम्प्रति अनुपलब्ध है । तत्वार्थ श्लोकवार्तिक की रचना तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्य के रूप में मीमांसा श्लोकवार्तिक के अनुकरण पर की गयी । भट्टाकलंक की अष्टशती के गूढ़ रहस्य को समझाने के लिए अष्टसहस्त्री की रचना की गयी । इसके गौरव को आचार्य विद्यानन्द ने स्वयं इन शब्दों में व्यक्त किया है -"हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है केवल इस अष्टसहस्त्रीको सुन लीजिए । इतने से ही स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त का ज्ञान हो जायगा ।[78]" युक्त्यनुशासनालङ्कार आचार्य समन्तभद्र के युक्त्यनुशान की टीका है । आप्तपरीक्षा, प्रमाण परीक्षा और सत्यशासनपरीक्षा परीक्षान्त ग्रन्थ हैं जो दिङ्नाग की आलंबन परीक्षा और त्रिकालपरीक्षा, धर्मकीर्ति की सम्बन्धपरीक्षा, धर्मोत्तर की प्रमाणपरीक्षा व लघुप्रमाणपरीक्षा तथा कल्याणरक्षित की श्रुतिपरीक्षा जैसे परीक्षान्त ग्रन्थों की याद दिलाते हैं ।[79] विद्यानन्द की परीक्षान्त नाम रखने में इनसे प्रेरणा मिली हो, इसमें आश्चर्य नहीं । पहले शास्त्रार्थों में जो पत्र दिए जाते थे, उनमें क्रियापद गूढ़ रहते थे, जिनका आशय समझना कठिन होता था । उसी के विवेचन के लिए विद्यानन्द के पत्रपरीक्षा नामक एक छोटे से प्रकरण की रचना की थी । जैन परम्परा में इस विषय की सम्भवतया यह प्रथम

और अन्तिम रचना है ।[80] श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र की रचना अतिशयक्षेत्र श्रीपुर के पार्श्वनाथ के प्रतिबिम्ब को लक्ष्य में रखकर की गयी है ।

आचार्य विद्यानन्द के ग्रन्थों में अन्य दर्शनों के साथ-साथ बौद्धदर्शन के विभिन्न अङ्गों की समीक्षा की गयी है । धर्मकीर्ति[81] तथा उनके टीकाकार प्रज्ञाकर[82] का उन पर अत्यधिक प्रभाव है। उन्होंने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक से अनेक श्लोकों को उद्धृत करके उनके सिद्धान्तों की समालोचना की है । धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकर की भी कई बार नाम लेकर समालोचना की गयी है ।[83] विद्यानन्द द्वारा की गई बौद्धदर्शन की समालोचना पर एक बृहत्काय ग्रन्थ का निर्माण हो सकता है ।

अष्टसहस्त्री की अन्तिम प्रशस्ति में बताया है कि कुमारसेन की युक्तियों के वर्द्धनार्थ ही यह रचना लिखी जा रही है ।[84] इससे ध्वनित होता है कि कुमारसेन ने आप्तमीमांसा पर कोई विवृति या विवरण लिखा होगा, जिसका स्पष्टीकरण विद्यानन्द ने किया है । निश्चयत: कुमारसेन इनके पूववर्ती हैं । कुमारसेन का समय ई सन् 783 के पूर्व माना गया है ।[85]

अनन्तवीर्य – जैन साहित्य में दो अनन्तवीर्य का नाम मिलता है । इनमें से एक अनन्तवीर्य ने अकलंक के सिद्धिविनिश्चय की टीका लिखी है । प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में इनका स्मरण किया है और प्रमेयरत्नमाला में अनन्तवीर्य ने प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है । इससे सिद्ध है कि दोनों अनन्तवीर्य भिन्न है, उत्तरकालवर्ती होने से प्रमेयरत्नमाला के रचयिता अनन्तवीर्य को लघु अनन्तवीर्य के नाम से भी कहा जाता है । अपने टिप्पण के प्रारम्भ में टिप्पणकार ने इनका लघु अनन्तवीर्य देव के नाम से ही उल्लेख किया है । इन्होंने माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्रों की संक्षिप्त किन्तु विशद व्याख्या की है, साथ ही चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्याय वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्तदर्शन के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन एवं निराकरण किया है इससे इनके गम्भीर पाण्डित्य का पता चलता है इनकी एक मात्र कृति प्रमेयरत्नमाला है ।[86] अनन्तवीर्य का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी माना जाता है ।[87]

अनन्तकीर्ति – आचार्य अनन्तकीर्ति रचित लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत् सर्वज्ञ सिद्धि नाम के दो प्रकरण लघीयस्त्रयादि संग्रह में छपे हैं । उनके अध्ययन से प्रकट होता है कि वह एक प्रख्यात दार्शनिक थे । उन्होंने इन प्रकरणों में वेदों के अपौरुषेयत्व का खण्डन करके आगम की प्रमाणतामें सर्वज्ञ प्रणीतता को ही कारण सिद्ध किया है । उन्होंने सर्वज्ञता के पूर्वपक्ष में जो श्लोक उद्धृत किए हैं, उनमें कुछ मीमांसाश्लोकवार्तिक के, कुछ प्रमाणवार्तिक के और कुछ तत्त्वसंग्रह के हैं। प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड के सर्वज्ञसाधक प्रकरणों में अनन्तकीर्ति की बृहत्सर्वज्ञसिद्धि का शब्दपरक अनुकरण किया है ।[88]

आचार्य मणिक्यनन्दि – आचार्य मणिक्यनन्दि जैनन्याय के आद्य सूत्रकार हैं । इनका समय ईसा की नौवीं शताब्दी है । इन्होंने अकलंकदेव के वचन रूपी समुद्र का मन्थन करके न्यायविद्या रूपी अमृत का उद्धार किया था ।[89] यद्यपि इनकी रचना का प्रधान आधार समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंक के ही ग्रन्थ हैं तथापि सूत्र रचना में विशेष रूप से हेतु के भेद प्रभेदों के बतलाने में उन्होंने अपने पूववर्ती बौद्धग्रन्थ न्यायबिन्दु का भी भरपूर उपयोग किया है ।[90] दोनों ग्रन्थों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

प्रभाचन्द्र – आचार्य प्रभाचन्द्र का काल 950 ई. के 1020 ई. के मध्य का माना जाता है। वे एक बहुश्रुत विद्वान थे । सभी दर्शनों के प्राय: सभी मौलिक ग्रन्थों का इन्होंने अभ्यास किया था । इतर दर्शनों के ग्रन्थों के उद्धरण के साथ उन्होंने बौद्धों के अभिधर्मकोश, न्यायबिन्दु , प्रमाणवार्तिक, माध्यमिकवृत्ति आदि ग्रन्थों के उद्धरण दिए हैं ।91 इनके द्वारा लिखित चार ग्रन्थ माने जाते हैं 1. प्रमेयकमलमार्तण्ड 2 न्यायकुमुदचन्द्र 3 तत्त्वार्थवृत्ति 4 शाकटायनन्यास ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख नामक सूत्रग्रन्थ का विस्तृत भाष्य है। अकलंकदेव के लघीयस्त्रय तथा उसकी विवृति के व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। इस ग्रन्थ में आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, अर्चट, यशोमित्र, शान्तिरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध नैयायिकों के ग्रन्थों का जहाँ खण्डन किया गया है, वहाँ परपक्ष के खण्डन में उनका सहारा भी लिया गया है।[92] तत्त्वार्थवृत्ति पूज्यपादकृत सवार्थसिद्धि नामक टीका की लघुवृति है। अन्तिम ग्रन्थ शाकटायनन्यास के प्रभाचन्द्रकृत होने में अभी सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सका है।

वादिराज - ये प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के समकालीन और अकलंकदेव के ग्रन्थों के व्याख्याता हैं। चालुक्यनरेश जयसिंह की राज्यसभा में इनका बड़ा सम्मान था। इनका काल 1010 से 1065 ई. माना जाता है।[93] इनके द्वारा निम्नलिखित ग्रन्थ प्रणीत हुए- 1. पार्श्वनाथ चरित 2. यशोधर चरित 3. एकीभावस्तोत 4. न्यायविनिश्चयविवरण 5. प्रमाण निर्णय। इनमें से अंतिम दो दार्शनिक कृतियाँ है। न्यायविनिश्चयविवरण अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय ग्रन्थ का बीस हजार श्लोक प्रमाण भाष्य है। बौद्धमत समीक्षा में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रज्ञाकर के वार्त्तिकालंकार की इतनी गहरी और विस्तृत आलोचना अन्यत्र देखने में नहीं आयी। वार्तिकालंकार का आधा भाग इसमें आलोचित है। इसके अतिरिक्त न्यायविनिश्चयविवरण में धर्मोतर शान्तिभद्र, अर्चट आदि प्रमुख बौद्ध दार्शनिकों की समीक्षा है[94]। प्रमाणनिर्णय एक लघुकाय ग्रन्थ है। इसके चार प्रकरण हैं -1 प्रमाण निर्णय 2. प्रत्यक्ष निर्णय 3 परोक्ष निर्णय 4. आगम निर्णय।

अभयदेव - अभयदेव का समय विक्रम की दसवीं सदी उत्तरार्द्ध से ग्यारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है। इन्होंने सिद्धसेन के सन्मति तर्क पर टीका लिखी। सिद्धसेन, माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र की प्रशस्तियों में अभयदेव का निर्देश प्रद्युम्नसूरि के शिष्य और वादमहार्णव नामक तर्क ग्रन्थ के रचयिता तार्किक विद्वान् के रूप में किया गया है।[95] पं सुखलाल जी और पं. बेचरदास जी ने सम्मतितर्क प्रथम भाग की गुजराती प्रस्तावना में लिखा है कि अभयदेव की सन्मति तर्क टीका में सैकड़ों दार्शनिक ग्रन्थों का दोहन किया गया। सामान्यरूप से कुमारिल का मीमांसा श्लोकवार्तिक, शान्तरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह पर कमलशील की पंजिका और दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का प्रतिबिम्ब मुख्यरूप से इस टीका में है।[96]

वादिदेवसूरि - वादिदेवसुरि (ई 1086-1130) ने अकलंक वचनाभ्योधि से उद्धृत परीक्षामुखसूत्र के आधार से प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार की रचना की, तथा उसकी स्याद्वाद रत्नाकार टीका भी स्वंय लिखी।[97] परीक्षामुखसूत्र के विषय के साथ इसमें नय परिच्छेद और वाद -परिच्छेद नए जोड़े गए हैं। शास्त्रान्तरों के नामोल्लेख पूर्वक उद्धरण इस ग्रन्थ की अपनी एक विशेषता है और उस पर से भारतीय दर्शनशास्त्र के विविध ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों की एक विस्तृत सूची निर्मित की जा सकती है।[98]

हेमचन्द्र - हेमचन्द्र (वि. सं. 1145-1228) बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य थे। व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, काव्य, चरित्र, न्याय आदि प्रत्येक विषय पर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनका सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हेमचन्द्र के सामने सुप्रसिद्ध दार्शनिक समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, सिद्धर्षि, अभयदेव इत्यादि पूर्वाचार्यों की समृद्ध न्याय परम्परा थी। उनकी प्रमाणमीमांसा इन सबके दार्शनिक आधार पर खड़ी हुई है। प्रमाण सम्बन्धी अन्य विषयों के साथ इसमें बौद्धसम्मत प्रमाण का लक्षण[99] अनुमान प्रमाण[100], प्रमाण के भेद[101], क्षणिकवाद[102], ज्ञान के कारण[103], प्रत्यक्ष का लक्षण[104], त्रैरुप्य हेतु[105], इत्यादि विषयों की समीक्षा की गयी है। पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते समय स्थान-स्थान पर प्रमाणवार्तिक[106] तथा न्यायबिन्दु[107] के उद्धरण दिए गए है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में धर्मकीर्ति[108] का प्रकरणकार के रूप में नाम भी आया है। प्रमाणमीमांसा के अतिरिक्त हेमचन्द्र के

अयोगव्यवच्छेदिका तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामक दो द्वात्रिंशिकायें भी लिखी। इनमें से अन्ययोगव्यवच्छेदिका पर मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नामक टीका लिखी है।

यशोविजय - विक्रम की अठारहवी शताब्दी के विद्वान् उपाध्याय यशोविजय का नाम नव्यन्याय की शैली में लिखने वाले जैन नैयायिकों में अग्रगण्य है। इन्होंने अनेकान्तव्यवस्था नामक ग्रन्थ नव्यन्याय की शैली में लिखकर अनेकान्तवाद की पुन: प्रतिष्ठता की। प्रमाणशास्त्र पर जैन तर्कभाषा और ज्ञानबिन्दु लिखकर जैन परम्परा का गौरव बढ़ाया। नय पर भी नयप्रदीप, नयरहस्य और नयोपदेश आदि ग्रन्थ लिखे। नयोपदेश पर इन्होंने नयामृततरंगिणी नामक स्वोपज्ञ टीका भी लिखी।

इसके अतिरिक्त अष्टसहस्त्री पर अपना विवरण लिखा। हरिभद्रकृत शास्त्रवार्ता-समुच्चय पर स्याद्वादकल्पलता नामक टीका भी लिखी। भाषारहस्य, प्रमाण रहस्य, वादरहस्य आदि अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनन्यायखण्डखाद्य और न्यायालोक लिखकर नवीन शैली में ही नैयायिकादि दार्शनिकों की मान्यताओं का खण्डन भी किया। दर्शन के अतिरिक्त इन्होंने योग, आचारशास्त्र आदि सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, गुजराती में भी इनके द्वारा साहित्य लिखा गया।[109]

फुटनोट

1 बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ. 5-7
2 बौद्धदर्शन तथा भारतीय दर्शन (प्रथम भाग) पृ 205-209
3 बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ 162-163
4 बौद्धधर्म 2500 वर्ष पृ 97
5. एन्साइक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड एथिक्स जिल्द 8 पृ 631.
6 पालि साहित्य का इतिहास पृ. 514-515
7 बौद्धधर्म के 2500 वर्ष पृ 154
8 पालि साहित्य का इतिहास पृ. 537-539
9 वही पृ 543
10 संस्कृत कवि दर्शन पृ 40-44
11. सौन्दरनन्द 16/28-29
12 सर्वार्थसिद्धि पृ. 2
13 बौद्धदर्शनमीमांसा पृ 266-267
14 चतु:शतकस् (भूमिका) पृ 21-23
15 न्यायाविन्द्र टीका (विषय प्रवेश) पृ.3
16 एक टी शेरवात्स्की : बौद्ध न्याय पृ 34
17. अभिधर्म कोश (भूमिका) पृ 7
18 वही पृ 8-9
19 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रस्तावना प्रथम भाग) पृ 84
20 हर्षचरित पृ 183
21 दिङ्नागांना पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् (मेघदूत 1/4)
22 न्यायकुमुदचन्द्र - प्रस्तावना पृ 85
23. बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ 272-273
24. तत्वार्थवार्तिक 1/1/46, पृ 12
25. सिद्धिविनिश्चयटीका (प्रस्तावना) पृ 25
26 वही पृ 27
27. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग (प्रस्तावना) पृ 85-88 सिद्धिविनिश्चयटीका (प्रस्तावना) पृ. 25-28
28. न्यायबिन्दुटीका (विषय प्रवेश) पृ 6-7
29 न्यायविनिश्चयविवरण पृ 530-531
30 न्यायबिन्दु (प्रवेश पृ 11)
31 सिद्धिविनिश्चयटीका (प्रस्तावना) पृ 121
32 कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ 121
33 मङगल भगवात्वीरों मङगल गौतमो गणी। मङगल कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मङगलम्
34 कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ 122
35. भावस्सणत्थि णासो णत्थि अभावस्स चव उप्पादो । गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वति ॥15॥ पंचास्तिकाय
36. पं दलसुख मालवणिया : आगम युग का जैन दर्शन पृ 241
37 वही पृ. 247
38. वही पृ. 251
39 समयसार 152 समयसार(153)
40.माध्यमिक कारिता 13/8, 22/11
41 कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ 212-213

42 समयसार 347-348
43 वही, 345-346
44 45 समयसार 385-394
45. वही पृ 321
46 अनेकान्त वर्ष 14, किरण पृ. 3-8
47 अनेकान्त वर्ष 14 किरण पृ 3-8 तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ 184 (भाग 2)
48 जैन न्याय, पृ 8
49 तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग-2) पृ 211
50 आगम युग का जैनदर्शन पृ 273
51 सन्मति तर्क 3/47-49
52. वही, 1/10-12
53 जैन न्याय पृ 23-24
54 आगम युग का जैनदर्शन, पृ 296-297
55 जैनदर्शन पृ 102 103
56 जैन न्याय पृ 25
57 न्यायविनिश्चयविवरण भाग 2 (मात कौड़ी मुखोपाध्याय लिखित प्राक्कथन)
58 दर्शन और चिन्तन पृ 365
59 सिद्धिविनिश्चय टीका-प्रथम भाग (प्रस्तावना) पृ 15
60 वही पृ 21-36
61 जैन न्याय पृ 35
62 वही पृ 34-35
63 आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका, (प्रस्तावना) पृ 45
64 सिद्धिविनिश्चय (प्रथम भाग) प्रस्तावना, पृ 57
65. न्यायविनिश्चयविवरण (भाग-2) प्रस्तावना : मात कौड़ी मुखोपाध्याय।
66. Aklankas criticism of Dharmkirtis Philosophy P 39
67 समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ 109
68 वही पृ. 53
69 शास्त्रवार्ता समुच्चय-466
70 वही-466
71 वही-465
72 वही 476
73 समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ. 57-59
74 योगबिन्दु 270-274
75 योगबिन्दु 275, 284, 285, 289, 290, समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ. 96-97
76. प्रमाणपरीक्षा (प्रस्तावना) पृ. 111
77 आप्तमीमांसा-तत्वदीपिका (प्रस्तावना) पृ 54
78 अष्टसहस्त्री पृ. 157
79 प्रमाण परीक्षा (प्रस्तावना पृ. 1)
80 जैन न्याय पृ 37
81 अष्टसहस्त्री पृ 81, 25
82 वही पृ. 21, 24
83 आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका (प्रस्तावना) पृ 59
84. वीर सेनाख्यममोक्षगे चारुगुणा .
85 भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ 351 (भाग-2)
86 प्रमेयरत्माला (प्रस्तावना) पृ 44
87 वही पृ 45
88 जैन न्याय पृ 38
89 प्रमेयरत्नमाला-2 पृ 3 4
90 प्रमेयरत्नमाला (प्रस्तावना) पृ 40
91 न्यायकुमुदचन्द्र प्र भाग (प्रस्तावना) पृ 123
92 न्यायकुमुचन्द्र (प्रस्तावना) पृ 11
93 तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग-3) पृ 91-92
94 वही पृ 105
95 सन्मति तर्क (प्रस्तावना पृ 72)
96 जैन न्याय पृ 42
97 सिद्धि विनिश्चय टीका (भाग-1) पृ 42
98 जैन न्याय पृ 43
99 प्रमाणमीमांसा पृ. 7
100 वही पृ 9
101 वही पृ 8, 41
102 वही पृ 13, 30
103. वही पृ 22
104 वही पृ 26
105. वही पृ 44, 45
106 वही पृ. 7, 23, 29, 52, 58
107 वही पृ 26
108 वही पृ 1
109. जैनदर्शन पृ. 115

❑❑❑

द्वितीय परिच्छेद

आर्यसत्य

आर्यसत्य - बौद्धमत में बुद्ध ही देव हैं। ये दु:खादिचार आर्यसत्यों का उपदेश देते हैं[1]। जो सभी हेयधर्मो से दूर हो गए हैं, उन्हें आर्य कहते हैं। जिसके द्वारा साधुओं को मुक्ति की प्राप्ति होती है अथवा जिसके द्वारा समस्त पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ चिन्तन होता है या जो सत्पुरुषों को हितकारक है, वह सत्य है। आर्यो के चार सत्य होते हैं, - दु:ख, समुदय, निरोध और मार्ग। बुद्ध इन्हीं चार आर्यसत्यों के आद्य उपदेष्टा हैं[2]।

दु:ख - रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच विपाक रूप उपादान स्कन्ध ही दु:ख हैं[3]। दूसरे शब्दों में संसारी-स्कन्ध ही दु:ख हैं[4]। दु:ख चार प्रकार के हैं - सहज, शारीर, मानस और आगन्तुक। क्षुधा, तृष्णा, काम, भय आदि सहज दु:ख हैं। वात, पित्त और कफ के वैषम्य से उत्पन्न शारीर दु:ख है। धिक्कार, अवज्ञा, इच्छा के विघात आदि से उत्पन्न दु:ख मानस है। शीत वायु, गर्मी, वज्रपात आदि से उत्पन्न दु:ख आगन्तुक है। इस दु:ख से विशिष्ट संसारियों के स्कन्ध दु:ख शब्द से कहे जाते हैं[5]।

स्कन्ध - सचेतन और अचेतन परमाणुओं के प्रचय को स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध पाँच ही होते हैं। इन पाँच स्कन्धों से भिन्न आत्मा नाम का छठा स्कन्ध नहीं है अर्थात् नाम रुपात्मक इन्हीं पाँच स्कन्धों में आत्मा का व्यवहार होता है। यही पाँच स्कन्ध एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा एक भव से भवान्तर को जाते हैं, अत: संसरणधर्मा होने से संसारी हैं। इन्हीं संसारी पाँच स्कन्धों को दु:खसत्य कहते हैं[6]। इन पाँच स्कन्धों के लक्षण निम्नलिखित हैं-

विज्ञान स्कन्ध - रूप रसादि विषयक निर्विकल्पक ज्ञान को विज्ञान स्कन्ध कहते हैं। वि अर्थात् विशिष्ट ज्ञान विज्ञान स्कन्ध है[7]। निर्विकल्पक ज्ञान का स्वरूप इस प्रकार बताया है -

सबसे पहले निर्विकल्पक आलोचना ज्ञान होता है। यह मूक बच्चों आदि के विज्ञान की तरह शुद्ध वस्तु से उत्पन्न होता है[8]।

आचार्य विद्यानन्द ने सत्यशासन परीक्षा में सविकल्पक, निर्विकल्पक ज्ञानों को विज्ञान स्कन्ध कहा है। जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य और संज्ञा ये पाँच कल्पनायें हैं, इन कल्पनाओं से सहित ज्ञान सविकल्पक है, इनसे रहित ज्ञान निर्विकल्पक है। (सत्यशासन परीक्षा पृ 20)

वेदना स्कन्ध - सुखरूप, दु:खरूप और असुखदु:खरूप[**] जिसे न सुख ही कह सकते हैं और न दु:खरूप ही - वेदना - अनुभव को वेदना स्कन्ध कहते हैं। पूर्वकृत कर्म के परिपाक से कर्म के फल की सुखादिरूप से वेदना होती है। एक बार जब स्वयं सुगत भिक्षा के लिए जा रहे थे तब उनके पैर में एक काँटा गड़ गया। उस समय उन्होंने कहा था कि -

"हे भिक्षुओं, आज से एकानबे वें कल्प में मैंने शक्ति - छुरी से एक पुरुष का वध किया था। उसी कर्म के विपाक से आज मेरे पैर में काँटा लगा है[9]।

संज्ञा स्कन्ध - जिन प्रत्ययों में शब्दों के प्रवृत्तिनिमितों की उद्ग्रहणा अर्थात् योजना हो जाती है, उन सविकल्पक प्रत्ययों को संज्ञा स्कन्ध कहते हैं। गौ अश्व इत्यादि संज्ञायें हैं। ये संज्ञायें वस्तु के सामान्य धर्म को निमित्त बनाकर व्यवहार में आती हैं। जैसे गौ संज्ञा गौत्वरूप सामान्यधर्म जहाँ-जहाँ होगा, वहाँ-वहाँ प्रवृत होगी। इसीलिए गौत्व आदि सामान्य गौ आदि संज्ञाओं के प्रवृतिनिमित्त कहे जाते हैं। गौ आदि संज्ञाओं का अपने प्रवृत्तिनिमित्तों के साथ उद्ग्रहणा (योजना) करने वाला सविकल्पक प्रत्यय संज्ञा स्कन्ध है अर्थात् नाम जाति आदि की योजना करके, "यह गौ है, यह अश्व है," इत्यादि व्यवहार का प्रयोजक सविकल्पक ज्ञान संज्ञा स्कन्ध कहलाता है[10]।

आचार्य विद्यानन्द ने वृक्षादि नामों को संज्ञा स्कन्ध कहा है[11]।

संस्कार स्कन्ध - पुण्य-पाप आदि धर्मों के समुदाय को संस्कार स्कन्ध कहते हैं। इसी संस्कार के प्रबोध से पहले जाने गए पदार्थ का स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि होते हैं[12]। आचार्य विद्यानन्दि ने ज्ञान, पुण्य, पाप आदि की वासना को संस्कार स्कन्ध कहा है[13]।

रूप स्कन्ध - पृथिवी आदि धातुयें तथा रूपादि विषय रूपस्कन्ध कहलाते हैं[14]। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के परस्पर असम्बद्ध और सजातीय तथा विजातीय परमाणुओं से भिन्न परमाणु रूपस्कन्ध हैं[15]।

समुदय - जिससे पंचस्कन्ध रूप दु:ख उत्पन्न होता है, वह समुदय है। यह समुदय शब्द की व्युत्पत्ति है[16]। जिससे लोक में "मैं हूँ, यह मेरा है" इत्यादि अहंकार ममकाररूप समस्त रागादिभावों का समूह उत्पन्न होता है, उसे समुदय कहते हैं। (अहंकार और ममकार रूप से होने वाला) आत्मभाव और आत्मीयभाव ही समुदय तत्त्व है। एक जगह अहंकार और ममकार होने से अन्यत्र परकीय बुद्धि उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह है कि आत्मभाव, आत्मीय भाव, प्रभाव और परकीय भावों से ही राग-द्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं[17]।

आचार्य विद्यानन्द के अनुसार दु:खजनक कर्मबन्ध के हेतुभूत अविद्या और तृष्णा समुदय शब्द के द्वारा कहे जाते हैं। वस्तु की यथार्थ जानकारी न होना अविद्या है। इष्ट और अनिष्ट इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति और परिहार की इच्छा को तृष्णा कहते हैं[18]।

निरोध - अविद्या और तृष्णा का नाश हो जाने से निरास्रव चित्तक्षण अथवा सन्तानोत्पत्ति रूप मोक्ष दु:खनिरोध[19] है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार चित्त की नि:क्लेशावस्था रूप निरोध मुक्ति[20] है।

मोक्ष की कारण - मोक्ष की कारण मार्गणा हैं। मार्गणा के आठ अङ्ग हैं -

1 सम्यक्त्व 2. संज्ञा 3 संज्ञी 4. वाक्काय 5 कायकर्म 6. अन्तर्व्यायाम 7 आजीवस्थिति और 8. समाधि।

1 सम्यक्त्व - पदार्थों का याथात्म्यदर्शन सम्यक्त्व है।

2. संज्ञा - वाचक शब्द संज्ञा है।

3. संज्ञी - वाच्य अर्थ संज्ञी है।

4, 5, वाक्याय - वचन और काय के कार्य वाक्काय हैं।

6. अन्तर्व्यायाम - वायु धारणा अन्तर्व्यायाम है।

7. आजीवस्थिति - आयुपर्यन्त प्राणधारणा करना आजीवस्थिति है।

8. समाधि - सब दु:ख है, सब क्षणिक है, सब निरात्मक है, सब शून्य है, इस प्रकार सत्यभावना का नाम समाधि है। समाधि के प्रकर्ष से अविद्या और तृष्णा का विनाश हो जाने पर

समस्त पदार्थों के अवभासक निरास्रव चित्तक्षण होते हैं। यह योगिप्रत्यक्ष है। वह योगी जब तक आयु है, तब तक उपासकों को धर्म का उपदेश देकर आयु का अवसान होने पर प्रदीपनिर्वाण कल्प आत्मनिर्वाण प्राप्त करता है, क्योंकि उसके उत्तरचित्त की उत्पत्ति का अभाव है[21]।

मार्ग - निर्वाण के इच्छुक जिसे ढूँढते हैं, जिसकी याचना करते हैं। निरोध में हेतुभूत नैरात्म्यादि भावना रूप से परिणतचित्त विशेष मार्ग कहलाता है[22]। संसार के सभी पदार्थ क्षणिक हैं, इस क्षणिक भावना को मार्गतत्त्व कहते हैं[23]।

परमनिकृष्ट अर्थात् सबसे सूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं। संसार के सभी संस्कार या पदार्थ एक क्षण तक ही रहते हैं और द्वितीय समय में वे स्वतः नष्ट हो जाते हैं, अतएव क्षणिक हैं। जगत् के सभी पदार्थ अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं। प्रश्न यह है कि वे पदार्थ अपने कारणों से विनश्वर स्वभाव लेकर उत्पन्न होते हैं या अविनश्वर स्वभाव लेकर ? यदि पदार्थ अविनश्वर-नित्य स्वभाव वाले हैं तो नित्य पदार्थ क्रम और युगपत् दोनों ही प्रकार से अर्थक्रिया करने में असमर्थ होने के कारण असत् ही सिद्ध होता है, क्योंकि जो अर्थक्रिया करता है, वही परमार्थ रूप से सत् है। अर्थक्रिया और पदार्थ की सत्ता में व्याप्य-व्यापक भाव है। अर्थ-क्रिया व्यापक है। और पदार्थ की सत्ता व्याप्य है। अर्थक्रिया क्रम से होती है या युगपत्। जब नित्य-पदार्थ में क्रम और युगपत् दोनों प्रकार से अर्थक्रिया नहीं बनती अर्थात् सत्त्व की व्यापक अर्थक्रिया का अभाव है तो व्याप्यभूत सत्ता का अभाव होने से अविनश्वर स्वभाव वाली वस्तु का भी अभाव हो जाता है[24]।

"क्षणिका : सर्वसंस्कारा: इति" यहाँ इति शब्द प्रकारवाची है। अत: आत्मा नाम का स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है, किन्तु पूर्वापर ज्ञान-प्रवाह रूप सन्तानें ही हैं, इत्यादि प्रकारों का संग्रह हो जाता है। इसलिए यह फलितार्थ हुआ कि "सभी पदार्थ क्षणिक है, आत्मा नहीं है, इत्यादि प्रकार की जो वासना है, उसे बौद्धमत के अनुसार 'मार्ग' नाम का आर्यसत्य कहते हैं। पूर्वज्ञान से उत्पन्न होने वाले उत्तरज्ञान में पूर्वज्ञान से क्षण परम्परा से जो शक्ति प्राप्त होती है, उसे वासना या मानसी प्रतीति कहते हैं। तात्पर्य यह कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, आत्मा नहीं है, इत्यादि क्षणिक नैरात्म्यादि आकार वाला चित्तविशेषा ही मार्ग है। यह मार्ग सत्य निरोध का कारण होता है[25]।

आष्टाङ्गिक मार्ग - मध्यम मार्ग के आठ अङ्ग इस प्रकार हैं - 1. सम्यक्दृष्टि 2 सम्यक् संकल्प 3 सम्यक् वचन 4 सम्यक् कर्मान्त 5. सम्यक् आजीव 6. सम्यक् व्यायाम 7. सम्यक् स्मृति और 8 सम्यक् समाधि।

उक्त आठों अङ्गों में सम्यक् विशेषण दिया है। दोनों अन्तों के मध्य में रहने का नाम सम्यक् है।

1. **सम्यक्दृष्टि** - यहां दृष्टि का अर्थ ज्ञान है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म दो प्रकार के होते हैं - 1. कुशल और अकुशल इन दोनों को ठीक-ठीक जानना सम्यग्दृष्टि है। आर्यसत्यों को भली भाँति जानना भी सम्यग्दृष्टि है। प्राणातिपात (हिंसा), अदत्तादान (चोरी) और मिथ्याचार (व्यभिचार) ये तीन कायिक अकुशल कर्म हैं। इनके विपरीत अहिंसा, अचौर्य और अव्यभिचार ये तीन कायिक कुशल कर्म हैं। मृषावचन (झूठ), पिशुनवचन (चुगली), पुरुषवचन (कटुवचन) और संप्रलाप (बकवाद) ये चार वाचिक अकुशल कर्म हैं। इनके विपरीत वाचिक कुशल कर्म हैं। अभिध्या (लोभ), व्यापाद (प्रतिहिंसा) और मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा) ये तीन मानसिक अकुशल कर्म हैं। इनसे विपरीत तीन मानसिक कुशल कर्म हैं। लोभ, दोष तथामोह ये तीन अकुशल कर्म के मूल हैं। इन सबका ज्ञान आवश्यक है।

2. **सम्यक् संकल्प** - संकल्प का अर्थ निश्चय है। निष्कामता का, अद्रोह का तथा अहिंसा का निश्चय करना सम्यक् संकल्प है। प्रत्येक पुरुष को यह दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि वह विषयों की कामना नहीं करेगा, किसी से द्रोह न करेगा तथा किसी भी प्राणी की हिंसा न करेगा।

3. **सम्यक् वचन** - अच्छे वचन बोलना सम्यक् वचन है।

4. **सम्यक् कर्मान्त** - अच्छे कर्मों का करना सम्यक् कर्मान्त हैं। हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि पाप कर्मों का त्याग करके निम्न पाँच कर्मों (पञ्चशील) का पालन करना प्रत्येक के लिए आवश्यक है। पञ्चशील ये हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और सुरा आदि मादक द्रव्यों का त्याग। ये पञ्चशील सर्वसाधारण के लिए हैं। इसके अतिरिक्त भिक्षुओं के लिए निम्न पञ्चशील और भी हैं। अपराह्न भोजन का त्याग, माला धारण का त्याग, सङ्गीत का त्याग, सुवर्ण का त्याग और अमूल्य शय्या का त्याग, इस प्रकार कुल दश शील होते हैं। इन्हीं का नाम सम्यक् कर्मान्त है।

5. **सम्यक् आजीव** - अच्छी आजीविका द्वारा शरीर का पोषण करना सम्यक् आजीव है।

6. **सम्यक् व्यायाम** - यहाँ व्यायाम का अर्थ प्रयत्न का उद्योग है। शुभ कर्मों के करने का प्रयत्न, इन्द्रियदमन का प्रयत्न, बुरी भावनाओं के रोकने का प्रयत्न, अच्छी भावनाओं के उत्पन्न करने का प्रयत्न इत्यादि सम्यक् व्यायाम है।

7. **सम्यक् स्मृति** - काय, वेदना, चित्त तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानना तथा उसकी स्मृति बनाए रखना सम्यक् स्मृति है। सम्यक् समाधि के लिए सम्यक् स्मृति अत्यावश्यक है।

8. **सम्यक् समाधि** - राग, द्वेष आदि का अभाव हो जाने पर चित्त की एकाग्रता का नाम सम्यक् समाधि है। समाधि के द्वारा चित्तशुद्धि होती है और शील (स्वत्त्विक कार्य) से शरीर शुद्धि होती है। ज्ञान की उत्पत्ति के लिए काय शुद्धि और चित्त शुद्धि आवश्यक है। यह आष्टाङ्गिक मार्ग है।

इस मार्ग पर चलने से प्रत्येक व्यक्ति अपने दु:खों का नाश कर निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसलिए यह अन्य समस्त मार्गों में श्रेष्ठ माना गया है[25 अ]।

मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय

मोक्ष का स्वरूप - मोक्ष के स्वरूप के विषय में सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्पाद ने "प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्"[26] कहकर बौद्ध दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। इसका तात्पर्य यह है कि बौद्धों के अनुसार जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार आत्मा की सन्तान का विच्छेद होना ही मोक्ष है[27]। महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में कहा है[28] - "जिस प्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ दीप न पृथ्वी पर रहता है, न आकाश में जाता है, न किसी दिशा या विदिशा में, किन्तु तेल समाप्त हो जाने पर केवल शान्ति को प्राप्त होता है। उसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ धन्य पुरुष न पृथ्वी पर रहता है, न आकाश में जाता है और न किसी दिशा या विदिशा में ही, किन्तु क्लेशों (पापों, दोषों) का नाश होने पर केवल शान्ति को प्राप्त होता है। अश्वघोष के इसी अभिप्राय को अकलङ्कदेव ने भी तत्वार्थवार्तिक में व्यक्त किया है[29]। जब सब पदार्थों में अनित्य, निरात्मक,

अशुचि और दु:खरूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है, फिर अविद्या के विनाश से क्रमश: संस्कार आदि नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है[30]।

अष्टसहस्री में निरास्रव चित सन्तान की उत्पत्ति मोक्ष है[31] । ऐसा बौद्धों की ओर से कहा गया है । अविद्या और तृष्णा के द्वारा बन्ध अवश्यंभावी है । दु:ख में विपयसिबुद्धि- अविद्या अथवा तृष्णा ही, बन्ध के कारण हैं, जिस प्राणी के ये दोनों नहीं है, वह संसार को प्राप्त नहीं होता है[32] आचार्य विद्यानन्दि ने सत्यशासन परीक्षा में बौद्धों के "प्रदीप निर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्" लक्षण को उद्धृत करके एक कारिका प्रदीपवत् निर्वाण के समर्थन में उपस्थित की है[33] । इसके पश्चात् उन्होंने महाकवि अश्वघोष द्वारा सौन्दरनन्द में व्यक्त मुक्ति सम्बन्धी उपर्युक्त मन्तव्य को भी उद्धृत किया है[34] ।

नैरात्म्य भावना से विशुद्ध ज्ञानोत्पति रूप मोक्ष होता है – कार्य-कारण भूत ज्ञानक्षण-प्रवाह से भिन्न दूसरी आत्मा असंभव है । ऐसी स्थिति में मुक्ति की अवस्था में किसकी ज्ञानादिस्वभावता का प्रसाधन किया जायेगा ? आत्मदर्शी के लिए मुक्ति दूर है । जो आत्मा को स्थिरादिरूप देखता है, उसका आत्मा में स्थैर्यादिगुणदर्शन निमित स्नेह अवश्यंभावी है । आत्मस्नेह से आत्मसुखों में तृष्णा करता हुआ वह सुखों में और सुख के साधनों में दोषों का तिरस्कार करके गुणों का आरोपण करता है । गुणदर्शी परितृप्त होता हुआ "यह मेरा है" इस प्रकार से सुख के साधनों को ग्रहण करता है । अत: जब तक आत्मदर्शन है, तब तक संसार है[35] ।

अत: मुक्ति की इच्छा रखने वाले को स्वरूप को, और पुत्र, स्त्री आदि को श्रुतमयी, चिन्तामयी भावना के द्वारा अनात्मक, अनित्य, अशुचि और दु:खरूप मानना चाहिए । इस प्रकार की भावना करने वाले का आत्मा में राग नहीं होता है, इस कारण अभ्यास विशेष से वैराग्य उत्पन्न होता है । अत: सास्रवचित-सन्तान लक्षण संसार निवृतिरूप मुक्ति ठीक है[36] ।

चतु: शतक में कहा गया है - "जो अद्वितीय शिव का द्वार है, कुदृष्टियों के लिए भयङ्कर है तथा जो समस्त बुद्धों का विषय है उसे नैरात्म्य कहते हैं[37] । तत्त्वत:नैरात्म्य है । इस प्रकार जिसकी बुद्धि हो जाती है, उसको भाव से कैसे प्रीति हो सकती है और अभाव से भय कैसे हो सकता है[38] । निरन्वयविनश्वर चित्तक्षणों में एकत्व के अध्यारोप से आत्माभिनिवेश से आत्मप्रेमानुगत "प्राणि" नाम वाला स्कन्धसन्तान सांसारिक सुख साधनों में प्रवृत्त होता हुआ सास्रवचित सन्तानों को बढ़ाता है । अत: झूँठी आसक्ति का निराकरण करने के लिए नित्य नैरात्म्य का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभाव में आत्मा के प्रति आसक्ति का निराकरण नहीं होगा । आसक्ति का निराकरण न होने से इन्द्रियादिकों में उपभोग के आश्रय रूप से गृहीत आत्मीयबुद्धि का निवारण अशक्य होने से वैराग्य असम्भव होने से मोक्ष भी नहीं होगा[39] ।

प्रश्न – नैरात्म्य की भावना का अभाव होने पर भी, कायक्लेश जिसका लक्षण है, ऐसे तप से समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष हो जायेगा ।

उत्तर – यह कहना भी ठीक नहीं है । कायक्लेश भी कर्म का फल है । नारकादि के शरीर के सन्ताप के अत्युग्र होने से वहाँ तप का योग नहीं है । कर्म की शक्ति विचित्र है, ऐसा माने बिना कर्मो का विचित्र फल देना नहीं बनता है । ऐसा कर्म, मात्र काय को सन्ताप देने से कैसे क्षय हो जायेगा ? इससे तो अति-प्रसङ्ग दोष आ जायेगा ।

प्रश्न – तप कर्मशक्तियों के सङ्कर से क्षय करने रूप स्वभाववाला है, ऐसा मानने पर तप के एक रूप से भी विचित्र शक्ति वाले कर्म का क्षय हो जायेगा ।

उत्तर – इस प्रकार थोड़े से भी क्लेश से एक उपवासादि से भी समस्त कर्मों के क्षय की प्राप्ति हो जायेगी, ऐसा माने बिना शक्ति का साङ्कर्य नहीं बनता[40]।

समीक्षा – प्रदीपनिर्वाणकल्प-आत्मनिर्वाण केवल कल्पना का विषय है - आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जैसे गधे के सींग केवल कल्पना के विषय होते हैं, स्वरूपसत् नहीं उसी प्रकार बौद्धों की प्रदीपनिर्वाणकल्प-आत्मनिर्वाण की कल्पना है। यह बात उन्हीं (बौद्धों) के कथन से सिद्ध हो जाती है[41]।

बौद्धों के यहाँ सौपाधिशेष और निरुपाधिशेष ये दो प्रकार के निर्वाण माने गए हैं। सौपाधिशेष निर्वाण में केवल अविद्या, तृष्णा आदि रूप आस्रवों का ही नाश होता है, चितसन्तति शेष रह जाती है, किन्तु निरुपाधिशेष निर्वाण में चितसन्तति भी नष्ट हो जाती है। यहाँ मोक्ष के इस दूसरे भेद को ध्यान में रखकर आलोचना की गई है[42]।

प्रदीप का निरन्वय विनाश असिद्ध है – प्रदीप का निरन्वय विनाश असिद्ध है जैसे कि मुक्त जीवों का। दीपक रूप से परिणत पुद्गलद्रव्य का भी विनाश नहीं होता। उनकी पुद्गल जाति बनी रहती है। जैसे हथकड़ी-बेड़ी आदि से मुक्त देवदत्त का स्वरूपावस्थान देखा जाता है, उसी तरह कर्मबन्ध के अभाव से आत्मा का स्वरूपावस्थान होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है[43]।

आस्रव रहित चितसन्तान का नाम मोक्ष है, यह कहना भी युक्ति और आगम से बाधित है – वास्तव में चित-ज्ञानक्षणों में अन्वय पाया जाता है। सन्तानों का सर्वथा उच्छेद भी नहीं हो सकता है निरन्वय-क्षण-क्षय को एकान्त से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि भी बाधित ही है[44]। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है - एकत्व के अभाव में निर्बाध सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदि का अभाव हो जायेगा[45]।

अविद्या और तृष्णा के द्वारा एकान्त रूप बन्ध कहना सम्यक् नहीं है - यदि बौद्ध कहें कि अविद्या और तृष्णा के द्वारा बन्ध अवश्यंभावी है तो उनका यह कहना सम्यक् नहीं है, अन्यथा योगियों के ज्ञान का ही अभाव हो जायेगा। अयोगी हम लोगों के तो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा सम्पूर्ण तत्वज्ञान रूप विद्या का होना ही असंभव है, क्योंकि विशेष रूप ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं। "अनन्ता: लोकधातव:" ऐसा स्वयं बौद्धों ने कहा है। अविद्या के नष्ट न होने पर तृष्णा भी नष्ट नहीं हो सकती है कि जिससे वह सुगत-सर्वज्ञ हो सके; अर्थात् सुगत सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

बौद्ध- अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, क्योंकि उपाय (कारण) सहित हेयोपादेय तत्त्व को जानने वाला सुगत है, ऐसा कहा है।

जैन - तब तो बहुत से अवशिष्ट मिथ्याज्ञान से बन्ध सिद्ध हो जावे, क्योंकि उस बन्ध के निमित्तक तृष्णा भी विद्यमान है। अन्यथा "मिथ्याज्ञान और तृष्णा के द्वारा बन्ध अवश्यंभावी है", यह प्रतिज्ञा विरुद्ध क्यों नहीं हो जावेगी[46]। पुन: ज्ञान के निर्हास - अल्पज्ञान के अभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है तब तो अज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिए जैसे कि दु:ख के अभाव मे सुख की प्राप्ति होती है, वैसे ही ज्ञान के अभाव से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिए। अल्प दु:ख की निवृत्ति होने से सुख की प्राप्ति होती है, पुन: बहुत से दु:खों का अभाव हो जाने पर विशेष रूप से सुख की प्राप्ति होती ही है, यह बात असिद्ध तो है नहीं कि जिससे अल्पज्ञान की हानि मे मोक्ष की प्राप्ति होने पर पूर्ण अज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति न हो सके अर्थात् थोड़े से ज्ञान की हानि से यदि मोक्ष होता है तो पूर्णतया ज्ञान के अभाव में विशेष रूप से मोक्ष की प्राप्ति हो जाना चाहिए।

इसलिए अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, यह एकान्तपक्ष श्रेयस्कर नहीं है, जैसे कि अज्ञान से निश्चित ही बन्ध होता है, यह पक्ष श्रेयस्कर नहीं है[47] ।

एकान्त पक्ष में आष्टांगिक मार्ग का होना नहीं बनता है - तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में कहा है कि एकान्ततः ध्रौव्य का यदि अभाव माना जायेगा - केवल ध्रौव्य रहित उत्पाद-व्ययात्मक ही सत् है ऐसा माना जाय तो सत् के सर्वथा अभाव का प्रसंग आता है, और तत्त्वतः एक अवस्था से दूसरी अवस्था का होना निर्हेतुक ठहराता है अर्थात् ध्रौव्य स्वभाव के बिना सत् के अभाव और असत् की उत्पत्ति का प्रसंग आता है अथवा सर्वदा सद्भाव और अभाव का ही प्रसंग आता है, क्योंकि निर्हेतुकता दोनों ही जगह समान हैं । हेतु से फल की अवस्थायें भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं ? इन दोनों पक्षों में भी दोष की सम्भावना है । अतः "सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक्वाक्, सम्यक्मार्ग, सम्यागाजीव , सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि यह वचन भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि सत् से अवस्थाओं का सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद ही मानने पर कार्य-कारण का भेद ही जब नहीं बनता है तो फिर किसी भी एकान्त पक्ष के लेने पर इन कारणों का उल्लेख निरर्थक ठहरता है[48] ।

चतुरार्य सत्य जीव और अजीव से भिन्न नहीं है - आचार्य हरिभद्र का कहना है कि बौद्धों के द्वारा माने गए दुःख, समुदय आदि चार आर्यसत्य जीव और अजीव से भिन्न नहीं है । जो इन दो राशियों में सम्मिलित नहीं है, वह खरगोश के सींग की तरह असत् है, क्योंकि जीव और अजीव इन दो राशियों से सारा जगत् व्याप्त है[49] ।

सान्वयशुद्धचितसन्ततिरूप मोक्ष का समर्थन - बौद्धों ने जो कहा था कि कार्यकारणभूत ज्ञानक्षण प्रवाह से भिन्न दूसरी आत्मा असंभव है, वह बिना विचार किए कथन किया गया है । जैनों ने कार्यकारणभूत-ज्ञानक्षणप्रवाह से भिन्न 'आत्मा' का बौद्धों द्वारा मान्य सन्तान के निषेध के अवसर पर[50] विस्तृत रूप से समर्थन किया है । जो कहा गया है कि "जो आत्मा को स्थिरादि रूप देखता है" इत्यादि, वह ठीक ही कहा गया है । किन्तु अज्ञजन दुःखानुषक्त सुख साधन को न देखते हुए आत्मस्नेह के कारण सांसारिक दुःखानुषक्त सुख साधनों में प्रवृत होता है । जिसे हित और अहित का विवेक है, वह तादात्विक सुख के साधन स्त्री आदि का परित्याग कर आत्मा के प्रति स्नेह होने के कारण आत्यन्तिक सुख के साधन मोक्षमार्ग में प्रवृत होता है । जैसे - जिसे पथ्य और अपथ्य का विवेक नहीं है ऐसा रोगी तत्कालीन सुख के साधन दही आदि को जो कि रोग को बढ़ाने के कारण हैं, ग्रहण कर लेता है, किन्तु जिसे पथ्य और अपथ्य का ज्ञान है वह उसे छोड़कर आरोग्य के साधन पेयादि में प्रवृत होता है[51] ।

सर्वथा अनित्य, अनात्मकत्वादि भावना निर्विषय है, मिथ्या रूप वाली है । अतः सर्वथा नित्यादिभावना के समान वह मुक्ति का हेतु नहीं बन सकती । एक अनुसन्धाता के बिना कालान्तरावस्थायी भावना भी नहीं बनती है । जो बेड़ी आदि से बंधा हुआ है, उसी की उसकी मुक्ति के कारण का ज्ञान, अनुष्ठान, अभिसन्धि आदि व्यापार के होने पर मुक्ति होती है, इस प्रकार एकाधिकरण्य होने पर ही बन्ध-मोक्ष व्यवस्था लोक में प्रसिद्ध है । क्षणिकेकान्त पक्ष में अन्य क्षण बंधा था, अन्य को उसकी मुक्ति के कारण का परिज्ञान हो रहा है और अन्य का अनुष्ठान, अभिसन्धि और व्यापार है, इस प्रकार वैयधिकरण्य होने से सब ठीक नहीं है[52] ।

सभी बुद्धिपूर्वक प्रवृत होते हुए "यह कुछ है, अतः यह मेरी हो जाय, इस प्रकार सूक्ष्मनिरीक्षणपूर्वक प्रवृत होते हैं । यहाँ यह बात विचारणीय है कि इस प्रकार कौन मार्गाभ्यास

में प्रवृत्ति करता हुआ ''मेरा मोक्ष हो'' इस प्रकार चेष्टा करता है- क्षण अथवा सन्तान । क्षण तो कर नहीं सकता । क्षण एकक्षणस्थायी और निर्विकल्पक होने से इतने व्यापार को करने में असमर्थ है । सन्तान भी नहीं कर सकता, क्योंकि बौद्धों ने सन्तानी से व्यतिरिक्त सन्तान मानी नहीं है । सन्तान का निषेध करने पर उसकी प्रवृत्ति का भी निषेध हो जाता है[53] ।

आत्मा को न मानने पर उस प्रकार के चित क्षणों में एकत्व का अध्यारोप नहीं बनता है। एकत्व के अध्यारोप न बनने का विस्तृत रूप से वर्णन आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में सन्तानभङ्ग सिद्धान्त में किया है[54] । संस्कारों के निरन्वयविनाशी होने पर मोक्ष के लिए प्रयास करना व्यर्थ है । आपके मत में रागादि का उपरम मोक्ष है, वह उपरम विनाश है, उस विनाश के निर्हेतुक और अयत्नसिद्ध होने से उसके लिए अनुष्ठानादि का प्रयास निष्फल ही है । तपोऽनुष्ठानादि के द्वारा पुराने रागादि चितक्षण का नाश किया जाता है अथवा भावी रागादि चितक्षण का अनुत्पाद होता है, अथवा रागादि चितक्षण की उत्पादक शक्ति का क्षय होता है या सन्तान का उच्छेद अथवा अनुत्पाद होता है या निरास्रवचित सन्तति का उत्पाद होता है ? आदि का पक्ष तो ठीक नहीं है। विनाश के निर्हेतुक होने से आपके मत में कहीं से भी उत्पत्ति का विरोध है, अतएव द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है । उत्पाद का अभाव अनुत्पाद है । वह अभाव रूप होने से कैसे कहीं से उत्पन्न होगा, क्योंकि अपसिद्धान्त का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । रागादि चितक्षण की शक्ति के क्षय के लिए किया गया प्रयास भी असङ्गत है । वह क्षय अभाव रूप है, उसका कहीं से भी आत्मलाभ करना असंभव है । इसी से ''सन्तान के उच्छेद अथवा अनुत्पाद के लिए उसका प्रयास है'' इसका भी उत्तर प्राप्त हो जाता है । क्षणोच्छेद अनुत्पाद के समान सन्तान के उच्छेद और अनुत्पाद के अभाव रूप होने से कहीं से भी उत्पत्ति नहीं बनती है । यदि आप कहें सन्तान की वास्तविकता सिद्ध होने पर उच्छेद अथवा अनुत्पाद के लिए किया गया प्रयास युक्त है तो आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सन्तान वास्तविक सिद्ध नहीं है, आपने क्षणतिरिक्त सन्तान की वास्तविकता नहीं मानी है[55] ।

निरास्रव चितसन्तति उत्पति लक्षण वाला पक्ष श्रेष्ठ है । वह चितसन्तति सान्वय है या निरन्वय ? यह स्पष्ट रूप से कहना चाहिए । इन दोनो पक्षो मे चित्त सन्तति का सान्वय पक्ष ही युक्त है । उस प्रकार की चित सन्तान में ही मोक्ष बन जाता है । जो बद्ध होता है, वही मुक्त होता है, अबद्ध नहीं । निरन्वय चित सन्तान रूप पदार्थ परमार्थसत् या संवृतिसत् ? यदि परमार्थसत् है, तो एक आत्मा का ही कथन भिन्न नाम से हो गया । यदि संवृति सत् है, तो एक के परमार्थ रूप से असत् होने से अन्य बद्ध होता है, और अन्य की मुक्ति होती है यह प्रसङ्ग आ जाता है, ऐसी स्थिति मे बद्ध की मुक्ति के लिए प्रवृत्ति नहीं होगी[56] ।

अत्यन्त नानापना होने पर भी क्षणों में दृढ़तर रूप से एकत्व का अध्यवसाय होता है और वे ''बद्ध आत्मा को छुड़ायेंगे'' इस उद्देश्य से प्रवृत्त होते हैं, यदि आप ऐसा कहें तो इस प्रकार कैसे नैरात्म्यदर्शन होगा ? आपने तो नैरात्म्यदर्शन की भावना के अभ्यास से मुक्ति मानी है । जो हेयोपादेय को जानता है, वह आत्यन्तिक सुख की साधन, उपभोग की आश्रय, आत्मा को मानता है, तादात्विक सुख के साधन को नहीं मानता है[57] । कहा भी है -

''एक शाश्वत आत्मा मेरा है, जो कि ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला है, शेष मेरे बाह्य भाव हैं, जो कि संयोगलक्षण वाले हैं[58] ।''

"संयोग जिसका मूल है, ऐसी दु:खपरम्परा को जीव ने पाया है। अत: समस्त संयोग सम्बन्ध को मन, वचन और काय से छोड़ देना चाहिए[59]।"

इस प्रकार जो विवेकी जन भावना रखते हैं वे संयोग सम्बन्धी दु:ख हेतुक पदार्थों में सुख का लेश होने पर भी दूसरी बार आत्यन्तिक सुख के साधन रत्नत्रय का दर्शन करते हुए सांयोगिक पदार्थों में आत्मीय बुद्धि नहीं रखते हैं[60]।

हिंसादि से विरति जिनका लक्षण है, ऐसे व्रत को बढ़ाने वाले कायक्लेश का कर्मफलपना होने पर भी उसका तप से कोई विरोध नहीं है। व्रत का अविरोधी कायक्लेश कर्मनिर्जरा का हेतु होने के कारण तप कहा जाता है। ऐसा कहने से नारकादि कायक्लेश को तपपना प्राप्त होने का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है। नरकादि कायक्लेश में हिंसादि आवेश की प्रधानता रहती है, अत: वह तप का विरोधी न हो, यह असंभव है। अत: मुमुक्ष के कायक्लेश की समानता नारकादि कायक्लेश के साथ करना समझदारों को उचित नहीं[61]।

विचित्र फलदान में जो समर्थ हैं ऐसे कर्मों का शक्ति-साङ्कर्य होने पर क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त्य समय में और अयोगि गुणस्थान के चरम समय में क्लेश न होने से थोड़े से ही परमशुक्लध्यानरूप तप से कर्मों का प्रकृष्ट क्षय स्वीकार किया गया है, यदि ऐसा न मानें तो जीवन्मुक्ति और परममुक्ति बन ही नहीं सकती। वह शक्ति का साङ्कर्य अत्यधिक क्लेश से साध्य है, अत: उसके लिए अनेक प्रकार के उपवासादि दुश्चर कायक्लेशादि अनुष्ठानों रूप प्रयास करना युक्त है, उसके बिना वह साङ्कर्य अप्रसिद्ध है। अत: कथंचित् अनवच्छिन्न ज्ञानसन्तान अनेक प्रकार के दुर्धर तप के अनुष्ठान से मुक्त हो जाता है, ऐसा भले बुरे का विचार करने वालों में दक्ष व्यक्तियों को जानना चाहिए[62]।

फुटनोट

1 षड्दर्शनसमुच्चय ।।4।।
2 वही पृ 38
3 वही पृ 38
4 प्रथम भाग पृ 94
5 विद्यानन्द : सत्यशासन परीक्षा पृ 20
6 षड्दर्शन समुच्चय पृ 40
7 वही पृ 40
8 मीमांसा श्लोकवार्तिक प्रत्य 12
9 सत्यशासन परीक्षा पृ. 20
10 षड्दर्शनसमुच्चय पृ 41
11. सत्यशासन परीक्षा पृ. 20
12 षड्दर्शन समुच्चय पृ. 41
13. सत्यशासन परीक्षा पृ 20
14 षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 41
15. सत्यशासन परीक्षा पृ 20
16 षड्दर्शनसमुच्चय पृ 39
17 वही पृ 42-43
18. सत्यशासन परीक्षा पृ 21
19 सत्यशासनपरीक्षा पृ 21
20 षड्दर्शनसमुच्चय पृ 50
21 सत्यशासन परीक्षा पृ 21
22 षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 39
23 वही पृ 43
24 वही. पृ 43-44
25. षड्दर्शनसमुच्चय पृ 49
25 अ. आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका व्याख्या पृ 32-34
26. पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि पृ 2
27 प्रमाणवार्त्तिकालंकार 1/45
28 सौन्दरनन्द 16/28-29

29. अकलङ्कदेव : तत्वार्थवार्तिक 10/4/17
30. तत्वार्थवार्तिक 1/1/46
31. अष्ठसहस्री (प्रथम भाग) पृ. 391
32. अष्टसहस्री पृ. 264
33. विद्यानन्दि : सत्यशासन परीक्षा पृ. 20
34. वही पृ. 21
35. प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र (भाग 2) पृ. 838 (प्रमाणवार्मि4क 1/219-21)
36. न्यायकुमुदचन्द्र (द्वितीय भाग) पृ. 839
37. चतुःशतक् पृ 151
38 वही पृ 156
39. न्या कु च पृ. 839-840, प्रणामवार्तिक 1/229
40 न्या. कु. च. द्वि भाग पृ 841
41 सर्वार्थर्मिद्धि पृ 2.
42. सर्वार्थसिद्धि पृ. 3 (प फूलचन्द्र शास्त्री कृत विशेषार्थ)
43 तत्त्वार्थवार्तिक 10/4/47
44 अष्टसहस्री (प्रथम भाग) पृ 392
45. आप्तमीमांसा 29
46. अष्टसहस्री पृ. 264
47. अष्टसहस्री पृ. 265
48. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पृ. 277-278
49 हरिभद्र : षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 211
50 न्या कु च. प्रथम भाग पृ. 6-20
51 वही द्वि. भाग पृ. 841-842 न्यायाविनिश्चय विवरण 2/339 (उद्धरण)
52. न्या कु. च. (द्वि. भाग) पृ 842
53. वही पृ. 842
54. वही प्रथम भाग पृ. 6-20
55. न्या कु. च द्वि. भाग पृ. 842-843
56 वही प्रथम भाग पृ. 844-845
57 वही पृ. 845
58. भावपाहुड गाथा - 59
59 मूलाचार 2/48-49
60 न्या कु च. द्वि. भाग पृ 846
61 वही पृ. 847
62 वही पृ 847

❑❑❑

तृतीय परिच्छेद

अनात्मवाद

अनात्मवाद का स्वरूप- अनात्मवाद का शाब्दिक अर्थ है- "आत्मा को न मानना"। बौद्धदर्शन का मन्तव्य है कि बाह्य तथा आध्यात्मिक सभी पदार्थों में नाना धर्म ही परमार्थभूत हैं। वे धर्मक्षणिक हैं तथा देशकाल में अनुगत नहीं अर्थात् कोई धर्म काल की दृष्टि से एक क्षण में ही रहता है, दूसरे क्षण में वह नहीं रहता। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म ज्यामिति के बिन्दु के समान है, देश की दृष्टि से उसमें कोई विस्तार नहीं होता। जिस प्रकार बाह्य जगत् में अवयवी या द्रव्य को बौद्धदर्शन नहीं मानता उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में भी वह आत्मा नाम के द्रव्य को स्वीकार नहीं करता। यह कहा जा सकता है कि विज्ञानों की धारा के अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई स्थिर द्रव्य नहीं, अथवा रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कन्धों से पृथक आत्मा नाम की कोई एक वस्तु नहीं[1]। सामान्यत: सभी बौद्ध दार्शनिकों के मत में आत्मा-पुद्गल, व्यक्ति तथा व्यक्तिगत आदि का भास विकल्पजन्य है, मिथ्याप्रतीति है। इससे किसी परमार्थसत् वस्तु की प्रतीति नहीं होती अपितु विभिन्न धर्मों के समुदाय अथवा धारा का ही यह नाम है।[2]

चित्त सन्तानें असत् हैं - बौद्धों का कहना है कि चैतन्य अपने पूर्वापर काल में होने वाले परिणामों की धाराप्रवाह रूप सन्तान की अपेक्षा से ही अनादि काल से अनन्तकाल तक अनुयायी है, किन्तु ध्रुव रूप से अन्वय रखने वाले एक द्रव्य की अपेक्षा से चैतन्य अनादि, अनन्तकाल तक ठहरने वाला नहीं है, क्योंकि एक क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में नष्ट होने वाले विज्ञानरूप आत्माओं का उसी स्वरूप से अन्वय चलना सत्य सिद्ध नहीं है।[3] चित्त सन्तानें असत् हैं, यह अयुक्त है, क्योंकि चित्त सन्तानों में सत्त्व सम्भव है. परमार्थसत्-कार्यकारण भावरूप से प्रवर्तमान प्रतिक्षण विनष्ट होने वाले पूर्वोत्तरचित्तक्षण सन्तान कहलाते हैं। प्रतिक्षण नष्ट होने वाले चितक्षणों के कर्मफल सम्बन्ध की आश्रय एक आत्मा न होने के कारण कृतनाश, अकृत अभ्यागम दोष नहीं लगता, क्योंकि सन्तान की अपेक्षा वह सम्बन्ध सम्भव है। एक सन्तति में प्रवहमान चित्तक्षण प्रतिक्षण क्षणिक होने पर भी उसमें कर्म-फल-सम्बन्ध मानने पर किसी प्रकार के दोष की प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है। व्यवहार के लिए विभिन्न चित्तक्षणों में जो अभेदपरामर्शरूपा संवृत्ति सन्तान है, वह अवस्तु होने के कारण भेदाभेदविकल्पों से अवक्तव्य है जो अवस्तु है, वह भेदाभेद विकल्पों से अवक्तव्य ही है, जैसे आकाशकमल। विभिन्न क्षणों में अभेदकल्पनारूप होने के कारण सन्तान अवस्तु है।

अन्योन्यविलक्षण चित्तक्षणों में एक आत्मा न मानने के कारण प्रत्यभिज्ञान आदि की उत्पति नहीं हो सकती है, यह कहना भी असमीचीन है। सादृश्य से ही प्रत्यभिज्ञानकी उत्पत्ति होती है, दीपक के समान। जैसे प्रतिक्षण विनाशी भी प्रदीपज्वाला इत्यादि में "यह वही प्रदीप है," इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान आविर्भूत होता है, उसी प्रकार यहाँ भी मानना चाहिए।[4]

नित्य एकरूप आत्मा में अर्थक्रियाकारिता नहीं बनती है - आत्मा को नित्य एक रूप मानने पर क्रम-युगपत् अर्थक्रियाकारिता न होने से असत् होने से प्रत्यभिज्ञानादि हेतु कैसे होंगे ? जहाँ क्रम और युगपत् अर्थक्रियाकारिता नहीं बनती, वह वस्तु असत् है, जैसे- वन्ध्या का पुत्र। नित्य

तथा एकरूप अभिमत आत्मा में क्रम और युगपत् अर्थक्रियाकारिता नहीं बनती है, यह बात असिद्ध नहीं है। तथाहि- क्रम से अर्थक्रियाकारिता होने से क्या जिस स्वभाव से एक कार्य को करती है, उसी स्वभाव से दूसरे कार्य को करती है या भिन्न स्वभाव से ? यदि उसी स्वभाव से कार्य करती है तो द्वितीय आदिक्षण में साध्य-कार्य की उत्पत्ति का प्रसङ्ग प्रथमक्षण में ही उपस्थित हो जायेगा, क्योंकि उसका उत्पादक पहले ही क्षण विद्यमान है। प्रयोग ''जब जिसका उत्पत्ति हेतु है तब वह उत्पत्तिमान् प्रसिद्ध है, जैसे तत्कालाभिमत कार्य।'' द्वितीयादिक्षण साध्य कार्य का प्रथम क्षण में ही उत्पादक नित्य एकरूपतया अभिमत आत्मा का स्वभाव विद्यमान है। यदि दूसरे स्वभाव से कार्य करता है तो पूर्वस्वभाव के प्रच्युत होने से आत्मा का क्षणिकत्वसिद्ध है। युगपत रूप से कार्यकारीपना मानने पर एक साथ ही समस्त कार्यो का उत्पादक स्वभाव होने के कारण प्रथम क्षण में ही समस्त कार्यों को उत्पन्न करने से एकक्षण बाद उसके द्वारा उत्पाद्य कार्य का अभाव होने से अनर्थक्रिया कारिता होने के कारण घोड़े के सींग के समान असत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।[5]

जीवशब्द बाह्य अर्थ सहित है - आचार्य समन्तभद्र का कहना है कि जीव शब्द संज्ञा शब्द होने से हेतु शब्द की तरह बाह्य अर्थ सहित है। जिस प्रकार प्रमा शब्द का बाह्य अर्थ पाया जाता है, उसी प्रकार माया आदि भ्रान्ति की संज्ञायें भी अपने भ्रान्ति रूप अर्थसहित होती हैं।[6]

बौद्ध मानते हैं कि संज्ञा केवल वक्ता के अभिप्राय को सूचित करती है। अत: संज्ञा का अर्थ वस्तुभूत पदार्थ नहीं है। बौद्धों का उक्त कथन युक्ति संगत नहीं है। यदि संज्ञा अभिप्रायमात्र का कथन करती है, वास्तविक अर्थ का नहीं तो संज्ञा के द्वारा अर्थक्रिया का नियम नहीं हो सकता है। किन्तु जल संज्ञा के द्वारा जलरूप पदार्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष को अर्थक्रिया में किसी प्रकार का विसंवाद नहीं देखा जाता है। जैसे कि इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होने पर अर्थक्रिया में विसंवाद नहीं होता है। इसलिए हेतु शब्द की तरह जीव शब्द का भी वास्तविक बाह्य अर्थ (जीन शब्द के अतिरिक्त वस्तुभत अर्थ) विद्यमान है। हेतु को मानने वाले सब लोग हेतु शब्द का वास्तविक बाह्य अर्थ मानते हैं। यदि हेतु शब्द का कोई वास्तविक अर्थ न हो और हेतु शब्द केवल वक्ता के अभिप्राय को सूचित करे तो हेतु और हेत्वाभास में कुछ भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि दोनों ही किसी बाह्य अर्थ को न कहकर केवल वक्ता के अभिप्राय को कहेंगे। किसी शब्द के विषय में कहीं व्यभिचार देखकर सर्वत्र व्यभिचार की कल्पना करना ठीक नहीं है। अन्यथा इन्द्रिय ज्ञान में भी एक स्थान में व्यभिचार होने से सर्वत्र व्यभिचार मानना होगा। शूक्तिका में रजत ज्ञान के मिथ्या होने से रजत में होने वाले रजत ज्ञान को भी मिथ्या मानना होगा।[7]

क्षणिकेकान्त में कार्य-कारणभाव असंभव - आचार्य प्रभाचन्द के अनुसार क्षणिकेकान्त में कार्यकारणभाव ही असंभव है। क्षणिकेकान्त में क्या कार्य है, और क्या कारण है ? जो न हो करके होता है वह कार्य है, ऐसा कहो तो, न होने में, और होने में, किसका कर्तृत्व है, उसी का ही है या अन्य का है ? उसी का तो हो नहीं सकता, क्योंकि जो सर्वथा असत् है वह कर्तृत्व धर्म का आधार नहीं है, जैसे वन्ध्यापुत्र। बौद्धमत में कार्य सर्वथा असत् है। 'होना' स्वरूप का स्वीकारण है, वह सर्वथा असत वन्ध्यापुत्र के समान अति दुर्घट है। अन्य का कर्तृत्व भी नहीं हो सकता हैं, इसी के कर्तृत्व का प्रसङ्ग होने से जो न हो करके होता है, वह कार्य है तो सर्वथा असत् कार्य नहीं हो सकता है, नहीं तो उक्त अनुमान में विरोध आ जायगा।[8]

आचार्य विद्यानन्द के अनुसार भी क्षणक्षय में कार्यकारण भाव नहीं बनता है, क्योंकि एक ही क्षण में नष्ट होने वाले किसी भी पदार्थ का किसी भी एक कार्य में व्यापार करना अत्यन्त

असम्भव है। अत: कूटस्थ निश्चलनित्य कारण से विपरिणाम होने के बिना जैसे अर्थक्रिया नहीं होने पाती है वैसे ही क्षणिक कारण भी किसी अर्थक्रिया को नहीं कर सकता है । बौद्धों के यहाँ क्षणिक एकान्त में पूर्वक्षणवर्ती हेतु के न रहने पर ही कार्य का उत्पाद होना माना गया है । ऐसी दशा में अन्वय कैसे बनेगा। यदि वास्तविक रूप से कार्यकारण भाव न मानकर कल्पित व्यवहार मे उन अन्वय- व्यतिरेक को माना जायगा तो बौद्धों के यहाँ वास्तविक पदार्थ क्या होगा ।[10]

न्यायकुमुदचन्द्र में बौद्धों की कार्यकारण व्यवस्था के विषय में अनेक प्रश्न उठाए गए हैं। बौद्ध कार्यमात्र के उत्पादकपने को कारण कहते हैं या नियत कार्य के उत्पादकपने को ? प्रथम पक्ष में सब सबका कारण हो जायगा, अत: कार्यार्थी कोई नियत उपादान नहीं करेगा । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं । आकाश कुसुम के समान कार्य से कारणस्वरूप का भेद करना सम्भव न होने से जो वास्तव रूप होता है, वह विद्यमान विशेषण से ही विशेषित होता है । जो सवथा असत् से विशेषित होता है, वह असत् है, जैसे- असत् घट: । इस प्रकार अभाव से विशेष्यमाण घट बौद्धमत में सर्वथा असत् कार्य मे विशेषित होता है । विकल्पाधिरुढ़ कार्य असद्रूपता का परित्याग नहीं करता है । विकल्पाधिरूढ़ मे विशेषित होने पर वास्तव-रूप कारण सिद्ध नहीं होगा । जो विकल्पाधिरूढ़ विशेषण सापेक्ष होता है, वह वास्तव नहीं होता है, जैसे बच्चे में अग्निपना । कार्य के सर्वथा असत् होने पर अलग हुए कारणों की प्रवृत्ति निरालम्बना इष्ट होगी । इस प्रकार विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के समान आकाशकमल आदि की उत्पत्ति में भी उसकी प्रवृत्ति का प्रसंङ्ग होने से कुछ भी असत् नहीं होगा । जो सर्वथा असत् होता है, वहाँ कारणों की प्रवृत्ति नहीं होती है, जैसे आकाशकुसुम आदि में, और बाद्धो के मत मे कार्य सर्वथा असत् है । यदि किसी का भी अवलम्बन न लेकर कारणों की प्रवृत्ति हो तो विवक्षित कारण की विवक्षित कार्य के समान दूसरे कार्य में भी प्रवृत्ति का प्रसंङ्ग होने से भिन्न कारण की कल्पना अनर्थक हो जायगी ।[11]

आचार्य प्रभाचन्द्र ने कार्य की उत्पत्ति के विषय में तीन प्रश्न उठायें हैं-

1- विनष्ट कारण से कार्य उत्पन्न होगा ।

2- अविनष्ट कारण से कार्य उत्पन्न होगा या

3- विनश्यत् कारण से कार्य उत्पन्न होगा ।

तीनों पक्षों में दोष का दिग्दर्शन कराकर न्यायकुमुदचन्द्र में बौद्धों की कारणकार्य- व्यवस्था का प्रबल विरोध किया गया है ।[12]

सन्तान् सत् है या असत् - जैनाचार्यो का बौद्धों से प्रश्न है कि सन्तान सत् है या असत्? यदि सत् है, तो वह अनित्य है या नित्य ? प्रथम पक्ष में सन्तानी से इसका भेद न होने पर कर्मफलव्यवस्था हेतुता कैसे होगी, जिससे कि कृतनाश और अकृत अभ्यागम रूप दोष न हों । द्वितीय पक्ष में तो केवल नाम में ही विवाद है, अर्थ में नहीं, क्योंकि आत्मा का ही सन्तान यह नामकरण है । यदि सन्तान असत् है तो वह कर्मफल सम्बन्ध की व्यवस्था की हेतु कैसे होगी । जो असत् होता है, वह किसी की व्यवस्था में हेतु नहीं होता है, जैसे खरविषाण । बौद्धों के मत में सन्तान असत् है, अत: वह कर्म-फल सम्बन्ध की व्यवस्था में हेतु नहीं हो सकती ।[13]

सन्तान की अवक्तव्यता - यदि बौद्ध कहें कि सन्तान भेदाभेद विकल्पों से अवक्तव्य है, क्योंकि अवस्तु है तो बौद्धों का यह कहना भी अयुक्त है । आचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है जो कि अवस्तु होती है, उसमें वस्तु की व्यवस्था का हेतु असम्भव है । तथाहि सन्तान कर्मफल सम्बन्धादि

व्यवस्था की हेतु नहीं होती है, क्योंकि वह अवस्तु है, जैसे-आकाशकमल । यदि सन्तान को व्यवस्था का हेतु मानों तो अवस्तुपने का विरोध हो जायगा । जो वस्तु व्यवस्था का हेतु होता है, वह अवस्तु नहीं होता है, जैसे प्रत्यक्षादि । बौद्धों के द्वारा परिकल्पित सन्तान कर्मादि वस्तु व्यवस्था का हेतु है। यदि सन्तान को वस्तु मानों तो उसका सन्तानी से भेद या अभेद होगा? अभेद होने पर वह भी सन्तानिक्षणवत् विनाशशील होगी, क्योंकि वह सन्तानी के स्वरूप के समान उससे अभिन्न है । भेद मानने पर नित्य या अनित्य मानना पड़ेगा । नित्य मानने पर वही नाममात्र का भेद होगा। अनित्य मानने पर सन्तानी से भेद होने पर सन्तान कैसे कर्मफल सम्बन्धादि व्यवस्था का कारण होगी ।इस प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान रूप पञ्चस्कन्ध की व्यवस्था नहीं बनेगी। छठे स्कन्ध का प्रसंङ्ग आ जायगा ।[14]

पुन: भेदाभेदादि विकल्पों से सन्तान का अवक्तव्यपना असत् होने के कारण से है या वक्ता की शक्ति न होने से है या अज्ञान से है ? आदि का विकल्प अयुक्त है । सन्तान का असत्व मानने पर कर्मफलादि व्यवस्था के हेतु का अभाव होगा, यह प्रतिपादित किया जा चुका है । असत्पना हो भी तथापि असद्रूप अवक्तव्य कैसे होगा असद्रुप अर्थ को सद्रूपपने से कहना शक्य नहीं है, न कि असद्रुप से भी । द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि आपने सुगत की शक्ति अचिन्त्य मानी है। तीसरा विकल्प भी नहीं बनता है, क्योंकि बुद्ध के असर्वज्ञपने का प्रसंङ्ग उपस्थित हो जायगा। सन्तान को संवृतिरूप कहना भी असंङ्गत है । संवृति के मृषारूप होने के कारण उससे दृष्ट तथा अदृष्ट प्रयोजन का प्रसाधन नहीं बनता है । दूसरी बात यह है कि संवृति कल्पना कही जाती है, वह असत् होने के कारण मुख्य में प्रवृत नहीं होती है । बौद्धों के यहाँ कहा गया है - "अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र अध्यारोप कल्पना है[15] ।"

बौद्धाभिमत अवक्तव्य के विषय में आचार्य विद्यानन्द कृत विवेचन -

पूर्व पक्ष-सन्तान और सन्तानी के तत्व एकत्व और अन्यत्व अवाच्य हैं- बौद्धों का कहना है कि समस्त धर्मों में चार कोटिरूप विकल्प के कहने का अभाव होने से सन्तान और सन्तानी के तत्व एकत्व और अन्यत्व अवाच्य है ।[16] जो-जो धर्म हैं उन-उन धर्मों में चतुष्कोटि विकल्प के कहने का अभाव है । एकत्व और अनेकत्व धर्मो में चतुष्कोटि विकल्प का कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि वे धर्म हैं । जैसे सत्त्व एकत्व आदि धर्मों में विकल्प को कहने का अभाव है। सन्तान और सन्तानी के धर्म एकत्व और अनेकत्व हैं, अर्थात सन्तान का धर्म एकत्व है और सन्तानी का धर्म अन्यत्व है । इस प्रकार के एकत्व अन्यत्व धर्मों में अवाच्यता सिद्ध है । यह बात प्रसिद्ध ही है कि सत्त्व, एकत्व आदि सभी धर्मों में सत्, असत्, उभय और अनुभय रूप चार कोटि के विकल्पों का कहना अशक्य ही है । अत: सन्तान और सन्तानी में भी भेद, अभेद, उभय, अनुभव रूप चार प्रकार का अवाच्य ही है, क्योंकि सभी वस्तु का धर्म या सत् रूप होगा या असत् रूप होगा या उभयरूप होगा या अनुभय रूप होगा अर्थात् इन चारों में से कोई एकरूप ही कहा जा सकेगा और जिस रूप को आप मानेंगे उसी में बाधा आ जायगी, अत: अवाच्य मानना ठीक है। यदि सत्त्व को मानो तो शून्यपक्ष के दोष आ जाते हैं तथा सत्वासत्व रूप उभयधर्म को तो उभयपक्ष में दिए गए दोषों का प्रसङ्ग आ जाता है । यदि अनुभय पक्ष लें तो उभयपक्ष में दिए गए दोषों का प्रसङ्ग आ जाता है। यदि अनुभव पक्ष लें तो उभयधर्म का निषेध हो जाने पर निर्विषय होने से वस्तु नि:स्वरूप हो जायेगी, पुन: उसमें किसी प्रकार का विकल्प ही नहीं बन सकेगा । वस्तु का धर्म

यदि वस्तु से अभिन्न है तब तो वस्तुमात्र का प्रसङ्ग आ जायगा। यदि वस्तु से उसके धर्म को भिन्न मानो तब तो इसका यह धर्म है, ऐसा व्यपदेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं है तथा यदि वस्तु का धर्म उस वस्तु से भिन्नाभिन्न रूप है तब तो उभयपक्ष में दिए गए सभी दोष आ जायेंगे। वस्तु का धर्म वस्तु से न भिन्न है, न अभिन्न ऐसा मानने पर तो वस्तु निरूपाख्य नि:स्वभाव हो जायगी। इसलिए चार कोटि रूप विकल्पों का घटित होना अशक्य होने से यह अनभिधेयत्व प्रसिद्ध होता हुआ सभी पदार्थों में एवं सन्तान और सन्तानी में भी एकत्व अन्यत्व के द्वारा अवाच्य को सिद्ध कर देता है, क्योंकि विशेष भेद का अभाव है।[17] अर्थात् एकत्व अन्यत्व रूपधर्म के अवाच्य होने से धर्मी भी अवाच्य हो जाता है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

उत्तर पक्ष-चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य नहीं है- बौद्धों के उपर्युक्त मन्तव्य के विषय में आचार्य समन्तभद्र का कहना है कि चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकेगा। वे जीवादि पदार्थ असवन्ति सभी धर्मों से रहित होने से विशेषण विशेष्यभाव से रहित होते हुए अवस्तु रूप ही हो जायेंगे।[18]

समन्तभद्र के उपर्युक्त सूत्रावाक्य का विवेचन करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं- वस्तु को सर्वथा अवाच्य कहने पर चतुष्कोटि विकल्प अवाच्य है, यह कहना भी युक्त नहीं है, अन्यथा कथंचित् वाच्यपने का प्रसङ्ग आ जायगा। इसलिए आप सौगतों को चतुष्टकोटि का विकल्प अवक्तव्य है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार से परप्रत्यायन अर्थात् शिष्यों को समझाना भी नहीं बन सकेगा और पुन: इस प्रकार की मान्यता में तो वाचोयुक्ति-अनेकान्त के बिना सम्पूर्ण विकल्पों से रहित वस्तु अवस्तु हो जायेगी, क्योंकि सर्वथा एकान्त विकल्पों से रहित होने से जात्यन्तर वस्तु ही अनेकान्तात्मक है। "वस्तु सर्वथा विकल्पों से रहित है" यह कथन भी अनेकान्त के आधार पर ही कहा जा सकता है, अन्यथा अनेकान्त के बिना नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि एकान्तपक्ष में कही गयी सर्वविकल्पातीत वस्तु आकाशपुष्प के समान विशेषणरहित है। सर्वथा असत् नाम की चीज अवाच्य अथवा अवस्तु इन विशेषणों को स्वीकार नहीं कर सकती है कि जिससे वह असत्-विशेषण रूप हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है और विशेष्य रहित एवं विशेषणरहित किंचित भी वस्तु प्रत्यक्षज्ञान में प्रतिभासित नहीं होती है। स्वसंवेदन भी सत्त्वविशेषण से सहित हो करके ही विशेष्य बनता है और वही प्रतिभासित होता है अर्थात् आचार्य ने कहा कि विशेषण विशेष्यरहित वस्तु ज्ञान में नहीं झलकती है। तब बौद्ध ने कहा कि स्वसंवेदन ज्ञान विशेषण विशेष्यभाव रहित ही झलकता है। इस पर आचार्य कहते है कि स्वसंवेदन ज्ञान भी अस्तित्व सहित है और यह उसका अस्तित्व ही तो उसका विशेषण है। वह विशेषण सहित होकर ही विशेष्य बन जाता है, अत: उसमें विशेषण विशेष्यभाव घटित हो जाता है।

बौद्ध- प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले विकल्पज्ञान में "स्व का संवेदन" इस प्रकार से विशेषण विशेष्यभाव प्रतिभासित होता है, किन्तु स्वरूप में (निर्विकल्पज्ञान में) वह विशेषण विशेष्य भाव प्रतिभासित नहीं होता है।

जैन - यदि ऐसी बात कहो तो "मैं विशेष्य विशेषण से रहित संवेदन हूँ" इस प्रकार से क्या वह स्वत: प्रतिभासित होता है ? यदि ऐसा आप स्वीकार कर लेंगे तो संवेदन में विशेषण विशेष्यभाव ही सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वहाँ (ज्ञान में) अविशेषण विशेष्य ही विशेषण हो जाता है, किन्तु सर्वथा भी असत् रूप विशेषण विशेष्य का प्रतिषेध ही नहीं हो सकता है।[19] सत् रूप

संज्ञी पदार्थ का ही द्रव्यान्तर आदि की अपेक्षा से निषेध किया जाता है, क्योंकि असत् रूप वस्तु विधि निषेध का स्थान नहीं है ।[20] जो समस्त धर्मों से रहित है, वह अवस्तु है और वही अवाच्य है, क्योंकि प्रक्रिया के विपर्यय से स्वरूपादि से विपरीत पररूपादि से वस्तु ही अवस्तुरूप हो जाती है ।[21]

अवक्तव्य का कथन नहीं हो सकता - यदि सभी धर्म अवक्तव्य ही हैं तो आपके यहाँ उनका कथन कैसे हो सकेगा और यदि आप कहें कि उनका कथन संकृतिरूप है तब तो परमार्थ से विपरीत होने से यह संवृति तो असत्य ही है ।[22]

आप सौगतों के यहाँ यदि समस्त धर्म अवक्तव्य ही हैं तब तो उन धर्मों का कथन या आपके धर्मदेशनारूप वचन भी कैसे होंगे अथवा परार्थानुमान लक्षण अनुमानवाक्य अपने मत के साधनवचन और परमत के दूषणवचन भी कैसे हो सकेगें ? अर्थात् कुछ भी वचन नहीं बोले जा सकेंगे, पुन: मौन का ही शरण लेना होगा। यदि पुन: संवृति रूप वचन स्वीकार करेंगे तो भी उस संवृति को तो असत्य ही स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि वह परमार्थ से विपरीत है, इस प्रकार से परमार्थ से क्या वचन होंगे ? अर्थात कुछ भी नहीं हो सकेंगे ।

पुनरपि हम आप अवक्तव्यवादी बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि यदि सभी धर्म वचन के अगोचर हैं तब वे सभी धर्म अवक्तव्य हैं, इन वचनों से भी कैसे कहे जाते हैं? इस प्रकार से तो स्ववचन विरोध का ही प्रसङ्ग आ जाता है । जैसे "सदैव में मौनव्रत वाला हूँ," इस प्रकार से दूसरों को कहते हुए पुरुष के वचन भी स्ववचन बाधित माने जाते हैं ।[23]

संवृति से अवक्तव्य मानने पर विकल्प नहीं बन सकते हैं - यदि संवृति सभी धर्म हैं, इसलिए अवक्तव्य हैं, ऐसा बौद्धों द्वारा कहा जाता है तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें विकल्प नहीं बन सकते हैं ।

संवृत्ति का अर्थ क्या है ? - "संवृत्ति से" इस प्रकार कहने से उसका अर्थ क्या है ? स्वरूप से है, या पररूप से है, या उभयरूप से है, या तत्वरूप से है या असत्य रूप से है ? इन पाँच विकल्पों के उठाने पर वह संवृति टिक नहीं सकती है । संवृति से वक्तव्य कहे जाते हैं ऐसा कहने पर यदि स्वरूप से वक्तव्य हैं, ऐसा अर्थ होता है तब तो वे धर्म अवक्तव्य कैसे रहे ? अर्थात् यदि इन धर्मों को हम स्वरूप से कहते हैं तब ये धर्म अवाच्य कैसे रहे ? क्योंकि जो स्वरूप से अभिलाप्य-वाच्य है, उनमें अवक्तव्य का विरोध है और यदि दूसरा पक्ष लें कि संवृति से अर्थात् पररूप से वे धर्म अवक्तव्य हैं तब तो वह पररूप ही उन धर्मों का स्वरूप हो जायेगा, जिसके द्वारा वे धर्म वाच्य हो जायेंगे। अत: इस कथन में तो केवल वचनों का स्खलन प्रतीत होता है। गौत्र-नाम स्खलन के समान। स्वरूप से सभी धर्म हैं, ऐसा कहना था, किन्तु उसी को "पररूप से" ऐसा कह गए।

यदि संवृति को उभयरूप मानों तो भी उभयपक्ष में दिए गए दोषों का प्रसङ्ग आ जाएगा। तथा यदि संवृति से तात्पर्य "तत्व रूप से" ऐसा कहो तो वे धर्म अवक्तव्य कैसे रहेंगे । इसलिए इस कथन में तो केवल वचनस्खलन ही प्रतीत होता है । ये धर्म तत्त्वरूप से अवक्तव्य हैं ऐसा वचन प्रस्तुत होने पर "संवृति से अवक्तव्य हैं" इस प्रकार के वचन की प्रवृत्ति होगी ।

यदि आप "संवृति से" इसका अर्थ "मृषा रूप से" ऐसा मानें तब तो उनको कैसे कहा? अर्थात् सभी धर्म हैं और वे अवक्तव्य हैं, इस प्रकार से भी कैसे कहा? क्योंकि सर्वथा असत्यवचन नहीं कहे हुए वचनों के समान ही हैं । इसलिए इन अव्यवस्थित मिथ्याविकल्पों के समूह से बस होवे "क्योंकि सर्वथा अवाच्य सभी धर्मों को "ये अवाच्य है" इस प्रकार से वचन के द्वारा भी कहना असंभव है और इसी प्रकार से परिशिष्यों को समझा भी असंभव ही है ।[24]

तत्त्व अवाच्य क्यों है - आप बौद्धों के यहाँ तत्व अवाच्य क्यों है ? क्या अशक्य होने से अवाच्य है या उसका अभाव होने से अवाच्य है अथवा ज्ञान न होने से अवाच्य है ? इनमें से आदि और अन्तरूप दो पक्ष तो बन नहीं सकते, इसलिए बहानेबाजी से क्या ? स्पष्ट कहिए कि तत्त्व का अभाव है ।[25]

सौगत - मौनव्रत लेने से, प्रयोजन का अभाव होने से, भय से अथवा लज्जा से अवाच्यत्व सिद्ध है । अत: भिन्न प्रकार असंभव कैसे है ? **जैन** - ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मौन व्रतादिकों का अशक्यत्व में अन्तर्भाव हो जाता है, एवं उनमें इन्द्रिय, तालु आदि रूप करण के व्यापार की अशक्ति ही निमित्त है अर्थात् जैनाचार्यो ने मौनव्रतादिकों का अशक्य में अन्तर्भाव किया तो बौद्ध ऐसा कहता है कि अनवबोध और अशक्ति ये दोनों एक कारणपूर्वक होने से अबोध का अशक्य में अन्तर्भाव हो जाता है । इस पर जैन कहते हैं :-

इस प्रकार से अबोध अशक्ति से भिन्न प्रकार नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि तत्त्व का अवबोध होने पर भी यदि इन्द्रियादिकों के व्यापार की शक्ति नहीं है तो भी अन्तर्जल्पसंभव है और तत्त्वज्ञान का अभाव होने पर भी इन्द्रियों के व्यापार की शक्ति का सद्भाव देखा जाता है। इसलिए अबोध को अशक्ति में अन्तर्भूत करने के लिए व्यतिरेक एवं अन्वय दोनों ही नहीं हैं । यहाँ अनवबोध और अशक्यत्व इन दोनों में ही क्रम से बुद्धि और करण की पटुता की अपेक्षा होने से भिन्न-भिन्न प्रकारता है ही । अर्थात् अनवबोध बुद्धि की अपेक्षा रखता है और अशक्ति इन्द्रियों की पटुता की अपेक्षा रखती है, अत: दोनों भिन्न हैं एवं सभी पुरुषों में बुद्धि और इन्द्रियपटुता का अभाव कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि कहीं पर किसी जीव के ज्ञान का सद्भाव है, सुगत प्रज्ञा-पारमित हैं, और उसमें क्षमा, मैत्री, ध्यान, दान, वीर्य, शील, प्रज्ञा, करूणा, उपाय और प्रमोदलक्षण दश बल भी माने गए हैं । अत: किसी में इन्द्रिय की पटुता नहीं है, किन्तु सभी के ही न हो ऐसी बात नहीं है, अत: सभी में अवबोध और शक्ति का अभाव युक्त नहीं है, इसलिए अशक्य और अज्ञानलक्षण आदि एवं अन्त के विकल्प रूप दो कथन तो असंभव ही हैं, ऐसा कथन किया गया है, अत: सामर्थ्य से अर्थात् परिशेष न्याय से यही बात सिद्ध हो गयी कि पदार्थ का अभाव होने से ही वह पदार्थ अवाच्य है, ऐसा कहना चाहिए । तत्त्व अवाच्य है, इस वचनरूप बहाने से क्या सार है ? स्पष्टरूप से कह दीजिए कि पदार्थो का सर्वथा अभाव ही है और इस प्रकार से कह देने पर आपका सुगत वंचक ठग या मायाचारी नहीं कहलायेगा, अन्यथा वह अनाप्त हो जायेगा ।[26]

तत्वों का अभाव होने से अवाच्यता मानने पर शून्यवाद की सिद्धि - पदार्थों का अभाव होने से तत्त्व अवाच्य है और नैरात्म्य भी शून्यवाद है, अत: इन दोनों में ही पदार्थ का अभाव सर्वथा समान होने से क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ भी अन्तर नहीं है ।

बौद्ध - पदार्थ में समय- संकेत करना अशक्य होने से पदार्थ का स्वरूप अवाच्य है न कि पदार्थ का अभाव होने से अवाच्य है । **जैन** - ऐसा नहीं कह सकते । कथंचित् सामान्य रूप से संकेत करना शक्य है, क्योंकि दृश्य और विकल्प्य स्वभाव होने से परमार्थ में प्रतिभास के होने पर भी संकेत होता है । निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा ग्राह्य घट पटादि विकल्प कहलाते हैं । ये दोनों परमार्थ हैं, अत: प्रतिभासभेद होने पर भी संकेत करना शक्य ही है ।[27]

दृश्य स्वभाव ही परमार्थ हो, किन्तु विकल्प्यस्वभाव परमार्थ न हो, ऐसा नहीं है । विशेष के समान सामान्य भी वस्तुरूप सिद्ध है, क्योंकि अन्यथा प्रतीति का अभाव है । एवं सामान्यविशेषात्मक रूप जात्यन्तर वस्तु ही प्रत्यक्ष आदि ज्ञान में प्रतिभासित होती है । अत: सामान्य और विशेष दोनों वस्तुभूत- परमार्थ हैं ।

इस प्रकार से दृश्यलक्षण पदार्थों में संकेत करना शक्य न होने पर भी किसी विकल्प्य सामान्य में संकेत करना अशक्य नहीं है कि जिससे संकेत करना शक्य न होने से पदार्थ का स्वरूप अवाच्य हो जावे अर्थात् नहीं हो सकता है । क्योंकि पदार्थ में कथंचित् संकेत करना शक्य है, यह बात सिद्ध है ।

बौद्ध - शब्द का विषयभूत संकेतित पदार्थ व्यवहार काल में अर्थात् 'घटमानय' इत्यादि में अन्वय से रहित है, अत: विषयी शब्द उसका वाचक नहीं हो सकता है, अन्यथा अतिप्रसङ्ग आ जाएगा । अर्थात् अतीत अर्थ भी विवक्षित शब्द के वाच्य हो जायेंगे । **जैन**- इस प्रकार से तो विषय-पदार्थ और विषयी -शब्द अथवा कोई ज्ञान इन दोनों का यह भिन्नकाल तो प्रत्यक्ष में भी समान है । जिस प्रकार से शब्द के विकल्पकाल में शब्द का विषयभूत पदार्थ नहीं है तद्वत् प्रत्यक्ष के प्रतिभासकाल में भी क्षणिक रूप विषय-पदार्थ असंभव ही है अथवा संभव मान भी लें तो क्षणिक मत का विरोध हो जावेगा अर्थात् वह पदार्थ कुछ क्षण ठहरने पर क्षणिक कैसे कहलाएगा?

एवम् वैद्य - ज्ञेय और ज्ञायक रूप कार्यकारण में समान समय का प्रसंग आ जएगा ।

सौगत - भिन्न काल होने पर भी विषयभूतपदार्थ से प्रत्यक्ष में अविपरीत प्रतिपत्ति है ।

जैन- यदि ऐसा कहो तब तो अन्यत्र- शब्द में भी वह अविपरीत प्रतिपति है ही । शब्द से अर्थ को जान करके प्रवृत्ति करता हुआ कोई मनुष्य विपरीत को नहीं जानता है । जैसे कि कोई मनुष्य प्रत्यक्ष से पदार्थ को जानकर प्रवृत्ति करता हुआ विपरीत को नहीं जानता है, किन्तु सत्य को ही जानता है, जिससे कि प्रत्यक्ष रूप निर्विकल्प दर्शन में ही सच्चा ज्ञान हो । किन्तु शब्द के विषयभूत पदार्थ में सच्चा ज्ञान न होवे, ऐसा हम नहीं मान सकते हैं । प्रत्युत् शब्द से सच्चा ज्ञान होता है, ऐसा हम मानते हैं ।

किसी विकल्पज्ञान में विपरीत ज्ञान को देखकर सभी जगह विपरीत ज्ञान की कल्पना करने पर तो किसी निर्विकल्प दर्शन में भी विपरीत ज्ञान को देखकर सर्वत्र सत्यज्ञान में भी विपरीत ज्ञान की ही कल्पना हो जावे, क्योंकि दोनों जगह कुछ भी अन्तर नहीं हैं अर्थात् सीप के टुकड़े में चाँदी को विषय करने वाला दर्शन विपरीत ज्ञान होने पर तो सत्यज्ञान में भी विपरीत कल्पना ही होनी चाहिए । पुन: इस तरह दर्शन और विकल्प शब्द में परमार्थरूपता का अभाव हो जाने पर कुछ भी (अंतस्तत्व-बहिस्तत्व) सिद्ध नहीं होता है ।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के विषयभूत स्वलक्षण रूप दृष्टि का निर्णय न होने से अदृष्ट रूप सामान्य की कल्पना से अदृष्ट का निर्णय मानते हो तब तो प्रधान, ईश्वर आदि के विकल्प भी समान ही हैं । पुन: कल्पना से रहित निर्विकल्पदर्शन एक परमार्थ को विषय करता है यह किस प्रमाण से सिद्ध होगा ? दृष्ट स्वलक्षण में निर्णयरूप निर्विकल्पज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि वह निर्णय स्वलक्षण को विषय नहीं करता है एवम् निर्विकल्प प्रत्यक्ष का जो विषय नहीं है ऐसे स्थिर स्थूल घटपटादि रूप सामान्य लक्षण अदृष्ट में प्रवृत हुआ निर्णय प्रधान आदि विकल्पों से भेद नहीं रखता है । इसलिए अवक्तव्यैकान्त वादियों के यहाँ सकल प्रमाण का अभाव होने से प्रमेय का भी अभाव सिद्ध हो जाता है, पुन: नैरात्म्यवाद ही आ जाता है ।[28]

अनात्मवाद में प्रतिसन्धान - नैयायिकों का कहना है कि बौद्धों की विज्ञानधारा में प्रतिसन्धान (एक विषय में पहले अनुभव की स्मृति सहित दूसरे अनुभव का होना) नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्येक विज्ञान अपने-अपने विषय में नियत है। जिस विज्ञान द्वारा घट का अनुभव किया गया था वह तो क्षणिक होने के कारण नष्ट हो गया, वह स्पर्श के समय विद्यमान नहीं, फिर प्रतिसन्धान कैसे हो सकता है ? देवदत्त की देखी हुई वस्तु का यज्ञदत्त को तो प्रतिसन्धान नहीं होता। अत: एक विज्ञान द्वारा अनुभूत विषय का दूसरे विज्ञान को प्रतिसन्धान न हुआ करेगा[29]। नैयायिकों की तरह जैनाचार्यों ने भी सिद्ध किया है कि सन्तानवाद मानने पर बौद्धों के यहाँ प्रत्यभिज्ञान नहीं बन सकता।[30]

अर्थक्रियाकारिता की उपपत्ति -बौद्धों का कहना है कि आत्मा को नित्य एकरूप मानने पर अर्थक्रियाकारिता नहीं बनती उनका यहकहना भी असम्यक् है, क्योंकि जैनों ने आत्मा को नित्य एकरूप नहीं माना है, उसे परिणामी नित्य माना है। उससे क्रम और युगपत् रूप में अर्थ क्रिया सम्भव है।[31]

बौद्धदर्शन में सर्वज्ञता - बौद्धधर्म के प्राचीन ग्रन्थों से ऐसा विदित नहीं होता है कि बुद्ध सर्वज्ञ थे। बुद्ध के समय में तो न तो स्वयं बुद्ध ने अपने को सर्वज्ञ कहा है और न उनके अनुयायियों ने उनके लिए सर्वज्ञ शब्द का प्रयोग किया है। व्यावहारिक होने के कारण बुद्ध का प्रधान लक्ष्य धर्म का उपदेश देना था, शुष्क तर्क के द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या करना नहीं। इसीलिए यह जगत नित्य है या अनित्य ? जीव तथा शरीर एक है या भिन्न ? इत्यादि प्रश्नों को वे अव्याकृत कहकर टाल देते थे। इससे यही सिद्ध होता है कि बुद्ध धर्मज्ञ थे, सर्वज्ञ नहीं। उन्होंने दु:ख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार किया था और उनका उपदेश दिया था। इसीलिए जब कुमारिल ने प्रत्यक्ष से धर्मज्ञता का निषेध करके धर्म के विषय में वेद का ही एकमात्र अधिकार सिद्ध किया तो धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष से ही धर्मज्ञता का साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्षसिद्ध धर्मज्ञता का समर्थन किया है। धर्म के उपदेष्टा को ज्ञानवान् होना आवश्यक है, क्योंकि अज्ञपुरुष के द्वारा धर्म का उपदेश मानने में विसंवाद की पूरी-पूरी सम्भावना रहेगी और ऐसी स्थिति में श्रोताजन उसकी बात पर कैसे विश्वास करेंगे और कैसे उसका पालन करेंगे। इसलिए उपदेष्टा में धर्म से सम्बन्धित आवश्यक बातों के ज्ञान का हमें विचार करना चाहिए, उसमें सारे कीड़े मकोड़ो की संख्या के ज्ञान का हमारे लिए क्या उपयोग है।[32]

जो उपायसहित हेय और उपादेय तत्व का ज्ञाता है, वही हमें प्रमाणरूप से इष्ट है, न कि जो सब पदार्थो का ज्ञाता है, वह प्रमाण है। बुद्ध ने हेय तत्त्व दु:ख उसका उपाय समुदय (दु:ख का कारण), उपादेय तत्वनिरोध (मोक्ष) और उसका उपाय मार्ग (अष्टांग मार्ग) इन चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार कर लिया था। इसलिए बुद्ध और बुद्ध के वचन प्रमाण हैं। मुख्य बात इष्ट तत्त्व को जानने की है। कोई व्यक्ति दूर की वस्तु को जाने या न जाने इससे कोई प्रयोजन नहीं है। दूर की वस्तु न जानने से उसकी प्रमाणता में कोई बाधा नहीं आती है। यदि दूरदर्शी को प्रमाण माना जाय तो गिद्धों की भी उपासना करना चाहिए।[33]

परवर्ती मान्यता - उपर्युक्त मन्तव्य से सिद्ध होता है कि धर्मकीर्ति ने बुद्ध को धर्मज्ञ ही माना है, सर्वज्ञ नहीं। धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त[34] ने सुगत को धर्मज्ञ के साथ ही साथ सर्वज्ञत्रिकालवर्ती यावत् पदार्थों का ज्ञाता भी सिद्ध किया है और लिखा है कि सुगत की तरह अन्य

योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं, यदि वे रागादिमुक्ति की तरह सर्वज्ञता के लिए भी यत्न करें और जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे चाहें तो थोड़े से ही प्रयास से सर्वज्ञ बन सकते हैं[35]। शान्तरक्षित[36] भी इसी तरह धर्मज्ञता साधन के साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करके इसे वे शक्ति रूप से सभी वीतरागों में मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहे तब किसी भी वस्तु को अनायास यथेच्छ जान सकता है[37]। शान्तरक्षित ने यह भी बतलाया है कि सर्वज्ञ के सद्भाव का बाधक कोई भी प्रमाण नहीं है प्रत्युत् उसके साधक प्रमाण विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में मूर्ख लोग सर्वज्ञ के विषय में क्यों विवाद करते हैं[38]।

सुगत के सर्वज्ञपने की समीक्षा - सुगत सर्वज्ञता रहित हैं - जैनाचार्यों के अनुसार सुगत सर्वज्ञतारहित है। यहाँ साधन असिद्ध नहीं है, कारण परमार्थत: सर्वज्ञता का अभावसुगतरूप धर्मी में विद्यमान है। यदि वास्तव में सुगत समस्त भूत, भविष्यत् और वर्तमान तत्त्वों का साक्षात् ज्ञाता हो तो उसके ज्ञान को समस्तत्त्व-कारणक अर्थात् समस्त तत्त्वों से जनित स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि समस्त तत्त्व यदि सुगतज्ञान के कारण न हों तो वे सुगतज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं। बौद्धों ने स्वयं कहा है कि "नाकारणं विषय:" अर्थात् जो कारण नहीं है, वह विषय नहीं होता, ऐसी स्थिति में यदि किसी प्रकार अतीत पदार्थ सुगतज्ञान में कारण हो भी जायें, यद्यपि उनमें अव्यवहित पूर्वक्षण के सिवाय अन्य सब अतीत पदार्थ कारण रूप लेने सम्भव नहीं हैं, तथापि वर्तमान पदार्थों के सुगतज्ञान की कारणता असम्भव है, क्योंकि एक काल में होने वाले पदार्थों में कार्यकारणभाव न होने से उनमें अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता है। प्रकट है कि जिस पदार्थ का अन्वय व्यतिरेक नहीं है वह किसी का कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्वय व्यतिरेक वाला ही कारण प्रतीत होता है तथा भविष्यत् पदार्थों के भी सुगतज्ञान की कारणता युक्त नहीं है, जिससे सुगतज्ञान उनको विषय करने वाला हो, क्योंकि कार्य से पूर्ववर्ती को ही कारण कहा जाता है, उत्तरवर्ती को नहीं और भविष्यत् पदार्थ कार्य के उत्तरकालीन हैं, तब वे सुगतज्ञान के कारण कैसे हो सकते हैं? तथा कारण न होने की हालत में वे सुगतज्ञान के विषय भी कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। अत: सुगत के सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध ही है। दूसरी बात यह है कि समस्त ज्ञानों को परमार्थत: स्वरूपमात्र विषयक होने से सुगतज्ञान को भी स्वरूपमात्र विषयक ही स्वीकार करना चाहिए और इस तरह उसके विश्वतत्त्वज्ञता का अभाव सिद्ध है। यदि उसे बहिरर्थविषयक (बाह्य पदार्थों को विषय करने वाला) कहा जाय तो समस्त चित्तों और चैत्तों - अर्थमात्रग्राही विज्ञानों और विशेष अवस्थाग्राही सुखादिकों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है (न्याय बिन्दु पृ 14) इस वचन का विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि बाह्य पदार्थाकार रूप से वह उत्पन्न होगा[39]।

यदि कहा जाय कि उपचार से सुगतज्ञान को बहिरर्थविषयक मानते हैं तो सुगतज्ञान परमार्थत: बहिरर्थविषयक सिद्ध नहीं होता। अत: (तत्त्वत:) यह हेतुगत विशेषण भी असिद्ध नहीं है। तथा हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि विपक्ष में वह नहीं रहता है और कपिलादिक सपक्ष में रहता है।

बौद्ध - परमार्थत: सर्वज्ञता से रहित एवं मोक्षमार्ग के प्रतिपादक दिङ्नागाचार्यादि के साथ आपका हेतु व्यभिचारी है।

जैन- नहीं, दिङ्नागाचार्यादि को भी पक्षान्तर्गत कर लिया है, क्योंकि सुगत के ग्रहण से सुगमतानुसारी सबका ग्रहण विवक्षित है।

बौद्ध- हमारा अभिप्राय यह है कि हम सुगत के ज्ञान को विश्वतत्त्वों से उत्पन्न, तदद्रकारता को प्राप्त और तदध्यवसायी होता हुआ उनका साक्षात्कारी नहीं कहते हैं।[40] क्योंकि-

"प्रत्यक्षज्ञान भिन्न समयवर्ती को कैसे ग्रहण कर सकता है, यदि यह पूछा जाय तो युक्तिज्ञ पुरुष तदाकार के अर्पण में समर्थ हेतुता को ही ग्राह्यता कहते हैं।[41]

इस पद्य द्वारा तदुत्पत्ति और ताद्रूप्य को ग्राह्यता के लक्षण रूप से व्यवहारियों के प्रति कहा है-सुगत के प्रति नहीं।

उपर्युक्त पद्य द्वारा तदध्यवसायिता को प्रत्यक्ष के लक्षण रूप से कथन करना भी सुगतज्ञान की अपेक्षा से नहीं है, व्यवहारी जनों की अपेक्षा से ही है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि सुगत प्रत्यक्ष में स्वसंवदेन प्रत्यक्ष की तरह उक्त प्रत्यक्ष लक्षण (तदुत्पत्ति, तदाकारता और तद्ध्यवसायिता) असम्भव है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपने से उत्पन्न न होता हुआ अपने आकार का अनुकरण न करता हुआ और अपने में व्यवसाय (निश्चय) को पैदा न करता हुआ भी प्रत्यक्ष कहा जाता है, क्योंकि उसमें कल्पनापोढ़पना और अभ्रान्तपना रूप प्रत्यक्ष लक्षण विद्यमान है, उसी प्रकार योगिप्रत्यक्ष भी वर्तमान, अतीत और अनागत तत्त्वों से उत्पन्न न होता हुआ, उनके आकार का अनुकरण न करता हुआ और उनके अध्यवसाय को पैदा न करता हुआ प्रत्यक्ष माना जाता है, क्योंकि कल्पनापोढ़पना और अभ्रान्तपना रूप लक्षण उसमें विद्यमान है। यदि ऐसा न हो, विश्व तत्त्वों से उत्पन्नादि रूप हो तो सुगत प्रत्यक्ष समस्तार्थविषयक और कल्पनाजालरहित कैसे सिद्ध हो सकेगा ? फलितार्थ यह कि सुगत प्रत्यक्ष में विश्वतत्त्वों को हम कारण नहीं मानते हैं, क्योंकि कारण मानने की स्थिति में सुगत प्रत्यक्ष उनसे उत्पन्न न हो सकने से समस्त पदार्थों का ज्ञाता सिद्ध नहीं होता। अतएव तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसायिता का जो प्रतिपादन है, वह हम लोगों के प्रत्यक्षज्ञान की अपेक्षा है, सुगत प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं। दूसरे सुगत प्रत्यक्ष भावना के प्रकर्ष से उत्पन्न होता है, विश्व तत्त्वों से नहीं, इसलिये भी वह समस्त पदार्थजन्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भावना के चरमप्रकर्ष से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को योगिज्ञान अथवा योगिप्रत्यक्ष कहते हैं।[42] भावना दो प्रकार की कही गयी है- एक श्रुतमयी और दूसरी चिन्तामयी। जो सुने जाने वाले परार्थानुमान वाक्यों से उत्पन्न एवं श्रुत शब्द से कहे जाने वाले श्रुतज्ञान से उत्पन्न होती है, वह श्रुतमयी भावना है। यह श्रुतमयी भावना परमप्रकर्ष को प्राप्त होती हुई स्वार्थानुमानात्मक चिन्ता द्वारा जनित चिन्तामयी भावना को आरम्भ करती है और वह चिन्तामयी भावना बढते-बढ़ते अन्तिम प्रकर्ष को प्राप्त होकर योगिप्रत्यक्ष को उत्पन्न करती है। अत: सुगत के परिमार्थत: सर्वज्ञता सिद्ध है और इसलिये उसके सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध नहीं होता।[43]

जैन- यह कथन भी विचार-सह नहीं है, क्योंकि श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनायें विकल्पात्मक हैं और इसलिए वे अवस्तु को विषय करने वाली हैं, अत: उनसे वस्तु विषयक योगिज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। दूसरे अवस्तु को विषय करने वाले किसी विकल्पज्ञान से वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। यही कारण है कि काम, शोक, भय, उन्माद, चोर और स्वप्नादियुक्त ज्ञानों से उत्पन्न हुए कामिनी, मृत, प्रियजन, शत्रुसमूह और अनियत पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान भी, जिनसे वे कामिनी आदि पदार्थ सामने खड़े हुए की तरह दिखते हैं, अपरमार्थभूत पदार्थों को विषय करने से वस्तुविषयक नहीं हैं।[44]

अतएव कहा है- "काम, शोक, भय, उन्माद, चोर और स्वप्नादि से युक्त पुरुष असत्य अर्थोंको भी सामने स्थित की तरह देखते हैं।[45]

फुटनोट

1. डॉ. श्री निवास शास्त्री : वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन पृ. 226 बोधिचार्यावतारपञ्चिका पृ.488
2. Central Conception of buddhism p. 58-59
3. तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 261 (प्रथम भाग)
4. आचार्य प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 7
5 आचार्य प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 8
6 आप्तमीमांसा-84
7. प्रो उदयचन्द्र जैन : आप्तमीमांसा तत्वपदीपिका पृ 274-275
8. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ.9
9 त श्लोवार्ति, प्रथम खण्ड पृ 585
10 वही पृ 588
11. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम) पृ 9
12 वही पृ 10-11
13. वही पृ 14
14. वही पृ 14-15
15 वही पृ 15
16 समन्तभद्र: आप्तमीमांसा-45
17 विद्यानन्द : अष्टसहस्री (बम्बई सं) पृ 192-193
18. समन्तभद्र : आप्तमीमांसा -46
19. विद्यानन्द : अष्टसहस्री (बम्बई सं.) पृ 193
20. आप्तमीमांसा-47
21. वही पृ.-48
22 वही पृ.-49
23 अष्ठसहस्री पृ. 195
24 विद्यानन्द: अष्टसहस्री पृ. 196
25. समन्तभद्र : आप्तमीमांसा-50
26. विद्यानन्द : अष्टसहस्री पृ. 196
27 वही पृ 197
28. अष्टसहस्री पृ. 197
29 डॉ श्री निवासशास्त्री :वाचस्पतिमिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन पृ. 229
30. न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 16
31. आचार्य प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 19
32 प्रमाणवार्तिक 1/31, 32
33 प्रमाणवार्तिकालं 1/33-34
34 प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. 52, वही पृ 329
35. वही पृ. 329
36. तत्व संग्रह 3309
37 वही पृ 3628-29, न्यायविनिश्चयविवरण (प्रस्तावना भाग - 2) पृ 29-30
38 वही पृ 3310, 3307 (तत्वसं.)
39 आप्तपरीक्षा पृ. 167 168
40. वही पृ 169-169
41 आप्तपरीक्षा पृ 170
42. न्यायबिन्दु पृ. 14
43 आप्तपरीक्षा पृ. 170-171
44 वही पृ 171-172
45 प्रमाणवार्तिक 3/282

❑❑❑

चतुर्थ परिच्छेद

वैभाषिक मत समीक्षा

वैभाषिक मत परिचय - वैभाषिकों को आर्यसमितीय भी कहते हैं। उनका मत इस प्रकार है - वस्तु चतु क्षणिक-चार क्षण पर्यन्त है - जन्म उसे उत्पन्न करता है, स्थिति उसका स्थापन करती है, जरा उसे जीर्ण करती है तथा विनाश उसका नाश कर देता है। आत्मा भी इसी प्रकार चतुः क्षणिक है। आत्मा का दूसरा नाम पुद्गल है। अर्थ के समान काल में रहने वाली एक सामग्री से ही उत्पन्न होने वाला निराकार ज्ञान प्रमाण है[1]।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने वैभाषिक शब्द की व्युत्पत्ति दी है, तद्नुसार विभाषा को - सद्धर्मप्रतिपादक ग्रन्थविशेष को जो पढ़ते हैं वे वैभाषिक कहलाते हैं[2]। वे प्रतीत्य समुत्पाद को स्वीकार कर विश्व के वैचित्र्य को कहते हैं। प्रतीत्य-हेतु प्रत्ययों का आश्रय लेकर एक दूसरे को हेतु बनाकर उस सामग्री का आश्रय लेकर हेतुप्रत्यय भाव के द्वारा जिसमें संघातों से प्रधान ईश्वरादि कारकों से निरपेक्ष संघात उत्पन्न होते हैं, वह प्रतीत्य समुत्पाद है। हेतु-फल (कारण-कार्य) भाव से उसके बारह अङ्ग व्यवस्थित हैं। जैसे कि अविद्या के कारण संस्कार, संस्कार के कारण विज्ञान, विज्ञान के कारण नामरूप, नामरूप के कारण षडायतन, षडायतन के कारण स्पर्श, स्पर्श के कारण वेदना, वेदना के कारण तृष्णा, तृष्णा के कारण उपादान, उपादान के कारण भव, भव के कारण जाति तथा जाति के कारण जरा तथा जरा के कारण मरण होता है[3]।

आचार्य विद्यानन्द ने उपर्युक्त 12 अङ्गों का विश्लेषण इस प्रकार किया है - क्षणिक, निरात्मक, अशुचि दुःखों में उससे विपरीत लक्षण नित्य, सात्मक, शुचि और सुखलक्षण अविद्या का उदय होने पर किसी भी ज्ञेय में उस निमित्तक संस्कार होते हैं जो कि पुण्य पाप और आनेज्य के भेद से तीन प्रकार के हैं। वे शुभ, अशुभ और अनुभव विषयक है, वे अवश्य ही होते हैं और उनके होने पर वस्तु की विज्ञप्तिलक्षण विकल्पात्मक विज्ञान उत्पन्न होता ही है। उसके होने पर विज्ञान से उत्पन्न रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार लक्षण नाम चतुष्टय होते हैं एवं पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय को रूप कहते हैं। इन नामरूप के समुदायलक्षण को नामरूप कहते हैं। उन नामरूप के सिद्ध होने पर चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, स्पर्शन, रसना और मन लक्षण छह आयतन होते हैं, जो कि आत्मा के करने योग्य क्रिया की प्रवृत्ति के हेतुक हैं। उनकी उत्पत्ति होने पर उन हेतुक छह स्पर्शकाय, विषयेन्द्रिय विज्ञानसमूह लक्षण उत्पन्न होते हैं। जैसे - "रूपं चक्षुषा पश्यामि" इत्यादि ये विषय कहलाते हैं। उन विषयों के होने पर स्पर्श अनुभवलक्षण वेदना होती है। उस वेदना के सद्भाव में विषयों की आकांक्षा रूप तृष्णा उत्पन्न होती है। उसके होने पर तृष्णा की विपुलता लक्षण उपादान उत्पन्न होता है अर्थात् उन पदार्थों को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति के होने पर पुनर्भव को उत्पन्न करने रूप कर्मलक्षण भव होता है। उसके होने पर अपूर्वस्कन्ध के प्रादुर्भावलक्षण जाति होती है, पुनः उस जाति से स्कन्ध के परिपाक और प्रध्वंसलक्षण जरा और मरण होता है4।

आचार्यों ने प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्गों का पृथक्-पृथक् लक्षण इस प्रकार किया है-

अविद्या - अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःखरूप सभी पदार्थों को नित्य, सात्मक, शुचि

और सुखरूप मानना अविद्या है[5]।

संस्कार - अविद्या से रागादिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार तीन प्रकार के हैं - 1. पुण्योपग (शुभ) 2- अपुण्योपग (अशुभ), 3- आनेज्योपग (अनुभय रूप)[6]

विज्ञान - वस्तु की जानकारी विज्ञान है। इन संस्कारों के कारण वस्तु में इष्ट अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इसीलिए संस्कार विज्ञान में प्रत्यय अर्थात् कारण माना जाता है[7]। पाँच इन्द्रिय और स्मृति के विकल्प भेद से विज्ञान छह प्रकार का है[8]।

नामरूप - विज्ञान से नाम अर्थात् चार अरूपी स्कन्ध - वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान तथा रूप अर्थात् रूपस्कन्ध-पृथिवी, जल, अग्नि और वायु उत्पन्न होता है। इस पंचस्कन्ध को नामरूप कहते हैं। विज्ञान से ही नाम और रूप को नामरूप संज्ञायें मिलती है, अत: इन्हें विज्ञानसम्भूत कहा जाता है[9]। आचार्य प्रभाचन्द्र ने रूप, वेदना, संज्ञा और संस्कार लक्षण वाले स्कन्धचतुष्टय को नामरूप कहा है। रूप स्कन्ध पाँच इन्द्रिय, पाँच इन्द्रियों के अर्थ और अविज्ञप्ति के भेद से ग्यारह प्रकार का है। प्राणियों के शरीर की उपादानभूत शुभ, अशुभ और अनुभय आचरण से उत्पन्न अविज्ञप्ति है, जो आवरण नाम वाली है, वह अयोगियों के प्रत्यक्ष ने होने से अविज्ञप्ति इस सार्थक नाम से कही जाती है। उसके अर्थ पृथिव्यादिभूत अनुग्रह और सन्ताप के रूप में होते हैं और हो आते हैं। आकाश छिद्र है, वह प्रकाश और अन्धकार के परमाणुओं से भिन्न नहीं है, अत: उसकी पृथक गणना नहीं की गई है। वे ''पृथ्वीधातु'' नाम से दूसरी संज्ञाओं को भी प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार ताम्रादि स्कन्ध उत्पत्ति की अपेक्षा ताम्रादि धातु दुसरी संज्ञाओं को प्राप्त करती हैं[10]।

षडायतन - नामरूप से ही चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ और मन ये षडायतन होते हैं, अत: षडायतन को नामरूप प्रत्यय कहा है। आगमन को जो विस्तृत करते है वे आयतन है[11]।

स्पर्श - विषय, इन्द्रिय और विज्ञान के सन्निपात को स्पर्श कहते हैं। छह आयतनद्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञानतन्तुओं को जाग्रत करना स्पर्श है[12]। आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार ''चक्षु से रूप को देखता हूँ,'' इस प्रकार विषय, इन्द्रिय और विज्ञान का समूह स्पर्श है[13]।

वेदना - स्पर्श का अनुभव वेदना है। जिस जाति का स्पर्श होता है उस जाति की वेदना होती है। अत: कहा जाता है-स्पर्श के कारण वेदना होती है[14]। सुख दु:ख और असुखदु:ख अनुभव वाली वेदना तीन प्रकार की होती है[15]।

तृष्णा - वेदना रूप अध्यवसान वाली तृष्णा है। उन वेदना विशेषों का जो अभिनन्दन करती है, आस्वादन करती है, पान करती है वह वेदना रूप कारण वाली तृष्णा है[16]। न्यायकुमुदचन्द्र में लोभ को तृष्णा कहा है[17]।

उपादान - तृष्णा की वृद्धि से उपादान होता है। यह इच्छा होती है कि मेरी यह प्रिया मेरे साथ सदा बनी रहे, मुझमें सानुराग रहे और इसीलिए तृष्णातुर व्यक्ति उपादान करता है[18]। न्यायकुमुदचन्द्र में भी तृष्णा की विपुलता को उपादान कहा है[19]।

भव - उपादान से ही पुनर्भव अर्थात् परलोक को उत्पन्न करने वाला कर्म होता है। इसे भव कहते हैं। यह कर्म, मन, वचन और काय इन तीनों से उत्पन्न होता है[20]। भव शब्द से यहाँ काम, रूप और आरुप्य नामवाली तीन धातुयें कही जाती हैं। कामधातु नरकादि स्थान वाली है। रूपधातु ध्यानरूप है। आरुप्य धातु शुद्धचित सन्तति रूप है[21]।

जाति – परलोक में नए शरीर आदि का उत्पन्न होना जाति है[22]। आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपूर्व स्कन्ध के प्रादुर्भाव को जाति कहा है[23]।

जरा – शरीर स्कन्ध का पक जाना जरा है[24]। प्रभाचन्द्र के शब्दों में – "जाति स्कन्ध का परिपाक जरा है[25]।"

मरण – शरीर स्कन्ध का विनाश मरण है[26]। प्रभाचन्द्र के शब्दों में – "जाति स्कन्ध का प्रध्वंस होना मरण है[27]।"

समीक्षा – अविद्या आदि 12 अङ्गों ही का कथन ठीक नहीं है – ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद में अविद्यादि बारह अङ्ग जो कि मुमुक्षुओं को उपयोगी प्रदर्शित किए गए हैं, क्या इतने ही उत्पन्न होते हैं ? इतने ही उत्पन्न होते हैं, यह निश्चय करना संभव नहीं है। जगत् की विचित्र अवस्थायें अनन्त रूप में व्याप्त हैं। मुमुक्षु इतने का ही उपयोग नहीं करते हैं, मिथ्या ज्ञान जिसका लक्षण है, ऐसी अविद्या के समान विपरीत श्रद्धान और आचरण स्वरूप मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र संसार के हेतु होने के कारण हेय हैं और सम्यग्ज्ञानादि मोक्ष के हेतु होने से उपादेय हैं। असम्यक् रूप तीन ज्ञानों की संसारहेतुता का प्रसाधन आगे किया जायेगा और सम्यक् रूप की मोक्षहेतुता मोक्ष का विचार करने के अवसर पर सिद्ध की जायेगी। उनका अन्तर्भाव अविद्या में ही होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। अविद्या से अत्यन्त विलक्षण होने के कारण अविद्या में उनका अन्तर्भाव असम्भव है। जो जिससे अत्यन्त विलक्षण होता है, वह उसमें अन्तर्भूत नहीं होता है। जैसे - जल में अग्नि। मिथ्यादर्शनादिक अविद्या से अत्यन्त विलक्षण हैं। अविद्या में इनका अन्तर्भाव करने पर गिनाए हुए बारह अङ्गों का उपदेश ठीक नहीं है। अथवा अविद्या में अर्न्तभाव करने पर आपकी ही हानि है। सम्पूर्ण का चार आर्य सत्यों में ही अन्तर्भाव होने से उसका उपदेश ही मुमुक्षुओं के लिए ठीक है[28]।

अविद्या का जो "क्षणिक" इत्यादि लक्षण कहा गया है, वह अयुक्त है।

क्षणिकादि ज्ञान अविद्यारूप हैं। अतत्त्व में तत्त्व की जानकारी होना अविद्या है, सर्वथा क्षणिकपना और नैरात्म्यपना पदार्थ का स्वरूप नहीं है, क्योंकि सर्वथा नित्य के समान इसमें प्रमाण नहीं बनता है[29]।

रागादिक को संस्कार कहना असङ्गत है – रागादिक संस्कार है, ऐसा जो कहा गया है, वह भी असङ्गत है, क्योंकि रागादि की संस्कारुपता लौकिक और अलौकिक में तद्रूपतया प्रसिद्ध होने से कही जाती है अथवा व्युत्पत्ति मात्र से ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। लोक में और शास्त्र में वेगादि स्वभाव वाले संसार की ही प्रसिद्धि है। द्वितीय पक्ष भी असुन्दर है। जिनका संस्कार किया जाय, वे संस्कार हैं, इस प्रकार व्युत्पत्ति मात्र से रागादि के समान समस्त पदार्थों की संस्कारता का प्रसङ्ग आता है, वैसा होने पर अविद्या से ही समस्त पदार्थों की तद्रूपतया उत्पत्ति के प्रसङ्ग से प्रदर्शित की गई उस कारण भेद की प्रक्रिया नष्ट हो जायगी। इनकी पुण्यादि प्रकारता अत्यन्त दुर्घट है। रागादि का पुण्यादि नाम लोक में और शास्त्र में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। धर्मादि सुख के साधन के रूप में वहाँ प्रसिद्ध हैं। रागादि कारण का कार्य पुण्य होने से वे रागादि भी पुण्य कहलाते हैं, यह भी ठीक नहीं है। पुण्यादि का कारण रागादि होना असम्भव है, क्योंकि पुण्य का कारण आचरण विशेष है। परम्परा से उसका कारण रागादिक मानने पर अविद्यादि भी उस पुण्य का कारण हो जायेंगे। इस प्रकार से निश्चित व्यवस्था का लोप हो जायेगा[30]।

संस्कार से विज्ञान का होना अज्ञान का विलास है - रागादि विज्ञान के प्रतिपक्षी हैं, अतः रागादि लक्षण वाले संस्कारों से विज्ञान की उत्पत्ति असंभव है। रागादि विज्ञान के प्रतिपक्षी हैं, यह बात दूसरे आचार्यों ने भी कही है[31]। आत्मानुशासन में कहा गया है -

"विषयों में अन्ध दृष्टि वाला यह व्यक्ति अन्धे से भी अधिक अन्धा है, क्योंकि अन्धा व्यक्ति तो केवल नेत्र से नहीं जानता है, किन्तु विषयान्ध किसी भी प्रकार से नहीं जानता है[32]।"

विज्ञान के छह भेद आकाश कुसुम के समान हैं[33] - बौद्धों के द्वारा कल्पित इन्द्रियोत्पन्न ज्ञान और विकल्प का खण्डन सविकल्पक की सिद्धि के प्रसङ्ग में हो जाता है।

विज्ञान से नामरूप की उत्पत्ति कहना अद्भुत है - रूपादि स्कन्धचतुष्टय लक्षण वाला नामरूप विज्ञान से उत्पन्न होता है, यह बात असंभव है। विज्ञान की ही नामरूप से उत्पत्ति मानना ठीक है। विज्ञान नामरूप का उपादान होकर उसकी उत्पत्ति करता है या सहकारी भाव से उत्पत्ति करता है ? उपादान भाव से उत्पत्ति नहीं करता है, क्योंकि इन्द्रिय और उसके अर्थ अत्यन्त विलक्षण हैं, अतः उसका उपादान होना असंभव है। जो जिससे विलक्षण होता है, वह उसका उपादान नहीं होता है। जैसे जल का उपादान अग्नि नहीं होती है। विज्ञान से इन्द्रियादिक अत्यन्त विलक्षण हैं। सहकारिभाव से भी नहीं कह सकते, क्योंकि इन्द्रियादि से विज्ञान की ही उत्पत्ति की प्रतीति होना सभी को इष्ट है। सभी अङ्गों की सहकारिभाव से विज्ञान से उत्पत्ति संभव होने पर नामरूप ही विज्ञानप्रत्यय हो जायेगा। अविज्ञप्ति जो आवरण नाम से प्रतिपादित की गई है वह क्या चिद्रूप होगी या अचिद्रूप ? चिद्रूप तो हो नहीं सकती, क्योंकि उसकी स्वीकृति नहीं होती है। यदि अचिद्रूप मानो तो हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं है, क्योंकि वह कार्मण शरीर का ही दूसरा नामकरण हो जायेगा[34]।

नामरूप से षडायतन नहीं हो सकता है - नामरूप से षडायतन होना जो कहा गया है वह भी बिना विचार किया गया कथन है। षडायतन का अन्तर्भाव रूपस्कन्ध में ही हो जाने से इसका पृथक् कथन करने में कोई प्रयोजन नहीं है। उसमें अन्तर्भूत होने पर भी इसका पृथक प्रतिपादन करने पर प्रतिपादन करने वाला पहले बिना कुछ विचार किए कार्य करने वाला हो जायेगा। प्रतिपाद्य शिष्यों की रुचि की संक्षिप्तता और विस्तीर्णता के कारण उसका वैसा प्रतिपादन किया गया तो उस गणना से क्या लाभ है ? क्योंकि रुचियाँ तो अनन्त हो सकती हैं।

विषय इन्द्रिय और विज्ञान का समूह स्पर्श है, इत्यादि कथन अपनी प्रक्रिया के प्रदर्शन करने वाले ढंग की भाषा मात्र होने से उसका उपयोग कहीं नहीं है। अतः उसकी उपेक्षा की जाती है[35]।

पृथिव्यादि चतुष्टय विषयक विचार - जो पृथिवी आदि चार धातुयें प्रतिपादित की हैं, उनके विषय में कोई विवाद नहीं है। जो पृथ्वी आदि प्रतीति से सिद्ध हैं तथा अनेक प्रकार से अर्थ की उत्पत्ति के स्थान हैं, उनके कथन करने में विवाद का अभाव है। जो तदुत्पत्ति की प्रक्रिया में कहा गया है कि उत्पन्न होता हुआ परमाणु अष्टद्रव्यवाला उत्पन्न होता है, चार महाभूत और रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार उपादान आठ द्रव्य हैं। जिस प्रकार से सांख्यदर्शन में एकही शब्दादि सत्व, रज और तमोरुप होता है, इसी प्रकार हमारे मत में परमाणु अष्ट द्रव्यमय है, आपका यह कथन अत्यन्त असङ्गत है, एक-एक परमाणु में रुपादि संभव होने पर पृथिव्यादि मलभूत असंभव है। उन अष्टद्रव्यों की वहाँ शक्तिरूप से कल्पना होती है या स्कन्ध रूप से ? यदि शक्तिरूप से कल्पना होती है तो परमाणु अनन्त द्रव्यवाला क्यों नहीं होगा, क्योंकि उस परमाणु में अनन्त द्रव्यों का आरम्भ करने की शक्ति संभव है। यदि एक स्कन्धरूप में कल्पना करो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि एक परमाणु में स्कन्ध परिणाम असंभव है, क्योंकि स्कन्ध परमाणुओं का समूह सिद्ध होता है[36]।

विज्ञानधातुओं का खण्डन – पाँच विज्ञान धातुयें सवितर्क और सविचार हैं (अभिधर्म कोश 1/32) वितर्क चित का स्थूल विमर्श और विचार सूक्ष्मविमर्श है। इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञानों का वितर्क और विचार सम्भव होने पर निर्विकल्पकपना विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि वे ज्ञान निरुपण और अनुस्मरण विकल्प के द्वारा अविकल्पक हैं। "निरुप्यते हि अनैन इति निरुपणम्" यह निरुपण शब्द की व्युत्पत्ति है, जिसका अर्थ वाचक शब्द है। अनुस्मरण विकल्प है। छह विज्ञान और मानसहित छह धातुयें भी कही जाती हैं। मन विज्ञान से भिन्न नहीं है, क्योंकि छह से अनन्तर और अतीत जो विज्ञान है, वह मन है (अभिधर्मकोश 1/17)। ये सात और एकादश स्कन्ध धातुयें इस प्रकार 18 धातुयें हैं – बौद्धों का यह कथन भी अविचारित रमणीय है। उनके द्वारा कल्पित विज्ञान धातुओं का आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में सविकल्पकपने की सिद्धि में खण्डन किया है। उनके अनुसार अविकल्पक के अर्थसाक्षात्कारीपना संभव नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक स्वरूप से ही असिद्ध है जो स्वरूप से अप्रसिद्ध होता है वह अर्थसाक्षात्कारी नहीं होता है जैसे वन्ध्या के पुत्र का ज्ञान। अविकल्पपने के रूप में अभिमत विज्ञान भी इसी प्रकार स्वरूप से प्रसिद्ध है। (न्यायकुमुदचन्द्र पृ 51) रूप स्कन्ध का क्षणविनाशी क्षणभङ्ग के खण्डन का प्रसाधन करते समय निषेध किया गया है।

इस प्रकार वैभाषिक के द्वारा कल्पित द्वादशात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद का उसके वर्णित स्वरूप की अपेक्षा विचार करने पर वह व्यवस्थित नहीं होता है, अत: वैभाषिक मत वाले की संसार के विस्तार की रचनारूप लक्षण वाली अर्थक्रियाकारिता घटित नहीं होती है[37]।

निराकार ज्ञान की प्रमाणता का खण्डन – वैभाषिक सम्पूर्ण संकल्प विकल्पों के कल्पित आकारों से रहित हो रहे केवल शुद्धज्ञान को ही स्वीकार करते हैं। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक में वैभाषिकों से प्रश्न किया है कि आप कल्पनाओं से रहित शुद्ध ज्ञान मानते हैं। यहाँ आप कल्पना का क्या अर्थ करते हैं ? वस्तु में जो धर्म विद्यमान नहीं है, उस धर्म का थोड़ी देर के लिए वस्तु में आरोप करना कल्पना माना है, या मन के केवल संकल्प विकल्पों को कल्पना इष्ट किया है, अथवा वस्तु का स्वभाव कल्पना है ? पहिले और दूसरे पक्ष में सिद्धसाधन दोष है यानी पहिली दो कल्पनाओं से रहित हो रहे ज्ञान को हम भी समीचीन ज्ञान मानते हैं[38]।

यदि बौद्ध कहेंगे कि आरोपित धर्म और मानसिक संकल्प रूप सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित हो रहा अकेला ज्ञान ही केवल तत्त्व है तो उसी प्रकार हम स्याद्वादियों के मत में भी अन्तरङ्ग आत्मायें और बहिरङ्ग घट पट आदि सम्पूर्ण वस्तुयें परमार्थ रूप से उन दो कल्पनाओं से रहित सिद्ध हो जायें। ये सब कल्पनायें मिथ्यादर्शन मे निर्मित है, क्योंकि कल्पनाओं से रहित और अनेक स्वभाव वाले तथा अनेकान्तपने की भिन्न जाति से युक्त हो रही वस्तु का (में) बाधारहित स्पष्टरूप से प्रकाशन हो रहा है। अनेक धर्म वाली वस्तु में से पृथक्-पृथक् मानकर एक-एक धर्म को विवक्षावश समीचीन कल्पना से न्यारा-न्यारा जाना है। एक से दूसरे को अलग कर अनेक धर्मों को विषय करने वाली सुनयें विवक्षावश जीवों के अच्छी तरह वर्त रही हैं[39]।

उस कारण से सम्पूर्ण मिथ्याकल्पनाओं से अतिक्रान्त हो रहा सत्त्व सिद्ध है। आप बौद्ध पहिली दो कल्पनाओं से रहित ज्ञानतत्व को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार आप सिद्ध का ही साधन कर रहे हैं। केवल कल्पनाओं से जाने जा रहे धर्म अथवा कल्पनायें वास्तविक तत्त्व नहीं हो सकते हैं, क्योंकि अतिप्रसङ्ग हो जावेगा। उस कारण (आत्मा, ज्ञान, सुख आदि) अन्तरङ्ग, तत्त्व या (घट, पट, पाषाण आदि) बहिरङ्ग तत्त्व उन दो कल्पनाओं से रहित हैं, यह बात युक्त है।

यदि तीसरा पक्ष लोगे अर्थात् वस्तु के स्वभावों की कल्पना करोगे, तब तो ऐसी कल्पनाओं से रहित ज्ञान को इष्ट करने पर लोक प्रसिद्ध प्रतीतियों से विरोध होगा[40]। जैसे ब्रह्माद्वैतवादियों का माना हुआ (आधेयता, आधारता, कार्यता, कारणता और ग्राह्यता, ग्राहकता) आदि अंशों से रहित एक परब्रह्म प्रतिभासित नहीं होता है, उसी के सदृश अन्य बौद्धों के द्वारा स्वीकार किया गया (संवेद्य, संवेदक और इन स्वभावरूप) अंशों से रहित केवल शुद्ध ज्ञान भी नहीं प्रतिभासित होता है। इस कारण शुद्ध ज्ञानाद्वैत तत्त्व भी हमारे सम्मुख प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं कर सकता है[41]।

तीसरे पक्ष के अनुसार यदि वस्तु के स्वभावों की कल्पना मानोगे तो सम्पूर्ण बाधक प्रमाणों के नहीं सम्भव होने का अच्छी तरह से निश्चय कर लिया है जिसका, ऐसी उन स्वभावरूप सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित केवल संवेदन ही तत्त्व इस तरह व्यवस्थित नहीं हो पाता है, क्योंकि बौद्धों के द्वारा माना गया स्वभाव और विशेषरूप अंशों से रहित उस संवेदन का ब्रह्माद्वैत के समान प्रतिभास नहीं होता है और वस्तुभूत कल्पनायें निर्बाध्य होकर पदार्थों में दिख रही हैं।

प्रश्न - नाना आकारवाला (स्याद्वादियों का) एक प्रतिभासन भी तो नहीं दीखता है, क्योंकि (एक में अनेकपने का) विरोध है, अत: नाना आकारवाला एक पदार्थ भी असत् ही है[42]।

उत्तर - विरोध दोष हो जाने के कारण एक पदार्थ में अनेक आकारों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। इस कारण वह पदार्थ सद् रूप नहीं है इस प्रकार बौद्धों का कहना स्पष्ट रूप से (उच्छृङ्खल) राजाओं की सी चेष्टा करना है। जबकि ज्ञान में अनेक आकार और एकपना इन दोनों का एक स्थान और सब काल में अंतररहित समानरूप संवेदन हो रहा है तो उन दोनों में से चाहे किसी का स्वीकार और दूसरे किसी एक का तिरस्कार करने पर बौद्धों का विचारपूर्वक कार्य करना नहीं कहा जा सकता है[43]।

एक पदार्थ में अनेक आकारों के स्थित रहने का निश्चय नहीं है, क्योंकि विरोध है, इस प्रकार कहते हुए बौद्ध उन दोनों में से नाना आकारों का खण्डन करते हैं अथवा वस्तु में से एकपने को निकालना चाहते हैं पहिला पक्ष होने पर यदि नाना आकारों का खण्डन करेंगे तब तो यह उच्छृङ्खल राजाओं की सी चेष्टा करना है, क्योंकि शुद्ध संवेदन के अद्वैत को कहने वाले बौद्ध ने अपनी रुचि से एक संवेदन को स्वीकार कर ज्ञान में जाने जा रहे भी और सब देश तथा काल में होने वाले अनेक आकारों का खण्डन किया है। जो सब देशकाल में अनुभव किए गए अंशों का खण्डन करता है, वह विचारपूर्वक कार्य करने वाला नहीं है। दूसरे पक्ष के अनुसार एकपने का खण्डन नहीं किया जा सकता अन्यथा अपसिद्धान्त हो जायेगा। उस कारण हर्ष, विषाद, ज्ञान आदि पर्यायों से व्याप्त आत्मा में बाधारहित प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। वह ज्ञान निश्चय से एक में अनेक आकारों को सिद्ध करने में दक्ष है[44]।

पुद्गल में ध्यान की असिद्धि[45] - आदि पुराण के 12वें पर्व में पुद्गलवाद अर्थात् आत्मा को पुद्गल मानने वाले वात्सीपुत्रियों के विषय में बतलाया है कि उनके मत में देह और पुद्गलतत्व के भेद - अभेद और अवक्तव्य पक्ष में ध्याता की सिद्धि नहीं हो सकती। अत: ध्यान की इच्छापूर्वक प्रवृत्ति नहीं बन सकती। सर्वथा असत् आकाशपुष्प में गन्ध आदि की कल्पना नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि पुद्गल रूप आत्मा यदि देह से भिन्न है तो पृथक् आत्मतत्त्व सिद्ध हो जाता है। यदि अभिन्न है तो देहात्मवाद के दूषण आते हैं। यदि अवक्तव्य है तो उसके किसी रूप का निर्णय नहीं हो सकता और उसे अवक्तव्य इस शब्द से भी नहीं कह सकेंगे। ऐसी दशा में ध्यान की इच्छा प्रवृत्ति आदि नहीं बन सकते।

फुटनोट

1 हरिभद्र षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 72-73
2 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 390
3. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 390 अष्टसहस्त्री पृ. 264
4 विद्यानन्द : अष्टसहस्त्री पृ. 264-265
5 तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
6. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 391
7. अकलङ्क देव : तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
8. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 391
9. तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
10. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 391
11. तत्वार्थवार्तिक 1/1/46, न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 392
12. तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
13. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 392
14 तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
15 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 391
16 तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
17 लोभः तृष्णा - न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 392
18. तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
19. न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 392
20. तत्त्वार्थवार्तिक पृ 1/1/46
21. न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 392
22. तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
23 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 392
24. तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
25 न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 392
26. तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/46
27 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 392
28. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 392-393
29. वही पृ. 393
30 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 393
31. वही पृ. 393
32. आत्मानुशासन श्लो 35, न्यायकुमुदचन्द्र पृ 393
33 न्यायकुमुदचन्द्र पृ 393
34 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 394
35 वही पृ 394
36 न्यायकुमुदचन्द्र पृ 394-395
37 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 395
38 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (भाग-1) पृ. 283
39 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (प्रथम भाग) पृ 283
40 वही पृ. 285
41 वही पृ. 285
42 वही पृ 285
43 वही पृ. 286
44. वही पृ 286-287
45 जिनसेन : आदिपुराण 21/245/246

❑❑❑

पंचम परिच्छेद

सौत्रान्तिक मत समीक्षा

सामान्य परिचय - सौत्रान्तिकों का सिद्धान्त है कि सभी प्राणियों के रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा तथा संस्कार ये पाँच स्कन्ध होते हैं, किन्तु आत्मा नहीं। ये ही स्कन्ध परलोक जाते हैं। उनका यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि हे भिक्षुओं ! ये पाँच वस्तुयें संज्ञामात्र हैं, प्रतिज्ञामात्र हैं, संवृति - कल्पना मात्र है, व्यवहार मात्र हैं। कौन सी पाँच वस्तुयें अतीत अध्व-काल, अनागत अध्व, अहेतुक विनाश, आकाश तथा पुद्‌गल-आत्मा। यहाँ पर पुद्‌गल शब्द दूसरे (नैयायिकादि) के द्वारा माने गए नित्य आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बाह्य अर्थ सदा अप्रत्यक्ष रहता है। उसकी सत्ता का ज्ञान तो ज्ञान में प्रतिबिम्बित आकार से ही किया जाता है। साकारज्ञान प्रमाण है। सभी संस्कार क्षणिक हैं - अत्यन्त विनश्वर हैं। स्वलक्षण ही वास्तविक अर्थ है। प्रतिक्षण विनष्ट होने वाले रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श के परमाणु एवं ज्ञान ये ही तत्त्व हैं। शब्द का वाच्य विधिरूप न होकर अन्यापोहात्मक है। ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर तथा पदार्थ के आकार को धारण करके अर्थ का परिच्छेद करता है। नैरात्म्य भावना से ज्ञान की सन्तान का सर्वथा उच्छेद होना मोक्ष है[1]।

सौत्रान्तिक नामकरण का कारण - सौत्रान्तिक नामकरण का कारण यह है कि ये "सुत्तपिटक" को ही प्रामाणिक मानते थे। इनके अनुसार तथागत के आध्यात्मिक उपदेश "सुत्तपिटक" के कुछ सूत्रों (सूत्रान्तों) में सन्निविष्ट हैं। ये "अभिधर्मपिटक" को बुद्धवचन न होने से प्रमाण नहीं मानते। यशोमित्र ने अभिधर्मकोश की टीका में इस नामकरण की पुष्टि की है[2]। आचार्य कुमारलात इस मत के प्रतिष्ठापक हैं[3]।

साकारज्ञानवाद - सौत्रान्तिक कहते हैं - ज्ञान पदार्थ का ग्राहक होता हुआ क्या सम्बद्ध का ग्राहक होता है या असम्बद्ध का ? असम्बद्ध का तो होता नहीं है, क्योंकि अतिप्रसङ्ग दोष हो जायगा। अर्थात् ज्ञान सभी अर्थों का ग्राहक हो जायगा। यदि सम्बद्ध का ग्राहक मानो तो तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बन्ध का ग्राहक होता है या तदुत्पत्ति से? आदि का विकल्प अयुक्त है; क्योंकि योगाचार मत का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। योगाचार के मत से विज्ञान ही परमार्थ सत् है और बाह्य पदार्थ स्वप्न के समान हैं। ज्ञान और अर्थ चूंकि समकालीन होते हैं, इसलिए उनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। गाय के दायें और बायें सींग के समान समसमयवर्तियों में कार्यकारण-भाव का अभाव है। भिन्न समय में तदुत्पत्ति मानने पर पदार्थ के विनष्ट हो जाने के कारण आकार के बिना ग्रहण बनता नहीं है। कहा भी है -

> भिन्न कालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
> हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः तदाकारार्पणक्षमम् ॥[4]

प्रयोग - ज्ञान पदार्थ के आकाररूप है, क्योंकि वह पदार्थ का कार्य है जैसे उत्तरवर्ती पदार्थक्षण तथा जो जिसका ग्राहक होता है, वह तदाकार होता है, जैसे स्वरूप का ग्राहक ज्ञान स्वरूपाकार होता है और ज्ञान नीलादि पदार्थों का ग्राहक है। दूसरी बात यह है कि अतीत अनागत

विषयज्ञानों का और कैशोण्डुकादि ज्ञानों का ग्राह्य बाह्य अर्थ के अभाव से आकार के बिना कैसे ग्रहण होगा ? जो जिस आकार रूप नहीं होता है, वह उसका ग्राहक नहीं होता है, जैसे शुक्लसंवदेन नीलाकार का ग्राहक नहीं होता है, तथा अर्थ का ग्राहक ज्ञान है । ज्ञान की निराकारता स्वीकार करने पर स्वरूप के भी अप्रत्यक्षपने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो यह नील है, यह पीत है, इत्यादि आकार रूप से ही उसकी प्रतीति होती है । आकार के अभाव में उत्पद्यमान ज्ञान की प्रत्यक्षता कैसे होगी ? ज्ञानों की निराकारता होने पर ज्ञानों का एक दूसरे से भेद भी दुर्लभ हो जायेगा । नीलादि आकार ही एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान से भिन्न करते हैं । नीलाद्याकारों के अभाव में भेद कैसे होगा ? अत: जिसके कारण यह नील का विज्ञान है, यह पीत का विज्ञान है, इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान का विषय नियत होता है, वही अर्थाकारता इस क्रिया में साधकतम होने से प्रमाण है और एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से भेद करने वाली है । कहा भी है -

सत्रानुभवमात्रेण ज्ञानस्य सहशात्मनः ।
भाव्यं तेनात्मना येन प्रतिकर्म विभज्यते[5] ॥

अर्थरूपता का विनाश हो जाने पर "यह नील की बुद्धि है" इस प्रकार ज्ञान का अर्थ के साथ सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता है । सब पदार्थों के प्रति समान होने पर निराकार ज्ञान में यह व्यवस्था कैसे बनेगी कि अमुक ज्ञान का अमुक ही विषय है । यदि प्रत्येक पदार्थ विषयक ज्ञान निराकार है और उस ज्ञान में कोई भेद प्राप्त नहीं है तथा व्यवहार करने वाले अर्थक्रियार्थियों की नियत अर्थ में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी क्योंकि निराकार होने से उसका ज्ञान सभी पदार्थों के प्रति समान है । कहा भी है -

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुकत्वार्थरूपताम् ।
तस्मात् प्रेमयाधिगते प्रमाणं मेयरूपता[6] ॥

अर्थात् अर्थाकारता को छोड़कर अन्य कोई ज्ञान को अर्थ के साथ सम्बद्ध नहीं करता है। अत: ज्ञान की अर्थाकारता ही प्रमाण है । पदार्थ के समान कारण सामान्य होने से चक्षुरादि के आकार का अनुकरण भी ज्ञान में क्यों नहीं होता है, यह नहीं कहना चाहिए । पदार्थ के समान कारण सामान्य होने पर भी सन्तान के द्वारा पिता के आकार का अनुकरण मानना ठीक है । कहा भी है -

यथैवाऽऽहारकालादेः समानेऽपत्यजन्मनि ।
पित्रोस्तदैकमाकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित्[7] ॥

अर्थात् जैसे सन्तान की उत्पत्ति में भोजन आदि भी कारण हैं, किन्तु सन्तान भोजन के आकार का अनुकरण न करके माता-पिता का ही अनुकरण करती है, वैसे ही ज्ञान भी अर्थ के आकार का अनुकरण करता है ।

स्वलक्षण ही वास्तविक अर्थ है - सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी है । वह वास्तविक प्रमेय एक स्वलक्षण ही मानता है । सामान्यलक्षण प्रमेय तो अतद्व्यावृत्ति या अकार्यका- रणव्यावृत्ति रूप होने से कल्पित है । यह ग्राह्य तो होता है, पर प्राप्य नहीं होता । निर्विकल्प प्रत्यक्ष क्षणिक परमाणुरूप स्वलक्षण से उत्पन्न होता है । इसमें स्वलक्षण पदार्थ आलम्बन कारण है, पूर्वज्ञान समनन्तर (उपादान) कारण, इन्द्रियाँ अधिपति कारण और प्रकाश आदि सहकारी कारण हैं । यद्यपि जिस क्षण से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह क्षण ज्ञान काल में नष्ट हो जाता है फिर भी उस क्षण की सन्तान

या उस सन्तान में पतित अग्रिम क्षण ग्राह्य और प्राप्य होता है। अत: सन्तानमूलक एकत्वाध्यवसाय से अविसंवाद मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि वह क्षण चूंकि अपने आकार ज्ञान में और उस ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होता है, अत: वही क्षण उस ज्ञान का ग्राह्य कहा जाता है। अनुमान में ग्राह्य विषय तो स्वलक्षण है, क्योंकि अग्नि सामान्य ही उसका विषय है, फिर भी प्राप्त स्वलक्षण होता है, अत: प्राप्य स्वलक्षण की अपेक्षा उसमें प्रामाण्य है[8]। जैसे प्रदीप प्रभा में होने वाला मणिज्ञान और मणिप्रभा में होने वाला मणिज्ञान दोनों ही भ्रान्त हैं, किन्तु मणिप्रभा में होने वाला मणिज्ञान मणि की प्राप्ति करा देने से विशेषता रखता है, उसी तरह अनुमान और मिथ्याज्ञान दोनों अवस्तु को विषय करने की दृष्टि से समान हैं, किन्तु अनुमान से अर्थक्रिया हो जाती है, अत: वह प्रमाण है, मिथ्याज्ञान नहीं[9]। तात्पर्य यह है कि परमार्थ स्वलक्षण ग्राह्य हो या नहीं, किन्तु यदि प्राप्ति स्वलक्षण की हो जाती है तो वह ज्ञान अविसंवादी और प्रमाण माना जाता है।

स्वलक्षण तत्त्व में विधिनिषेधों की प्रतीति - स्वलक्षण तत्त्व में विधि निषेधों की प्रतीति नहीं होती है। वस्तु को नहीं छूने वाले विकल्पाकार ज्ञान से उसका संवेदन हो जाता है अत: वे धर्म प्रतीतियों से सिद्ध नहीं है। जिस समय सम्पूर्ण विकल्पों का संहार कर दिया जाता है उस अवस्था में विधि निषेधों से रहित स्वलक्षण तत्त्व ही दिख जाता है। उसके पीछे रागद्वेष की दशा में चितवृत्ति के नानाविकल्पों से संलग्न हो जाने पर यह इस प्रकार का है, दूसरे प्रकार से नहीं है, इत्यादिक अनेक विधि प्रतिषेधरूप विशेषधर्मों की प्रतीति होने लग जाती है। पहले समयों में उस प्रकार के झूठे विकल्पात्क ज्ञान हो चुके हैं, उनकी वासनायें हृदय में बैठी हुई हैं। उन वासनाओं से उत्पन्न हुई विकल्पबुद्धि में अस्ति, नास्ति की कल्पना प्रवृत हो जाती है। केवल उस झूठी विकल्प बुद्धि में प्रतिभास रहे भी उन अस्ति, नास्ति आदि विशेष धर्मों को जो कि स्वलक्षण में नहीं प्रतिभास रहे हैं, किसी भ्रान्ति के कारण वस्तुभूत स्वलक्षण में भी अध्यारोप करता हुआ यह व्यवहार करने वाला जीव उस स्वलक्षण को भी उन कल्पित धर्मस्वरूप मान रहा है। वस्तुत: निरंश निर्विकल्पक स्वलक्षणों में उन धर्मों की वृत्ति असंभव है। वे धर्म यदि वस्तु में ठीक-ठीक होते तो वस्तु के पूर्णस्वरूप को देखने वाले प्रत्यक्षज्ञान में अवश्य प्रतिभास को प्राप्त हो जाने चाहिये थे। जो वस्तुभूत हैं उनका निर्विकल्प प्रत्यक्ष हो जाना प्रसङ्ग प्राप्त है, तब तो एक पदार्थ में भी धर्मी धर्मों के अनेक ज्ञान हो जाने को रोका नहीं जा सकता है[10]।

अन्यापोह - बौद्धों का कहना[11] है कि श्रुत अविसंवादी नहीं हो सकता, क्योंकि जो शब्द मत् अर्थ में देखे जाते हैं वे ही शब्द अर्थ के अभाव में भी देखे जाते हैं। अत: शब्द विधिरूप से अर्थ का कथन नहीं करते। इसलिए अन्यापोह को ही शब्दार्थ मानना चाहिए। शब्द और लिङ्ग का विषय बाह्य अर्थ नहीं है। यदि बाह्य अर्थ शब्द का विषय है तो वह स्वलक्षण बाह्य अर्थ है अथवा सामान्य रूप अर्थ है? पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण रूप अर्थ में संकेत ग्रहण नहीं किया जा सकता, अत: उसमें शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती। संकेत ग्रहण उसी में किया जा सकता है जो संकेत ग्रहण के काल में मौजूद रहे। किन्तु स्वलक्षण रूप अर्थ तो एक क्षणवर्ती और निरंश परमाणुरूप होता है, अत: वह देशान्तर और कालान्तर का अनुसरण नहीं करता, क्योंकि विवक्षित देश और विवक्षित काल में जो अर्थ है, वह अन्य है तथा देशान्तर और कालान्तर में जो अर्थ है वह अन्य है। अत: ऐसे अर्थ में संकेत ग्रहण कैसे किया जा सकता है[12]?

अन्यापोह-विचार-सौगत - दृश्य और विकल्परूप स्वलक्षण और सामान्य में एकत्व का अध्यवसाय होने से उस क्षण क्षग की विधि होती है, न पुन: वस्तुभूत स्वलक्षण रूप की, अत:

अन्यापोह अर्थ का ही समर्थन हो जाता है, क्योंकि सर्वथा विकल्पज्ञान और शब्द ये दोनों वस्तु का स्पर्श ही नहीं करते हैं ।

जैन - ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण और सामान्य में एकत्व का अध्यवसाय करने वाला विकल्पज्ञान स्वलक्षण को विषय ही नहीं करता है, क्योंकि अगृहीत (स्वलक्षण) के साथ सामान्य (विकल्प-अन्यापोह लक्षण) में एकत्व का अध्यवसाय ही असंभव है अर्थात् स्वलक्षण तो अगृहीत है और सामान्य गृहीत है, पुन: उन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय कैसे हो सकेगा ? अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष भी आ जावेगा अर्थात् तीन प्रकार के विप्रकृष्ट और अविप्रकृष्ट में भी एकत्व का अध्यवसाय मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा तो आप मानते नहीं हैं ।

सौगत - प्रत्यक्ष से जाने गए स्वलक्षण के द्वारा उस सामान्य विकल्प में एकत्व का अध्यवसाय हो सकता है ।

जैन - तब तो इस प्रकार से विकल्पज्ञान और शब्द में वस्तु के स्पर्श का अभाव होने पर नहीं किया है निर्णय जिसका ऐसे स्वलक्षण दर्शन और वस्तु की सन्निधि में समानता न होने से किसके द्वारा किसका ज्ञान हुआ कहा जावेगा ? क्योंकि मिथ्या अध्यवसाय से तत्त्व की व्यवस्था नहीं बनती है । अन्यथा संशय और विपर्यय को करने वाले भी निर्विकल्प प्रत्यक्षरूप दर्शन के द्वारा स्वलक्षण के ज्ञान का प्रसङ्ग हो जावेगा तथा स्वलक्षण दर्शन और मिथ्या अध्यवसाय इन दोनों में वस्तु के संस्पर्श का अभाव समान होने पर भी स्वलक्षण और विकल्प का जनक दर्शन का तो प्रमाण है, किन्तु संशयादि का जनक दर्शन प्रमाण नहीं है, इस प्रकार से कहते हुए आप बौद्ध अपनी अनात्मज्ञता को ही प्रगट कर रहे हैं ।

सौगत - निर्णय-विकल्प से दर्शन विषयक (स्वलक्षण विषयक) समारोप का व्यवच्छेद हो जाता है, अतएव उस विकल्प को उत्पन्न करने वाला ज्ञान प्रमाण है, किन्तु संशय आदि का जनक दर्शन प्रमाण नहीं है; क्योंकि उन संशय आदि के द्वारा दर्शनविषयक समारोप का निराकरण नहीं हो सकता है एवं असमारोपितांश (जिसमें समारोप का अंश नहीं है, ऐसे नील स्वलक्षण में) दर्शन की प्रमाणता है । किसी दर्शन के विषय में भी सामान्य है अर्थ जिसका ऐसा ज्ञान विकल्प है और असमारोपित अन्यांश में तन्मात्र अपोह के गोचर है, अर्थात् अक्षणिक से व्यावृत क्षणिक रूप है, ऐसा कथन हमारे यहाँ पाया जाता है, अतएव उपर्युक्त उलाहना उचित नहीं है ।

जैन - ऐसा नहीं कह सकते । समारोप के व्यवच्छेदक विकल्प में स्वसंवेदन का अवस्थान होने पर भी विकल्पान्तर की अपेक्षा का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि नीलादि स्वलक्षण दर्शन के समान निर्विकल्पत्व दोनों में समान है अर्थात् जैसे नीलादि स्वलक्षण दर्शन के स्वरूप का व्यवस्थापन करने के लिए विकल्पान्तर होना चाहिए, वैसे ही समारोप व्यवच्छेद विकल्प के भी स्वस्वरूप का व्यवस्थापन करने के लिए अन्य विकल्पान्तर होना चाहिए, इस तरह अनवस्था आती ही जावेगी।

वस्तु दर्शन-नीलादिक्षण का प्रत्यक्ष और समारोप अक्षणिक का व्यवच्छेद इन दोनों में से किसी एक की भी स्वतस्तत्त्व में परिसमाप्ति न होने पर इतरेराश्रय दोष आ जाता है, जिसके द्वारा क्षणिक में नित्य का समारोप दूर किया जाता है, वह निश्चय अर्थात् विकल्प है ।

यदि वह विकल्प स्वरूप का निश्चय न करते हुए भी स्वत: स्वस्वरूप का निष्टापन कर देवे तब तो वस्तु दर्शन (नीलादि क्षण का प्रत्यक्ष) भी स्वत: स्वस्वरूप का परिनिष्टापन कर देवे, क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है और फिर वस्तु दर्शन में विकल्प की अपेक्षा से भी क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं अथवा यदि आप कहें कि वह वस्तुदर्शन (नीलादि क्षण का प्रत्यक्ष)

विकल्प के स्वरूप संवेदन में भी विकल्पान्तर की अपेक्षा बनी रहने से अनवस्था दोष आ जावेगा। एवं विकल्प से वस्तुदर्शन की परिसमाप्ति होती है तथा वस्तुदर्शन से निश्चय (विकल्प) के स्वरूप की समाप्ति होती है तब तो परस्पराश्रय दोष आता है, इसलिए विकल्प के समान शब्द का सर्वथा अन्यापोहही अर्थ नहीं है।[13]

आचार्य समन्तभद्र का कहना है कि अस्ति आदि समान्य वाक्य अन्यापोहरूप विशेष का प्रतिपादन करते हैं, (बौद्धों का) ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यापोह शब्द का अर्थ (वाक्य) नहीं है। अत: अन्यापोह का प्रतिपादन करने वाले वचन मिथ्या हैं और अभिप्रेत अर्थविशेष की प्राप्ति का सच्चा साधन स्यात्कार (स्याद्वाद) है13अ। आचार्य विद्यानन्द ने समन्तभद्र के इस अभिप्राय को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया है -

बौद्ध - 'अस्ति' इस प्रकार के सत्सामान्य वाले वचन केवल अभाव के विच्छेद से विशेष 'अपोह' को ही कहते हैं।

जैन - यदि ऐसी बात है तब तो यह बतलाइए कि वह अपोह क्या है ? क्या वह अन्य की व्यावृत्तिरूप है अथवा अन्यापोह रूप से विकल्परूप है ?

बौद्ध - पर से व्यावृत्ति का होना अर्थात् अभाव का होना ही अन्यापोह है, ऐसा हम मानते हैं।

जैन - तब तो 'अस्ति' इस प्रकार के सत्सामान्य वचन अपने सत्यभावअर्थ को कैसे प्रतिपादित करेंगे ? यदि आप कहें कि अपने सत्यभाव का प्रतिपादन नहीं करते हैं तो पुन: वे वचन अनुक्त, नहीं कहे हुए, के समान क्यों नहीं हो जायेंगे ?

बौद्ध - विकल्प ही अन्यापोह हो जावे, क्योंकि वचनों का अभिप्राय मिथ्या है।

जैन - तब तो 'अस्ति' इत्यादि वचन उस अपने अर्थ के प्रतिपादक नहीं हो सकेंगे, क्योंकि मिथ्याविकल्प के हेतु हैं, जैसे कि असत्यवचन अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं। अर्थात् अस्ति यह वचन अन्यापोह के विकल्प का उत्पादक ही है, न कि उस अर्थ का प्रतिपादक और ऐसा मानने से तो वचन मिथ्या ही सिद्ध होते हैं, इसलिए शब्द का अर्थ अन्यापोह है, यह बात सिद्ध नहीं होती है कि जिससे उसमें प्रवर्तमान अस्ति इत्यादि समान्यवचन असत्य ही न हो जावें अर्थात् असत्य हो हो जाते हैं। इसलिए स्यात्कार ही सत्यलाञ्छन है, ऐसा मानना चाहिए; क्योंकि सभी को अपने-अपने अभिप्रेत अर्थविशेष की प्राप्ति होती है। प्रवृत्ति करने वाले सभी मनुष्य किन्हीं वचनों से कहीं पर स्वरूपादि से विद्यमान अभिप्रेत अर्थ को प्राप्त करते हैं, किन्तु पररुपादि से अनभिप्रेत अर्थ को प्राप्त नहीं करते हैं। अर्थात् जानने वाले स्वरूपादि से सत् ही वस्तु अभिप्रेत होती है, किन्तु पररुपादि से असत् वस्तु अभिप्रेत नहीं होती है एवं पररुपादि से अनभिप्रेस अर्थ को प्रवर्तक जन प्राप्त नहीं करते हैं, अन्यथा प्रवृत्ति करना ही व्यर्थ हो जायेगा। स्वरूप के समान पर रूप से भी किसी का सत्त्व स्वीकार करने पर तो सभी वस्तु अभिप्रेत हो जायगी तथा पररूप के समान ही स्वरूपादि से भी असत्य मानने पर तो सभी में अभिप्रेतपने का अभाव हो जाने से स्वयं को अभिप्रेत वस्तु भी अनभिप्रेत हो जावेगी13ब, किन्तु ऐसा तो है नहीं।

शब्द विधायक भी है - जो बौद्ध ऐसा मानते हैं कि शब्द का वाच्य अर्थ केवल अन्यापोह ही है, उनके यहाँ "गौ" ऐसा शब्द यदि अन्य की निवृत्ति करने का विधान करना है, तब तो गौपने का ही विधान करे। अत: वह गौ शब्द एकान्त रूप से अन्यों के अपोह को ही विषय करने वाला न हुआ, विधायक भी हो गया[14]।

अन्यापोह में अनवस्थादोष – *बौद्धों के यहाँ गौ शब्द का वाच्य अर्थ अगोनिवृत्ति माना गया है। अगोनिवृत्ति में पहले निषेध करने योग्य 'अगो' पड़ा हुआ है। जो गौ नहीं है, वह अगो है।* इस प्रकार सबसे पहिले एक गोनिवृत्ति आई। उसके अनन्तर अगो की निवृत्ति की। यह दूसरी निवृत्ति की। यह दूसरी निवृत्ति हुई। इस दूसरी निवृत्ति को भी निषेधमुख से कहेगा तो उसके पीछे एक उससे न्यारी तीसरी निवृत्ति खड़ी हो जावेगी। उसके अनन्तर अपोहरूप चौथी निवृत्ति निराली हो जावेगी। इस प्रकार गो शब्द करके यह चौथी निवृत्ति कही जावेगी। किन्तु अपोह मुख से ही उसका निरुपण होगा। यदि चौथी निवृत्ति विधि प्रधानता से कह दी जाती तो दूसरी निवृत्ति को भी उसी प्रकार कहे जाने का प्रसङ्ग जो जायेगा। सौगत कहते हैं कि गौ के समान विधान की सिद्धि का भी अपने से अन्यों की निवृत्ति के द्वारा ही कथन किया जाता है अर्थात् सबसे प्रथम गौ की विधिसिद्धि की जैसे चार कोटि कही है वैसे ही चौथी निवृत्ति की विधिसिद्धि भी अन्यापोह द्वारा कही जावेगी। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तब तो उस चौथी निवृत्ति का भी अन्य निवृत्ति द्वारा कथन करने से अन्य पद से पाँचवीं निवृत्ति कथित हुई और उससे अपोह रूप छठी निवृत्ति हुई और वह गौ शब्द का वाच्य अर्थ हुई। इस प्रकार छठी निवृत्ति भी अन्यनिवृत्ति के द्वारा अन्यापोह को ही कहेगी, यह अनवस्था दोष है। बहुत दूर जाकर भी कहीं न कहीं अन्यनिवृत्ति का अवलम्ब छोड़कर विधि द्वारा अवलम्ब लेना पड़ेगा[15]।

वक्ता की इच्छा का विधान करने वाला शब्द अन्यापोह को नहीं कहता है – जिस बौद्ध के यहाँ शब्द वक्ता की इच्छा का विधान कर रहा है और कभी भी बहिर्भूत अर्थ का विधान नहीं करता है, उसके यहाँ सभी शब्द अन्यापोह का कथन कर रहे हैं, यह कहना वन्ध्यापुत्र की सी चेष्टा करना है[16]।

अन्यापोह मानने में अतिप्रसङ्ग दोष – शब्द के द्वारा अन्यापोह प्रतीत कर लेने पर शब्द से अर्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी ? सभी प्रकारों से अतिप्रसङ्ग दोष होगा। शब्द के द्वारा अन्य दूसरे ही पदार्थ में प्रेरणा करायी जाय और उस शब्द को मूल मानकर होने वाली प्रवृत्ति किसी अन्य तीसरे पदार्थ में हो जावे, यह किसी प्रकार युक्त नहीं है। अन्यथा गौ को दोहो। ऐसी वक्ता प्रभु द्वारा प्रेरणा करने पर बैल के लादने में या घोड़े के घुमाने आदि में भी श्रोता की उस प्रवृत्ति के होने का प्रसङ्ग हो जावेगा। अर्थात् शब्द का वाच्य तो अनयापोह माना जाय और शब्द के द्वारा प्रवृत्ति बहिरङ्ग अर्थ में हो यह सर्वथा झूठ है।

साकार ज्ञानवाद समीक्षा – बौद्ध कहते हैं कि ज्ञान को साकार माने बिना प्रतिनियत विषय को जानने की व्यवस्था होना दूसरे प्रकारों से बन नहीं सकती है। इस कारण प्रतिबिम्ब को धारण करने वाले साकार ज्ञान के प्रमाणपने का कथन किया जाता है[18] अर्थात् जब कि घटज्ञान प्रकाशमान चेतन पदार्थ है तो वह घट को ही क्यों जानता है पट पुस्तक आदि को क्यों नहीं प्रकाशता है ? सूर्य क्या शुद्र या अपवित्र पदार्थ के प्रकाश करने में अनाकानी करेगा ? अर्थात् नहीं। इससे प्रतीत होता है कि ज्ञान में जिसका आकार (छाया) पड़ा है उसी को जान सकता है, अन्य को नहीं। तदाकारपने से तत् को जानने की व्यवस्था नियत हो रही है।

ज्ञान द्वारा अपनी व्यवस्था के बिना पदार्थों की संवित्ति नहीं होती है – जैनाचार्यों का कहना है कि वह ज्ञान क्षणिकत्व आदि विषयरूप की व्यवस्था क्यों करा देता है ? उस क्षणक्षयादिक का उन नीलादिक के साथ अभेद होने के कारण ज्ञान में तदाकारता तो है, अन्य कोई विशेषता नहीं है[19]। अर्थात् बौद्धों ने नीलज्ञान को नील का व्यवस्थापक तो माना है, किन्तु नील से माने

गए अभिन्न उसके क्षणिकपने का व्यवस्थापक नहीं माना है, तभी तो क्षणिकत्व के निर्णयार्थ अनुमान और विकल्पज्ञान उठाये जाते हैं। आत्मा की स्वर्गप्रापण शक्ति को जानने के लिए भी आत्मज्ञान से निराले ज्ञान उपयोगी होते हैं। अत: सदाकार होने से ज्ञान तत् का व्यवस्थापक है, इस नियम में व्यभिचार हुआ। तदाकार न होते हुए भी प्रमाणज्ञान केवल योग्यता से जैसे अपने स्वरूप को ठीक जान लेता है, ऐसे ही केवल योग्यता से ही अर्थ को जान लेता है, ऐसा मान लो ! प्रतीति के अनुसार वस्तु व्यवस्था मानी जाती है। ज्ञान में विषयों का आकार मानने से प्रतीति का उल्लंघन होता है। ज्ञान के स्वरूप में भी तदाकारता होने से ही ज्ञान शरीर का अधिगम हुआ है, यह कहना भी युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि वह तदाकारता प्रतिबिम्ब और प्रतिबिम्बक दो में रहने वाला धर्म है। अकेले ज्ञान में तदाकारता नहीं बन सकती है। कल्पना की गयी तदाकारता का भी एक ज्ञान में रहना असम्भव है। यदि एक में भी सारुप्य की कल्पना करोगे तो अनवस्था हो जायगी। प्रतिबिम्बक दर्पण में प्रतिबिम्ब्यदर्पण का यदि आकार पड़ना माना जायेगा तो प्रतिबिम्ब्य दर्पण भी तो दर्पण है। वह परितिबिम्बक बन बैठेगा। पुन: उसमें प्रतिबिम्ब्य दर्पण के शरीर का आकार माना जायेगा। यह क्रम दूर तक अमर्यादित होकर चला जायेगा। इसी प्रकार ज्ञान के शरीर में स्वयं ज्ञान का आकार पड़ जाने से अनवस्था हो जायगी। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार जब ज्ञान अपनी व्यवस्था नहीं कर सकेगा तो उससे पदार्थों की संविति होना कैसे संभव होगी[20] ?

ज्ञान सम्बद्ध पदार्थ का ग्राहक है या असम्बद्ध का ? – आचार्य प्रभाचन्द्र ने साकार ज्ञानवाद की आलोचना करते हुए कहा है कि ज्ञान सम्बद्ध पदार्थ का ग्राहक है या असम्बद्ध का ? इसके विषय में हमारा कहना है कि ज्ञान सम्बद्ध पदार्थ का ग्राहक है। ज्ञान और पदार्थ का सम्बन्ध योग्यता या लक्षण वाला है। तदुत्पति लक्षण वाला नहीं है, क्योंकि पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति का हम निषेध करेंगे तथा ज्ञान अर्थाकार है, क्योंकि अर्थ का कार्य है, इस अनुमान में हेतु असिद्ध है। तल्लक्षण सम्बन्ध से ज्ञान पदार्थ के समकाल का ग्राहक है या भिन्न काल का, यह बात विरुद्ध नहीं होती है, अत: "भिन्न कालं कथं ग्राह्यम्" इत्यादि कथन अयुक्त है। दूसरी बात यह है कि आपने आगम में प्रसिद्ध ज्ञान का आश्रय लेकर साकार का प्रसाधन किया जाता है या साकारता अनुभव प्रसिद्ध है ? अपने आगम में प्रसिद्ध ज्ञान का आश्रय लेकर साकार का प्रसाधन किया जाता है तो आपके आगम में प्रसिद्ध अविकल्पक ज्ञान के आकाशकमल के समान होने से साकार से भिन्न उस ज्ञान के विषय में विचार करने का हमारा किञ्चित् भी प्रयोजन नहीं है अर्थात् जैनदर्शन बौद्धों के सविकल्पक ज्ञान को स्वीकार नहीं करना है। अत: प्रवृत्ति और निवृत्ति में कारण जिस सविकल्पक ज्ञान का अनुभव बालक से लेकर वृद्ध तक को होता है, उसी को (जैनदर्शन में) निराकार सिद्ध करने का उपक्रम किया है। किसी भी मनुष्य को यह अनुभव नहीं होता है कि सब ज्ञान अपने आकार को ही जानते हैं, बल्कि अपने से भिन्न पदार्थ के अभिमुख होकर ही वे पदार्थों को जानते हैं, यही लौकिकी-प्रतीति है। लोकव्यवहार का उल्लंघन करने से पदार्थ की व्यवस्था नहीं हो सकती है, अन्यथा धर्मकीर्ति का "प्रामाण्यं व्यवहारेण (प्रमाण वार्तिक 2/5)" इत्यादि कथन से विरोध का प्रसङ्ग उपस्थित होता है तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी विरोध आएगा, क्योंकि प्रत्यक्ष से प्रत्येक पुरुष को विषयाकार से रहित घटादि ग्राहक ज्ञान प्रधानता से अनुभव होता है, दर्पणादि की तरह प्रतिबिम्ब से आक्रान्त अर्थात् साकार ज्ञान की अनुभूति नहीं होती है। अनुमान से यह बात सिद्ध होती है कि जो जिसके द्वारा अपने से भिन्न जाना जाता है, वह उसके द्वारा अतदाकार रूप

से ही जाना जाता है। जैसे स्तम्भ की जड़ता को ज्ञान जड़रूप होकर नहीं जानता। ज्ञान अपने से भिन्न नील आदि पदार्थों को जानता है, अतः निराकार है, यह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि नीलादि का ज्ञान से भेद सिद्ध किया है[21]।

ज्ञान की साकारता के विषय में प्रश्न - यदि ज्ञान को साकार माना जाता है तो ज्ञान की साकारता से क्या आशय है - ज्ञान का स्वसंविद् रूप होना अथवा उसका वैशद्य आदि स्वभाव, अथवा "यह नील है" इस प्रकार अर्थाकार का उल्लेख अथवा अर्थ के आकार को धारण करना? प्रथम तीन विकल्पों में तो कोई आपत्ति हमें नहीं है, क्योंकि ज्ञान में ये तीनों बातें होती हैं, इनमें से एक का भी अभाव होने पर ज्ञान-ज्ञान ही नहीं रह सकता। हाँ ज्ञान का अर्थ के आकार को धारण करना असङ्गत है, क्योंकि नील आदि आकार ज्ञान में संक्रान्त नहीं होता, क्योंकि वह जड़ का ही धर्म है। जो जड़ का ही धर्म होता है, वह ज्ञान में संक्रान्त नहीं होता, जैसे जड़ता। इसी तरह नील आदि आकार भी जड़ का ही धर्म है। शायद कहा जाए कि सत्त्व से व्यभिचार आएगा। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। सत्त्व जड़ का ही धर्म नहीं है, अजड़ (चेतन) सुखादि में भी सत्व धर्म रहता है[22]।

अर्थ के साथ ज्ञान का पूरी तरह सारूप्य है या एकदेश से ? - यदि ज्ञान साकार है तो अर्थ के साथ ज्ञान का पूरी तरह से सारूप्य है अथवा एकदेश से ! पूरी तरह से सारूप्य मानने पर चूँकि अर्थ जड़ है अतः ज्ञान भी जड़ ही हो जायगा और फिर ज्ञान प्रमाण रूप न रहकर प्रमेयरूप हो जायेगा, क्योंकि अर्थ प्रमेय होता है, प्रमाण नहीं होता, किन्तु ऐसा होना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण का अन्तर्मुख रूप से और अर्थ का बाह्य रूप से अलग-अलग प्रतिभास होता है। इस दोष के भय से यदि अर्थ के साथ ज्ञान का एकदेश से सारूप्य मानते हैं तो अजड़ाकार ज्ञान के द्वारा अर्थ की जड़ता की प्रतीति नहीं हो सकेगी, क्योंकि ज्ञान जड़ाकार नहीं है और जो जिसके आकार नहीं होता, वह उसको ग्रहण नहीं कर सकता तथा जड़ता की प्रतीति न होने से "अर्थ जड़ है" यह बोध कैसे हो सकेगा ? और जड़ता की प्रतीति न होने पर नीलता की भी प्रतीति नहीं हो सकेगी, अन्यथा नीलता की प्रतीति होने और जड़ता की प्रतीति न होने से नीलता और जड़ता में भेद हो जायगा।

तथा यदि बुद्ध दूसरों के रागादि को जानते समय तदाकार हो जाते हैं तो दूसरे मनुष्यों के समस्त कल्पनासमूह का अनुकरण करने से वह वीतराग और कल्पनाजाल से रहित कैसे हो सकेंगे? शायद कहा जाय कि परकीय रागादि के आकार का अनुकरण करने पर भी "यह मेरे रागादि हैं", यह बुद्धि नहीं होती, अतः कोई दोष नहीं है तो प्रश्न होता है कि "वे रागादि दूसरों के कैसे हैं ? शायद कहा जाय कि दूसरों को उस प्रकार की बुद्धि होती है कि वे रागादि हमारे हैं ? तो यदि बुद्ध दूसरों की इस बुद्धि के आकार का अनुकरण करते हैं तो वही दोष पुनः आता है। अतः इस दोष के भय से यदि यह मानते हैं कि ज्ञान अतदाकार होकर भी जड़ता को जानता है तो अतदाकार ज्ञान ही नील आदि आकार को भी जान लेगा, फिर ज्ञान को साकार मानने का आग्रह क्यों किया जाता है ?

तथा जैसे एकदेश से सारुप्य होने के कारण ज्ञान नील पदार्थ को जानता है, वैसे ही वह समस्त अर्थों को भी जान लेगा, क्योंकि सत्त्व आदि रूप से सभी पदार्थों के साथ ज्ञान का सारूप्य है। शायद कहा जाय कि सभी पदार्थों के साथ एकदेश से सारुप्य होने पर भी वे पदार्थ नील आदि आकार से विलक्षण होते हैं, अतः उनका ग्रहण नहीं होता तो समान आकार वाले सब पदार्थों के

ग्रहण का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। शायद कहा जाय कि ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है, उसी के आकार का अनुकरण करने पर उसका ग्राहक होता है, केवल सारुप्य मात्र से ग्राहक नहीं होता, तो प्रथम तो क्षण में "नील" यह ज्ञान से उत्पन्न हुआ। यह ज्ञान द्वितीय ज्ञान का जनक है, किन्तु द्वितीय ज्ञान पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान से उत्पन्न होने पर भी तथा तदाकार होने पर भी पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान का ग्राहक नहीं होता। अत: उक्त कथन भी संगत नहीं है।

आकार ज्ञान से भिन्न हो या अभिन्न ? – आकार ज्ञान से यदि भिन्न है तो ज्ञान निराकार ही रहा। यदि अभिन्न है तो ज्ञान और आकार में से कोई एक ही रहा। कथंचित् भेद मानने पर जैनमतानुयायी होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा तथा यदि ज्ञान अपने से अभिन्न आकार को ही ग्रहण करता है तो पर्वत दूर है, "मकान समीप है", इस प्रकार का व्यवहार नहीं होना चाहिए। शायद कहा जाय कि ज्ञान में अपना आकार देने वाले पदार्थ के दूर या समीप होने के कारण ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु दर्पण वगैरह में ऐसा व्यवहार नहीं पाया जाता। अत: विचार करने पर ज्ञान का अर्थाकार होना घटित नहीं होता। इसलिए जो जिसके आकार नहीं होता, वह उसका ग्राहक भी नहीं होता इत्यादि कथन अयुक्त है। तथा जो यह आपत्ति की गई है कि ज्ञान को निराकार मानने पर स्वरूप का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, वह भी उचित नहीं है। ज्ञान का आकार उसका स्व-पर प्रकाशकत्व है, न कि नीलादिपना। नीलादिपना तो अर्थ का धर्म है। अत: स्वपरप्रकाशकत्व रूप आकार के साथ ज्ञान का प्रत्यक्ष होता ही है, क्योंकि "मैं नील को जानता हूँ" यह प्रतीति सभी को होती है। रह जाता है यह प्रश्न कि निराकार होने से ज्ञानों में भेद कैसे किया जायेगा, सो प्रत्येक ज्ञान प्रतिनियत अर्थ का ग्राहक होता है। उसका यह स्वरूप ही एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान को भिन्न करता है। स्वगत धर्म की अपेक्षा से ही पदार्थों में परस्पर भेद करना युक्त है, न कि अन्य के धर्म की अपेक्षा से। यदि अन्य के धर्म की अपेक्षा से भी भेद किया जायेगा तो बड़ी गड़बड़ी उपस्थित होगी।

ज्ञान स्वकारणों के सामने विद्यमान अर्थ में ही नियत रहता है -यह भी आपत्ति की गई है कि यदि ज्ञान को निराकार माना जायेगा तो सब ज्ञान सब पदार्थों के ग्राहक हो जायेंगे, क्योंकि उनमें परस्पर में कोई अन्तर नहीं रहेगा। किन्तु यह आपत्ति भी समीचीन नहीं है, दीपक की तरह ज्ञान स्वकारणों के सामने विद्यमान अर्थ में ही नियमित रहता है, जैसे दीपक घटादि के आकार को धारण करके उसका प्रकाशक नहीं होता, फिर भी वह घर के अन्दर रहने वाले प्रतिनियत पदार्थों का ही प्रकाशन करता है, क्योंकि उसकी शक्ति नियत है। उसी तरह ज्ञान अर्थाकार न होने पर भी प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण तथा प्रतिनियत सामर्थ्य रखने के कारण प्रतिनियत अर्थ को ही जानता है, सबको नहीं जानता है। अत: ज्ञान की साकारता का पक्ष अनेक दोषों से दुष्ट होने के कारण समुचित नहीं हैं।[23]

स्वलक्षण मीमांसा - **बौद्ध** - स्वलक्षण न तो द्रव्य है, न उसका परिणाम है एवं न वह सामान्य है, न विशेष है।

जैन - तब वह स्वलक्षण क्या है ?

बौद्ध -उन सभी से भिन्न ही कोई चीज है कि जिसका शब्द के द्वारा निर्देश करना संभव नहीं है एवं वह प्रत्यक्ष निर्विकल्प बुद्धि में प्रतिभासित होता है, उसी को हम स्वलक्षण कहते हैं।

जैन- ऐसा कहने पर भी तो जात्यन्तर रूप सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही स्वलक्षण है, ऐसा सिद्ध हो जाता है और वही परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेष एवं उसी प्रकार के परस्पर निरपेक्ष

गुण और द्रव्य से भिन्न रूप है तथा वही प्रत्यक्षज्ञान में प्रतिभासित होता है, क्योंकि निरन्वय क्षणक्षयी निरंश परमाणु लक्षण तो सुष्ठप्रत्यक्ष के द्वारा लक्षित नहीं होता है अर्थात् जाना नहीं जाता है, तथा उसी सामान्य विशेषात्मक रूप स्वलक्षण में अक्ष से उत्पन्न होने वाला एवं अपने नामविशेष से निरपेक्ष व्यवसाय क्यों नहीं होगा? जिससे कि स्वलक्षण अशब्द-शब्दरहित का व्यवसाय न करे अर्थात् उल्लेख के बिना भी "घटमहमात्मना वेद्मि" ऐसा प्रत्यय देखा जाता है। इसलिए सामान्य और विशेष में अभेद होने से सामान्य के समान ही स्वलक्षण अध्यवसाय करता हुआ शब्द के द्वारा योजना करता है। इसलिए किञ्चित् भी प्रमेय अनभिलाप्य नहीं है, किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य ही है, क्योंकि शब्द से योजित वस्तु श्रुतज्ञान का विषय है, ऐसी उपपत्ति है।[24]

बौद्धों द्वारा स्वीकृत क्षण-क्षण में नष्ट हो रहा केवल स्वलक्षण द्रव्य ही शब्द का विषय नहीं है, क्योंकि उन स्वलक्षणों में सम्पूर्ण रूप से संकेत नहीं किया जा सकता है, कारण कि वे स्वलक्षण अनन्त हैं। अनेक स्वलक्षणों में संकेत करना अनेक जन्मों से भी साध्य कार्य नहीं है। यदि एक स्वलक्षण व्यक्ति में संकेत किया जावेगा तो एक व्यक्ति का अन्य व्यक्ति में अन्वय न होने के कारण अभीष्ट परोक्ष अर्थ में प्रवृत्ति निवृत्ति आदि के व्यवहार होने का विरोध होगा।[25]

जिस परमाणुस्वरूप क्षणिक स्वलक्षण को आज तक स्वयं प्रतिपादक और प्रतिपाद्यों ने नहीं जाना है, ऐसे स्वलक्षण तत्त्व में वाचक शब्दों का संकेत करना भी असंभव है। वाच्य पदार्थों का प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से इन्द्रिय, हेतु आदि की सामर्थ्य से निर्णय कर लेने पर वाचकों का प्रवृत्ति होना घटता है, अन्यथा समझने वाले प्रतिपाद्य को शब्द की वाच्य अर्थ की अपेक्षा करना व्यर्थ पड़ेगा। पयार्ययुक्त द्रव्यों में संकेत ग्रहण और व्यवहार करना होता है, किन्तु स्वलक्षण के समान नित्यद्रव्य भी व्यवहार के योग्य नहीं है, क्योंकि उन द्रव्यों में अनन्तपना सामान्यरूप से विद्यमान है। अत: शब्द के द्वारा क्षणिक स्वलक्षण और नित्यद्रव्य इन दोनों का वाचन नहीं हो सकता है।[26]

बौद्धों ने कहा था कि जिस समय सारे विकल्पों का संहार कर दिया जाता है, उस अवस्था में विधि, निषेधों से रहित स्वलक्षण तत्त्व दिख ही जाता है। इस पर जैनाचार्यों का प्रश्न है कि जिस दशा में विकल्पों का संहार हो चुका है, उस इष्ट दशा में स्वलक्षण तत्त्व सम्पूर्ण धर्मों से रहित प्रतिभास हो रहा है. इस बात को आप बौद्धों ने कैसे निश्चय किया ? यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही निश्चय किया कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि आपने उस प्रत्यक्ष को निश्चय कराने वाला नहीं माना है। यदि आप यों कहें कि प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं तो निश्चयरूप नहीं है, किन्तु निश्चय का जनक होने से वह प्रत्यक्ष प्रमाण निश्चायक अवश्य है। तब हमारा कहना है कि अस्तिपन, नास्तिपन आदि धर्मों का विकल्पज्ञानरूप निश्चय की उत्पत्ति करने से उनका निश्चयज्ञान भी प्रत्यक्षप्रमाण हो जाओ, क्योंकि जो निश्चय को पैदा करता है वह प्रत्यक्ष आपने माना है। अन्यथा प्रत्यक्ष को स्वलक्षण के निश्चायकपने का विरोध होगा।[27]

बौद्ध- अस्तित्व आदि धर्मों की हृदय में बैठी हुयी मिथ्या वासनाओं की अधीनता से उन अस्तित्त्व आदि धर्मों का निश्चय उत्पन्न होता है। अत: उस निश्चय का जनक प्रत्यक्ष प्रमाण उनका निश्चायक नहीं है।

जैन- सम्पूर्ण धर्मों से रहित शुद्ध स्वलक्षण प्रतिभासित हो गया है, इस निश्चय की भी उत्पत्ति स्वलक्षण की झूठी वासना के सामर्थ्य से हो जायगी। अत: वह प्रत्यक्ष उस निश्चय का जनक न होवे। स्वलक्षण और अस्तित्वादि धर्म इन सबके निश्चय कराने का उपाय वासनायें हो सकती

हैं । स्वलक्षण में प्रत्यक्षरूप अनुभव के न करने पर पीछे से निश्चय नहीं हो सकेगा, यह तो माना जाय और - फिर अस्तित्वादि धर्मों में प्रत्यक्षरूप अनुभव किए बिना निश्चय न होना यह न माना जाय, इस प्रकार पक्षपात करना केवल अपनी मनमानी रूचि का प्रकाश करना मात्र है ।[28] वासनाओं से न मानकर केवल शब्द सुनने से ही उन अस्तित्वादि धर्मों के निश्चय की उत्पत्ति मानी जायगी तो स्वलक्षण के निर्णय की उत्पत्ति उसे ही सुनने मात्र से हो जाय और वैसा होने पर तो वास्तविक रूप से स्वलक्षण की सिद्धि नहीं हुई, जैसे कि उसके धर्म अस्तित्वादिकों की सिद्धि केवल शब्द के सुनने से नहीं होती । यदि उस स्वलक्षण के निश्चय को उत्पन्न करने में नहीं समर्थ भी प्रत्यक्ष से स्वलक्षण की सिद्धि मानी जायगी तब तो उस स्वलक्षण के अस्तित्वादि धर्मों की भी निश्चय को पैदा न करने वाले उस प्रकार के प्रत्यक्ष से सिद्धि हो जावेगी ।[29] फिर आप स्वलक्षण को अस्तित्व आदि सात धर्मों से रहित कैसे कह रहे हैं ?

बौद्ध- प्रत्यक्ष प्रमाण में स्वलक्षण ही स्पष्ट प्रतिभास रहा है, उसके कितने ही धर्म तो नहीं ि्ख रहे हैं ।

जैन- यह कहना युक्तिरहित है । अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों से घिरी हुई वस्तु का ही प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिभास हो रहा है ।

बौद्ध- प्रत्यक्ष से पीछे उत्तरकाल में उसके धर्म होकर नहीं निश्चित किए गए अस्तित्वादि धर्म कैसे प्रतिभास हो रहे हैं ?

जैन- हम आपसे पूछते हैं-आपका स्वलक्षण भी कैसे प्रतिभास रहा है ?

बौद्ध- वह स्वलक्षण तो प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले निश्चय के द्वारा सामान्यस्वरूप स्वलक्षण रूप से निश्चित ही है ।

जैन- इस स्वलक्षण के अस्तित्व आदि धर्म भी सामान्यस्वरूप से निश्चित हो चुके हैं, वे अनिश्चित क्यों समझे जायें ?

बौद्ध- विशेष ही वास्तविक पदार्थ है, समान आकार तो अवस्तु है । इस कारण उस सामान्यपने से निश्चित किए गए वे धर्म वास्तविक न हो सकेंगे ।

जैन- उस सामान्यपने से निश्चित किया गया स्वलक्षणतत्त्व भी वास्तविक सद्भूत कैसे कहा जा रहा है ?

बौद्ध- उस प्रकार उस अवास्तविक सामान्य से निश्चय किया गया वह स्वलक्षण अवस्तु ही है ।

जैन- जब तो यह अभिप्राय हुआ कि जिस प्रकार स्वलक्षण निश्चित न किया जाय, उसी प्रकार से वह परमार्थभूत है, किन्तु यह बात तो उपपत्ति से रहित है अर्थात् इस प्रकार स्वलक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती है । जैसे ब्रह्माद्वैतवादी आदि अपने ब्रह्म आदि का निश्चय न कराते हुए केवल सत्पने से अपने अभीष्ट तत्त्व को सिद्ध नहीं कर पाए ।

बौद्ध- स्वलक्षण तत्त्व ही वास्तविक रूप से सत् पदार्थ है, क्योंकि वह अपने योग्य अर्थक्रियाओं का कारण है । ब्रह्म, शब्द, ज्ञान आदि का अद्वैत अर्थक्रिया का कारण न होने से वास्तविक नहीं है ।

जैन- यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सत्त्व आदि धर्म का अभाव मानने पर उस स्वलक्षण को उस अर्थक्रिया का निमितपना सिद्ध नहीं होता है, जैसे कि गधे के सींग, आकाश के फूल आदि

का सत्त्व न होने से अर्थक्रियाकारीपन नहीं है। जो सत् होगा, वही अर्थक्रिया को करेगा। आप बौद्धों ने उक्त अनुमान में सत्त्व को साध्य बना रखा है, वह स्वलक्षण रूप पक्ष में रहना ही चाहिए। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकार से क्षणिकपन का एकान्त ग्रहण करने पर सर्वपदार्थों में अर्थक्रिया के निमित्तपन का निराकरण कर दिया गया है। जो प्रथम क्षण में आत्मलाभ कर चुका है, वही तो द्वितीयक्षण में ठहरकर अर्थक्रिया कर सकता है, किन्तु जो द्वितीय क्षण में समूलचूल नष्ट हो जायगा, वह किस कार्य को करेगा। घट, पट आदि बहिरङ्ग अथवा आत्मा, ज्ञान आदि अन्तरङ्ग पदार्थों के अनेक धर्मात्मक होने पर ही उस अर्थक्रिया के निमित्तपन का युक्तिपूर्वक समर्थन किया गया है।[29]

सौत्रान्तिक मत में सर्वज्ञता - सौत्रान्तिकों का कहना है कि जब कामादिक के भावनाज्ञान से असत्यभूत भी कामिनी आदिकों का सामने स्थितों की तरह स्पष्ट साक्षात् प्रत्यक्षज्ञान उपलब्ध होता है तब कोई कारण नहीं है कि श्रुतमयी और चिंतामयी भावना ज्ञान से, जो परमप्रकर्ष को प्राप्त है, दुख समुदय, निरोध और मार्ग इन चार-चार परमार्थभूत आर्यसत्यों का योगी को साक्षात् प्रत्यक्षज्ञान न हो, क्योंकि भावना के प्रकर्ष से स्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति सिद्ध करने में स्पष्ट ज्ञान के जनक कामिनी आदि में होने वाले भावना ज्ञान को हम दृष्टान्तरूप से प्रतिपादन करते हैं। श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाज्ञान अवस्तु को विषय करने वाला नहीं है, क्योंकि उससे तत्त्व प्राप्य है। परार्थानुमानरूप त्रिरूप लिङ्ग प्रकाशक वचन को श्रुत कहते हैं और स्वार्थानुमानरूप साध्य के अविनाभावी (साध्य के होने पर होने वाला और साध्य के अभाव में न होने वाला) त्रिरूपलिङ्ग के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं। इन दोनों भावनाज्ञानों का विषय दो प्रकार का है - एक प्राप्य और दूसरा आलम्बनीय। उनमें जो आलम्बनय होने वाला है, उसका विषयभूत सत्सामान्य है, वह अवस्तु है, इसलिए आलम्बनीय विषय की अपेक्षा से वह अतत्त्वविषयक होने पर भी प्राप्यस्वलक्षण की अपेक्षा से वस्तुविषयक व्यवस्थापित किया जाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही में वस्तुविषयक प्रामाण्य है अर्थात् प्रत्यक्ष की तरह अनुमान में भी वस्तुविषयक प्रमाणता है।[30] कहा भी है-

अर्थ के अभाव में न होने से प्रत्यक्ष में भी प्रमाणता है और साध्य के सद्भाव में होने वाला तथा साध्य के असद्भाव में न होने वाला अर्थात् साध्याविनाभावी त्रिरूपलिङ्ग- प्रतिबद्ध स्वभाव वाला साधन अनुमान में कारण है- उसके होने पर ही अनुमान उत्पन्न होता है और उसके न होने पर अनुमान उत्पन्न नहीं होता है और इसलिए उसमें भी प्रमाणता है। अतएव प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों समान हैं।[31]

इस प्रकार चरमप्रकर्ष को प्राप्त श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाज्ञान से स्पष्टतम् अत्यन्त विशद चार आर्यसत्यों का ज्ञान उत्पन्न होने में कोई विरोध नहीं है और इसलिए सुगत के सर्वज्ञता प्रसिद्ध ही है, जैसे परम वैतृष्ण्य भाव अर्थात् तृष्णा का सर्वथा अभाव। क्योंकि जो सम्यक् प्रकार से पूर्णता को प्राप्त है, वह सुगत है, ऐसी सुगत शब्द की व्युत्पत्ति है जैसे- सुपूर्ण कलश "सु" शब्द सम्पूर्ण अर्थ का वाची है। जो सम्पूर्ण चतुरार्यसत्यों के साक्षात् ज्ञान को प्राप्त हो जाता है, उसे सुगत कहा जाता है। जो शोभन- शोभा को प्राप्त है उसे सुगत कहते हैं ऐसी भी सुगत शब्द की व्युत्पत्ति है, क्योंकि सुरूप कन्या की तरह "सु" शब्द यहाँ शोभनार्थक है। यथार्थ में अविद्या और तृष्णा से रहित ज्ञान सन्तान को शोभन कहा जाता है और सुगत अशोभन अविद्या तथा तृष्णा

से रहित है, इसलिए उस शोभन ज्ञान सन्तान को जो प्राप्त है, वह सुगत है, क्योंकि निरास्रव चित सन्तान को सुगत वर्णित किया गया है तथा जो अच्छी तरह चला गया -फिर लौटकर नहीं आता, उसे सुगत कहते हैं। यहाँ 'सु' शब्द का अनावृत्ति -लौटकर न आना - अर्थ है, जैसे सुनष्ट ज्वर अर्थात् अच्छी तरह चला गया- फिर लौटकर न आने वाला ज्वर। चूंकि जो सुगतत्व को प्राप्त हो चुके हैं उन्हें पुन: अविद्या और तृष्णा से व्याप्त चितसन्तान प्राप्त नहीं होता और सदैव निरास्रव चित सन्तान प्राप्त होता रहता है।[32] कही भी है -

"सुगतों की महान् कृपायेंदूसरों के लिए बनी ही रहती हैं- सदैव ठहरी रहती हैं।[33]"

कृपायें तीन प्रकार की हैं, एक तो सत्त्वालम्बना-जीवमात्र को लेकर होने वाली, जो पुत्र, स्त्री वगैरह में की जाती है, दूसरी धर्मालम्बना- धर्म की अपेक्षा से होने वाली जो श्रमण संघ आदि में की जाती है और तीसरी निरालम्बनासत्त्व धर्मादि किसी की भी अपेक्षा से न होने वाली अर्थात् रागानिरपेक्ष, जो पत्थर के टुकड़े से दबे या साँप से उसे मेढ़क का उद्धार करने आदि में की जाती है। इनमें सबसे बड़ी कृपा सुगतों की निरालम्बना कृपा है, क्योंकि उसमें सत्त्व और धर्म दोनों ही की अपेक्षा नहीं होती है और इसीलिए वे सदैव स्थिर रहती हैं। कभी उनका नाश नहीं होता, क्योंकि सभी सुगत धर्मोपदेश द्वारा जगत का उपकार करने में सतत तत्पर रहते हैं और जगत अनन्त है, संसारी प्राणी अनन्त संख्यक हैं। अतएव "मैं जगत् का हित करने के लिए बुद्ध होऊँ" इस भावना से सुगतों को बुद्धत्व प्रवर्तक धर्मविशेष का लाभ होता है और इसलिए उनके विवक्षा के अभाव में भी धर्मोपदेश का कोई विरोध नहीं है- वह बन जाता है। यही कारण है कि समस्त कल्पनाओं से रहित बुद्ध के मोक्षमार्ग का उपदेश करने वाली वाणी की धर्मविशेष से ही प्रवृत्ति होती है अत: सुगत ही मोक्षमार्ग का प्रतिपादक सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित होता है, क्योंकि वह विश्वतत्त्वज्ञ है और सम्पूर्ण रूप से तृष्णा रहित है।[34]

सुगत की विश्वतत्त्वज्ञता की समीक्षा - सौत्रान्तिक मान्य सुगत की विश्वत्त्वज्ञता के विषय में जैनों का कहना है कि सौत्रान्तिकों की तत्त्वव्यवस्था को वे सम्भव नहीं मानते हैं ऐसी स्थिति में सुगत विश्वतत्त्वज्ञ कैसे हो सकता है ? आपके द्वारा माने गए प्रतिक्षणविनाशी बहिरर्थपरमाणु प्रत्यक्ष से न तो कभी अनुभूत हुए हैं और न अनुभव में आते हैं, स्थिर स्थूल और साधारण आकार वाले घटादिक पदार्थों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभास होता है।

सौत्रान्तिक - अत्यन्त निकटवर्ती और परस्पर संसर्ग से रहित परमाणु प्रत्यक्षज्ञान में प्रतिभासित होते हैं लेकिन प्रत्यक्ष के पीछे उत्पन्न होने वाली कल्पना, जो कि संवृति है- अवास्तविक है। स्थिर, स्थूल और सामान्य आकार को, जो वास्तव में अविद्यमान है- उसमें नहीं है, अपने में आरोपित करती है और इसी से पाँच विज्ञानकाय सांवृतालम्बी -काल्पनिक कहे जाते हैं।

जैन- यदि ऐसा है तो विचार कीजिए कि निरन्तर क्षणिक परमाणुओं की अत्यन्त निकटवर्तिता क्या है ?

सौत्रान्तिक- परमाणुओं के मध्य में व्यवधान न होना, यह उनकी अत्यन्त निकटवर्तिता है।

जैन- जो आपने सजातीय और विजातीय व्यवधायक के न होने से उनके व्यवधानाभाव को संसर्ग ही बतलाया जान पड़ता है। वह संसर्ग सम्पूर्णपने से सम्भव नहीं है, क्योंकि एक

परमाणुमात्र के प्रचय का प्रसङ्ग आता है। एकदेश से भी वह संसर्ग संभव नहीं है, क्योंकि छह दिशाओं से छह परमाणुओं द्वारा एक परमाणु के साथ सम्बन्ध होने पर उस परमाणु के षडंशता की प्राप्ति होती है।

सौत्रान्तिक- इसी से असम्बद्ध परमाणु प्रत्यक्ष से उपलब्ध होते हैं।

जैन- फिर उन्हें आप अत्यन्त निकटवर्ती कैसे कहते हैं ? क्योंकि परस्पर विरोध है- जो असम्बद्ध हैं, वे अत्यन्त निकटवर्ती कैसे ? और जो अत्यन्त निकटवर्ती हैं वे असम्बद्ध कैसे ?

सौत्रान्तिक- दूर देश का व्यवधान न होने से उन्हें अत्यन्त निकटवर्ती कहा जाता है।

जैन- इसका तात्पर्य यह हुआ कि आप उनके समीपदेश का व्यवधान स्वीकार करते हैं और उस दशा में आपको यह बतलाना पड़ेगा कि समीपदेश रूप व्यवधायक वस्तु व्यवधीयमान परमाणुओं से सम्बद्ध है या व्यवहित ? अन्य विकल्प का अभाव है। सम्बद्ध ? तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह सम्बन्ध सम्पूर्णपने और एकदेश दोनों तरह से भी नहीं बनता है। व्यवहित भी वह नहीं है, क्योंकि अन्य व्यवधायक की कल्पना का प्रसंग आता है, कारण वह अन्य व्यवधायक भी व्यवधीयमान परमाणुओं से सम्बद्ध है या व्यवहित ? इस तरह पुनः-पुनः प्रश्न होने पर अनवस्था प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में अत्यन्त निकटवर्ती और असम्बद्ध रूप बाह्य परमाणु कहाँ सम्भव है, जो प्रत्यक्ष के विषय हों, और जब वे प्रत्यक्ष के विषय नहीं है तब परमाणुरूप कार्यलिङ्ग हेतु अथवा स्वभावलिङ्ग हेतु भी प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता, जैसे परमाणुरूप साध्य और जब वे परमाणुरूप साध्य साधन दोनों असिद्ध हैं तो कार्यकारण में कार्यकारणभाव और व्याप्य व्यापक में व्याप्य व्यापक भावरूप सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष- अन्वय और अनुपलम्भ-व्यतिरेक के बिना उसकी सिद्धि सम्भव नहीं है और उसकी सिद्धि न होने पर स्वार्थानुमान उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि वह लिङ्ग दर्शनलिङ्ग के देखने और साध्य साधन सम्बन्ध के स्मरण होने से ही उत्पन्न होता है, यह प्रसिद्ध है। अत: उनके अभाव में वह नहीं बन सकता है। इस प्रकार श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनायें कहाँ बनती हैं, जिससे उनके चरम प्रकर्ष से उत्पन्न होने वाला योगिप्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है। तात्पर्य यह कि उक्त भावनाओं के सिद्ध न होने से उनसे योगिप्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानना असम्भव और असङ्गत है। अत: सुगत के सर्वज्ञता नहीं है।[35]

विपर्यय ज्ञान- मिथ्या ज्ञान के तीन भेद हैं -(1) संशय (2) विपर्यय (3) अनध्यवसाय[36] विरूद्ध अनेक कोटियों के स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है[37] -जैसे स्थाणु है या पुरुष ? विपरीत एक कोटि के निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय ज्ञान कहते हैं[38] जैसे सीप में "यह चाँदी है" इस प्रकार का ज्ञान। क्या है? इस प्रकार के अनिश्चयरूप सामान्य ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे- मार्ग में चलते हुए तृण, कंटक आदि के स्पर्श हो जाने पर ऐसा ज्ञान होना कि "यह क्या है[39]" इनमें से विपर्यय ज्ञान के विषय में भारतीय दर्शनों में मतभेद है। बौद्धों की सौत्रान्तिक तथा माध्यमिक शाखा के अनुयायी इसे असत् ख्याति तथा योगाचार आत्मख्याति नाम से कहते हैं। असत् ख्याति तथा आत्मख्याति के विषय में जैनाचार्यों ने पर्याप्त विचार कर इनका निराकरण किया है, जो इस प्रकार है-

असत्ख्यातिवाद – माध्यमिक तथा सौत्रान्तिकों का कहना है कि ज्ञान में प्रतिभासमान अर्थ का जब विचार किया जाता है, तब वह सद्रूप नहीं है, किन्तु असद्रूप है, ऐसा ही दिखाई देता है।

अत: विपर्यय ज्ञान का विषय असत् ख्यातिरूप -नास्तिरूप ही मानना चाहिए । सीप के टुकड़े में सीप आदि का प्रतिभास तो होता नहीं, प्रतिभास तो रजत का होता है, किन्तु रजत (चाँदी) वहाँ सत् रूप से है नहीं ?[40] सीप में "यह चाँदी है" इस प्रकार जो वस्तु स्वरूप प्रतिभासित होता है, वह ज्ञान का धर्म है या अर्थ का ? ज्ञान का धर्म तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसकी प्रतीति तो अहङ्कार के रूप में न होकर बाहर में "यह" इस रूप में होती है तथा अर्थ का भी धर्म नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा जो काम होना चाहिए वह नहीं होता । उतरकाल में होने वाले बाधक ज्ञान से उस वस्तु रूप का अर्थ का धर्म होना बाधित हो जाता है । अत: "यह चाँदी है" इस ज्ञान में असत् का ही प्रतिभास होता है, इसलिए उसे असत्ख्याति कहते हैं ।[41]

असत् का प्रतिभास होना ही संभव नहीं है- जैन आचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि आकाशकुसुम की तरह असत् का प्रतिभास होना ही सम्भव नहीं है तथा असत् भी हो और उसका प्रतिभास हो, ये दोनों बातें विरुद्ध हैं । पदार्थों का प्रतिभासमान होना ही उनका अस्तित्व है । क्या सर्वथा असत् गधे के सींग जैसी वस्तुओं का स्वप्न में भी प्रतिभास होता है ? यदि भ्रान्त ज्ञानों का विषय असत् माना जायेगा तो भ्रान्तियों में जो अनेकरूपता देखी जाती है, उसका अभाव हो जायगा, क्योंकि उस नानारूपता का कोई कारण नहीं रहता । असत्ख्यातिवादी न तो ज्ञान में वैचित्र्य मानते हैं और न अर्थ में वैचित्र्य मानते हैं, तब उस वैचित्र्य के निमित्त से जो अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ होती हैं,वे कैसे हो सकेंगी ?[42]

वस्तुस्वरूप का सर्वथा असत्व सिद्ध नहीं होता - ऐसे ज्ञानों में अर्थक्रियाकारित्व नहीं देखा जाता । इस विषय में आचार्य प्रभाचन्द्र बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि कौन सा अर्थ क्रियाकारित्व ऐसे ज्ञानों में नहीं पाया जाता ? ज्ञानसाध्य अर्थक्रियाकारित्व नहीं पाया जाता अथवा ज्ञेयसाध्य अर्थक्रियाकारित्व नहीं पाया जाता । प्रथम पक्ष में तो "यह चाँदी है" इस रूप से प्रतिभासित होने वाले वस्तु स्वरूप का सर्वथा असत्व सिद्ध नहीं होता, वह ज्ञान का धर्म नहीं है, इसलिए आप उसे असत् कह सकते हैं न कि सर्वथा असत्, क्योंकि यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु का काम न कर सके तो इससे उस वस्तु का असत्व सिद्ध नहीं होता, अन्यथा घट पट का काम नहीं कर सकता, इसलिए घट के भी असत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, अत: प्रथम पक्ष ठीक नहीं है ।[43]

केवल बाधक ज्ञान से वस्तुरूप का अर्थ धर्म होना बाधित नहीं होता है- केवल बाधक ज्ञान से उस वस्तु रूप का अर्थधर्म होना बाधित होता है- यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि मरीचिका में जल का ज्ञान होने पर जल के निमित्त से होने वाली अर्थक्रिया जल पीने की इच्छा, उसमें प्रवृत्ति आदि होती ही है ।

प्रश्न - फिर उस ज्ञान को भ्रान्त क्यों कहा जाता है ?

उत्तर- उसमें स्नानादि नहीं किया जा सकता । वास्तव में अर्थक्रिया दो प्रकार की होती है- एक तो अर्थमात्र से उत्पन्न होने वाली और एक सच्चे अर्थ से होने वाली । वस्तु को देखकर उसकी अभिलाषा आदि होना अर्थमात्र से होने वाली अर्थक्रिया है और स्नान पान आदि कर सकना सत्य अर्थ से होने वाली अर्थक्रिया है । अत: जो ज्ञान इस दूसरे प्रकार की अर्थक्रिया को कर सकने में समर्थ अर्थ को ही ग्रहण करता है, वही ज्ञान अभ्रान्त होता है, दूसरा नहीं । अत: असत्ख्याति पक्ष भी नहीं बनता ।[44]

आत्मख्याति – आत्मख्यातिवादियों का कहना है कि सीप में "यह चाँदी है" इस प्रकार चाँदी प्रतिभासित होती है, उसका बाहरी बाधक प्रत्यय के कारण प्रतिभास नहीं बनता है। पदार्थ जैसे प्रतिभासित होते हैं वैसे ही हैं, यह स्वीकार करना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भ्रान्तपने के अभाव का प्रसङ्ग आता है। अत: ज्ञान का ही यह आकार अनादि अविद्या वासना की सामर्थ्य से बाह्य के समान प्रतिभासित होता है।

निराकरण – आत्मख्यातिवादियों का मत असमीचीन है। क्योंकि संवित् के स्वरूपमात्र में निष्ठ रहने पर तथा पदार्थाकार धारण करना सिद्ध होने पर आत्मख्याति सिद्ध होती है, किन्तु ऐसा होना सिद्ध नहीं है। स्वाकारमात्र ग्राहित्व होने पर समस्त ज्ञानों का भ्रान्ता भ्रान्तविवेक और बाह्यबाधक भाव प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर किसी के भी व्यभिचार का अभाव है। स्वात्मस्वरूप से रजताद्याकार का संवेदन होने पर "मैं चाँदी हूँ" इस प्रकार स्वात्मनिष्ठ ही संवित्ति होगी, "यह चाँदी है" इस प्रकार बहिर्निष्ठ ज्ञान (संवित्ति) नहीं होगा। जिसकी स्वात्म रूप में अनुभूति होती है, उसकी बहिर्निष्ठ अनुभूति नहीं होती है, जैसे विज्ञान स्वरूप में। आत्मख्यातिवादियों के मत में रजताद्याकार स्वात्मरूप में अनुभव में आते हैं। यदि यह अनादि अविद्या के वासना के वश बहिर्निष्ठ रूप में प्रतीत होती है तो इस प्रकार विपरीत ख्याति क्यों न हो? क्योंकि ज्ञान मे अभिन्न रजताद्याकार का बहिर्निष्ठतया अध्यवसाय होता है।

दूसरी बात यह है कि विज्ञानाद्वैत अथवा ब्रह्माद्वैत में यह आत्मख्याति होगी। इन दोनों अद्वयों में द्वयदर्शननिबन्धना भ्रान्ति कैसे होगी। यदि अनादि विद्या के उपद्रव से दोनों में भ्रान्ति कहो तो हमारा प्रश्न है कि वहाँ भी स्वरूप प्रतिभासित होता है या अन्य रूप? यदि स्वरूप प्रतिभासित होता है तो भ्रान्ति कैसे होती है? यदि अन्यरूप प्रतिभासित होता है तो आत्मख्याति कैसे होगी। यदि कहते हो कि आत्मरूप का ही भ्रान्तिवश अन्यरूप में अवभासन होता है तो ऐसा मानने पर इतरेतराश्रय दोष होता है, क्योंकि अन्य रूप के अवभासन से बुद्धि के भ्रान्तत्व की सिद्धि हो और बुद्धि का भ्रान्तत्वसिद्ध होने पर अन्य रूप के अवभासन की सिद्धि हो। यदि ज्ञान का बाह्यार्थविषयपना इष्ट नहीं है तो जब तक रजताद्याकारोल्लेखेन वह होता है तब तक नीलाद्याकारोल्लेखेन कैसे नहीं होता है, क्योंकि नियामक का अभाव है। यदि अनादि अविद्या वासना ही उसकी नियमिका है तो इस प्रकार कैसे देशादिनियम से उस ज्ञान की उत्पत्ति होगी? यदि कहो कि अविद्या का यही माहात्मय हैं कि ज्ञान में देशादिनियम के न होने पर भी दर्शित करती है तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर असत्ख्यातिपने का प्रसङ्ग आ जायगा। दूसरी बात यह है कि आत्मख्यातिवादियों को छेदन, अभिघात आदि की प्रतीति कैसे होगी? स्वरूप मात्र संवित्ति मानने पर इस प्रकार की प्रतीति असंभव है। विज्ञानस्वरूप सुखादि की संवित्ति में वह प्रतीति देखी नहीं गई है। आत्मख्यातिपक्ष ठीक नहीं है।[45]

फुटनोट

1. हरिभद्रसूरि : षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 73-74
2. अभिधर्मकोश स्फुटार्थी पृ. 12
3. प्रो. उदयचन्द्र जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका पृ. 45-46
4. धर्मकीर्ति: प्रमाणवार्त्तिक 3/247
5. प्रमाणवार्त्तिक 3/302
6. वही 3/305
7. प्रमाणवार्त्तिक 3/369 - न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग पृ. 165-166
8. पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य- सिद्धिविनिश्चय टीका-प्रस्तावना पृ. 99-100
9. प्रमाणवार्त्तिक 2/57-58
10. विद्यानन्द : तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक (भाग-2) पृ. 404-405
11. तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ. 274, प्रमाणवार्त्तिक टीका 1/48
12. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन न्याय पृ. 244
13. विद्यानन्द : अष्टसहस्री पृ. 141 (मुम्बई संस्करण)

13अ. आप्तमीमांसा-112

13ब. अष्टसहस्री पृ. 292-293 व्याख्या-कारिका-112

14. तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक (भाग-2) पृ. 242
15. वही पृ 242
16. वही पृ. 244
17. वही पृ. 251
18. वही पृ. 388
19. वही पृ. 388
20. वही पृ. 389
21. आचार्य प्रभाचन्द्र: कुमुदचन्द्र पृ. 167 (प्रथम भाग)
22. वहीपृ. 167-168
23. प्रभाचन्द्र: न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 168-172 (प्रथम भाग) पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन न्याय पृ. 89-91
24. विद्यानन्द : अष्टसहस्री पृ. 121
25. तत्वार्थश्लोक वार्त्तिक पृ. 208 (भाग-2)
26. वही पृ. 208 (भाग-2)
27. विद्यानन्द : तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक पृ. 405 भाग-2
28. वही पृ. 406
29. वही पृ. 406

29अ. विद्यानन्द : तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक (भाग-2) पृ 408

30. विद्यानन्द :आप्तपरीक्षा पृ. 172-173
31. वही पृ 173 पर उद्धृत
32. आप्तपरीक्षा पृ 173- 174
33. प्रमाणावार्त्तिक 2/199
34. आप्तपरीक्षा पृ. 174-175
35. आप्तपरीक्षा पृ. 176-177
36. तत्वार्थवार्त्तिक पृ. 44
37. न्यायदीपिका पृ. 9
38. वही पृ. 9
39. वही पृ. 9
40. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ 143
41. न्या. कु. च (प्रथम भाग) पृ. 60
42. वही पृ 60-61
43. वही पृ. 61
44. न्या. कु च (प्रथम भाग) पृ. 61
45. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 62-63

□□□

षष्ठ परिच्छेद

क्षणिकवाद समीक्षा

पूर्वपक्ष - परमनिकृष्ट अर्थात् सबसे सूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं। संसार के सभी संस्कार या पदार्थ एक क्षण तक ही रहते हैं और द्वितीय समय में वे स्वत: नष्ट हो जाते हैं, अतएव क्षणिक हैं। बौद्ध पदार्थों को क्षणिक इस प्रकार मानते हैं -

बौद्ध - जगत् के सभी पदार्थ अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं। ये पदार्थ अपने कारणों से विनश्वर स्वभाव लेकर उत्पन्न होते हैं या अविनश्वर स्वभाव लेकर? यदि पदार्थ अविनश्वर अर्थात् सदास्थायी नित्य स्वभाव वाले हैं तो नित्य पदार्थ क्रम तथा युगपत् दोनों ही प्रकार से अर्थक्रिया करने में असमर्थ होने के कारण असत् ही सिद्ध होता है, क्योंकि जो अर्थक्रिया करा है वही परमार्थ रूप से सत् है[1]। जब नित्य पदार्थ कोई अर्थक्रिया करने की तैयारी करता है तब वह उन अर्थक्रियाओं को क्रम से करता है या सभी को एक साथ ही कर देता है ? क्रम से तो कर नहीं सकता, क्योंकि जिस समय वह एक कार्य को करता है, उस समय उसमें दूसरे तीसरे आदि समयों में होने वाली अर्थक्रियाओं के करने का स्वभाव है या नहीं ? यदि स्वभाव है तब क्रम से कैसे कार्य करता है ?

नित्यवादी - सहकारी कारण जब-जब मिल जाते हैं, नित्य उन्हें तब-तब उत्पन्न कर देता है।

क्षणिकवादी - जब सहकारी कारण नित्य की सहायता करते हैं तब वे नित्य पदार्थ में कुछ सामर्थ्य या अतिशय भी उत्पन्न करते है या नहीं ? यदि करते है तब नित्य के स्थायी पूर्व स्वभाव में कुछ परिवर्तन करते हैं या नहीं ? यदि पूर्व स्वभाव का परित्याग करते हैं तो तदवस्थ नहीं रहने के कारण अनित्यता प्राप्त होती है।

नित्यवादी - यद्यपि सहकारी कारण कोई नवीन अतिशय उत्पन्न नहीं करते और न उसके किसी पूर्वस्वभाव का विनाश ही करते हैं, फिर भी नित्य पदार्थ विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति के निमित्त उन अकिंचित्कर सहकारियों की भी अपेक्षा करता है[2]।

क्षणिकवादी - यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "परपदार्थ यदि कुछ कार्य करे या किसी प्रयोजन को साधे तभी उसकी अपेक्षा की जा सकती है। जो अकिंचत्किर है - किसी भी प्रयोजन का नहीं है, उस भारभूत पदार्थ की कोई क्यों अपेक्षा करेगा[3]?

यदि नित्य पदार्थ में प्रथम अर्थक्रिया करते समय द्वितीयादि समयों में होने वाले कार्यों के उत्पादन की सामर्थ्य नहीं है तो उसमें नित्यता नहीं रहती है। यदि वह नित्यपदार्थ एक साथ अर्थक्रिया को करता है तो प्रथम समय में ही समस्त अर्थक्रियाओं को करने से द्वितीय क्षण में वह अकर्ता बन जायेगा। अत: उसमें अनित्यता ही प्राप्त होती है।

नित्यवादी - नित्य का अनेक कार्यों के उत्पन्न करने का समर्थस्वभाव प्रतिक्षण जाग्रत रहता है। अत: द्वितीयादि समयों में भी उसी स्वभाव के विद्यमान होने से वह उन्हीं-उन्हीं कार्यों को करता रहता है।

क्षणिकवादी – आपका यह कथन अग्राह्य है, क्योंकि जो कार्य प्रथम समय में उत्पन्न हो ही चुके हैं, नित्य उनको द्वितीयादि समयों में दुबारा कैसे उत्पन्न करेगा ? नित्य पदार्थ में जब समस्त कार्यों के करने में कारणभूत समस्त स्वभाव एक ही साथ रहते हैं तो द्वितीयादि समयों में होने वाले कार्यों को उत्पन्न करने वाले स्वभाव प्रथमक्षण में नहीं हैं और वे द्वितीयादिक्षणों में उत्पन्न होते हैं तो अनित्यत्व का प्रसङ्ग स्पष्ट ही है । इस प्रकार नित्यपदार्थ न तो क्रम से ही अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत् ही । अत: स्वकारण से पदार्थ अविनश्वर है, यह पक्ष प्रमाणबाधित है। यदि स्वकारणों से पदार्थ क्षणिक स्वभाव वाला ही उत्पन्न होता है तो हमारा क्षणिकसिद्धान्त सिद्ध होता है[4] । कहा भी है –

"पदार्थों के विनाश का कारण उनकी जाति अर्थात् उत्पत्ति या स्वभाव ही है। जो पदार्थ उत्पन्न होकर भी अनन्तर ही नष्ट नहीं हुआ उसे पीछे कौन नष्ट कर सकेगा[5]।"

शंका – पदार्थ नित्य हैं, किन्तु घट आदि पदार्थों के नाशक हेतु मुद्गर आदि जब मिल जायें तभी उनका विनाश होता है, इसलिए विनाशक सामग्री के मिलने पर ही विनाश वाले अनित्य पदार्थो की तब तक तो स्थिति माननी ही चाहिए, जब तक कि उनके विनाशक कारण नहीं जुट जाते । अत: पदार्थ कालान्तरस्थायी कुछ काल तक ठहरकर नष्ट होने वाले हैं, न कि प्रतिक्षण विनाशी[6]।

समाधान – यह शंका तो उस व्यक्ति की ज्ञात होती है, जिसने गुरु के पास से ज्ञान प्राप्त नहीं किया, क्योंकि मुद्गर आदि विनाशक कारणों के मिलने पर घट आदि की अन्तिम अवस्था में जो विनश्वर स्वभाव प्रकट होता है, वह स्वभाव उन घटादि की उत्पत्ति के समय भी विद्यमान था या नहीं ? यदि था तो उन घटादि पदार्थों को अपने उस विनश्वर स्वभाव के कारण उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाना चाहिए। ऐसी अवस्था में वे पदार्थ कालान्तरस्थायी न होकर क्षणिक ही सिद्ध होते हैं । यदि वह स्वभाव उत्पत्ति के समय नहीं था तो वह पीछे कहाँ से आयगा ? क्योंकि स्वभाव तो वस्तु की उत्पत्ति के समय मे ही होता है । यदि आप कहें कि उसका ऐसा ही एक विचित्र स्वभाव है तो उसे कुछ काल तक ठहरकर ही नष्ट हो जाना चाहिए, उत्पत्ति के अनन्तर क्षण में ही नहीं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उसका कुछ काल तक ठहरकर नष्ट होने का स्वभाव है तो मुद्गर आदि विनाशक कारणों के मिलने पर भी उसका वह कुछ काल तक ठहरकर नष्ट होने का स्वभाव घटादि को और भी कुछ काल तक ठहरा तुरन्त नहीं नष्ट होने देगा । इस तरह घड़े पर सौ बार भी मुद्गर से प्रहार किए जाने पर भी घड़ा अपने कुछ काल तक ठहरकर नष्ट होने वाले स्वभाव से आत्मरक्षा करता जायेगा और इस तरह घड़ा कल्पान्त तक स्थिर हो जायेगा । ऐसा होने पर संसार के समस्त हिंस्य हिंसक मृत्यु आदि व्यवहारों की व्यवस्था का लोप हो जायेगा और ऐसी कल्पना करने वाले के माथे पर व्यवहार की व्यवस्था के विलोप की गहरी पापकालिमा लगेगी । अत: जगत् के व्यवहार के अनुसार पदार्थो को क्षणिक मानना ही पड़ेगा । जो अन्त में विनश्वर स्वभाव वाले हैं वे उत्पत्ति के समय भी विनश्वर स्वभाव वाले ही रहते हैं, जैसे कि अन्त में नष्ट होने वाले घड़े का यदि विनश्वर स्वरूप यदि अन्त में रहता है तो उसे उत्पत्तिकाल में भी रहना चाहिए अन्यथा अन्त में भी वह स्वभाव कहाँ से आएगा ? उसी तरह चूंकि जगत् के समस्त रूप, रस आदि भी अन्त में विनश्वर हैं और इसलिए वे उत्पत्ति के समय से ही विनश्वर स्वभाव वाले हैं, यह क्षणिकत्व को सिद्ध करने वाले स्वभाव हेतु का प्रयोग है । इस तरह जब विनाशक कारण विनाश के प्रति अकिंचित्कर सिद्ध हो जाते हैं तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि पदार्थ अपने कारणों से विनाश स्वभाव वाले ही उत्पन्न होते हैं । इस तरह पदार्थ जब अपने कारणों से ही विनश्वर स्वभाव को लेकर उत्पन्न हुए हैं तब उन्हें कौन स्थिर रख सकता है, वे तो अपने उस

स्वभाव के कारण दूसरे ही क्षण में नियम से नष्ट हो ही जायेंगे। यही पदार्थों की क्षणिकता का स्वभावमूलक विवेचन है[7]।

शंका - यदि पदार्थ क्षणिक हैं तो यह वही है, यह स्थिरतामूलक प्रत्यभिज्ञान कैसे होगा?

समाधान - पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे हैं और उनकी जगह नये-नये सदृश पदार्थ तुरन्त ही उत्पन्न हो रहे हैं। दीपक की लौ प्रतिक्षण नष्ट होती है और द्वितीय क्षण में उसकी जगह पूर्व दीपकलिका के सदृश ही नूतन दीपकलिका निरन्तर उत्पन्न होती है। साधारणतया लोग यही समझते हैं कि यह वही दीपक है। इसी प्रकार पदार्थों का अत्यन्त विनाश होने पर भी उनकी जगह दूसरे नये सदृश पदार्थ निरन्तर उत्पन्न होने के कारण तथा अनादिकालीन "यह वही है" ऐसी अविद्या वासना के कारण हमें सदृश क्षणों में भी "यह वही है" ऐसा एकत्व भान बलात् होता है। हम समान आकार वाले पदार्थों में चिरकालीन परिचय के कारण तथा उनके प्रतिक्षण होने वाले निरन्तर सदृश परिणमन से भ्रम में पड़ जाते हैं और मान लेते हैं कि यह वही पदार्थ है। बाल बनवाते समय हम बालों को तथा नखों को कटवाकर फेंक देते हैं, पर जब दूसरे वैसे ही बाल तथा नख उग आते हैं तब भी हमारी स्थूल दृष्टि "ये वही बाल हैं, ये वही नख हैं" इस तरह पूर्वसदृश बालों और नखों में एकत्व का मिथ्या भान करने लगती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जो भी संसार में सत् है, वह क्षणिक है। अत: सभी संसार क्षणिक है, यह युक्ति युक्त ही कहा गया है[8]।

बौद्ध एकत्व को न मानकर भी सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदि को मानते हैं। आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है, केवलज्ञान की सन्तान में आत्मा का व्यवहार होता है। ज्ञान क्षणिक होने पर भी उसकी सन्तान (धारा) चलती रहती है, उसी सन्तान के कारण स्मृति आदि होती है। एक प्राणी कर्मों का बन्ध करता है, किन्तु उसका फल उस प्राणी की सन्तान को मिलता है, मुक्ति भी सन्तान की ही होती है। एक प्राणी मरकर दूसरे लोक में नहीं जाता है, केवल उसकी सन्तान दूसरे लोक में जाती है। इसलिए सन्तान की अपेक्षा से प्रेत्यभाव भी सिद्ध हो जाता है। सब परमाणु पृथक-पृथक हैं, एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी बौद्ध उसमें समुदाय की कल्पना करते हैं। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ साधर्म्य है, ऐसा भी वे मानते हैं[9]।

समीक्षा - एकत्व के अभाव में सन्तानादि का अभाव -

बौद्धों द्वारा एकत्व न मानने पर जैनाचार्य समन्तभद्र ने आपत्ति प्रकट की है। उनके अनुसार एकत्व के अभाव में निर्बाध सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदि का भी अभाव हो जायेगा[10]।

बौद्ध कार्य और कारणक्षणों को ही सन्तान कहते हैं। किन्तु जब कारण का निरन्वय विनाश होता है और कारण कार्यकाल तक नहीं जाता है तो कार्य कारण की सन्तान कैसे बन सकती है? अन्वयरहित कार्य और कारण की सन्तान नहीं होती है, किन्तु जिनमें अन्वय रूप अतिशय पाया जाता है और जो पूर्वापरकालभावी हैं ऐसे कार्य और कारण के सम्बन्ध का नाम सन्तान है। जीव में ज्ञान आदि की सन्तान पारमार्थिक है और इसके द्वारा स्मृति आदि व्यवहार होता है। एक जीव मरकर दूसरे लोक में जाता है, अत: प्रेत्यभाव के सद्भाव में जीव को एक मानना आवश्यक है। यदि परमाणु भी सर्वथा क्षणिक और अन्य सजातीय-विजातीय परमाणुओं से व्यावृत है तो उनके समुदाय की प्रतीति कैसे हो सकती है। सबको सदा निर्बाध रूप से समुदाय की प्रतीति होने से उसको मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ साधर्म्य होने का कारण

यह है कि उन पदार्थों का सदृश रूप से परिणमन होता है। जब सदृशपरिणामरूप एकत्व ही नहीं है तो साधर्म्य या सादृश्य कैसे सिद्ध हो सकता है ? बौद्ध सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदि मानते हैं अत: एकत्व माना भी आवश्यक है[11]।

क्षणिक सिद्धान्त में वस्तु में अर्थक्रिया नहीं हो सकती - अकलङ्कदेव का कहना है कि वास्तविक कार्यकारणभाव से रहित निरन्वय क्षणिक चित ज्ञानक्षणों की असत् रूप सन्ततियों में ही यदि बुद्ध भगवान् स्वयं स्व-पर के सङ्कल्प रूप से मिथ्या विकल्प करते हुए बुद्धि से प्राणियों के उद्धार के लिए ठहरते हैं, तो नित्यत्व के समान ही उस क्षणिक सिद्धान्त में वस्तु में अर्थक्रिया नहीं हो सकती है[12]।

उपर्युक्त पंक्तियों का तात्पर्य श्री अमृतचन्द्रसुरि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है - क्षणिकेकान्तवादी बुद्ध भगवान् यदि अपने स्वरूप से ठहरते हैं, निर्वाण को नहीं जाते हैं, किसलिए? सभी के लिए, दु:ख से शिष्यजनों का उद्धार करने के लिए करुणा बुद्धि से ठहरते हैं। ''तिष्ठन्त्येव पराधीना येषांतु महती कृपा'' ऐसा वाक्य है। प्रतिपादक बुद्ध स्व है और प्रतिपाद्य, दिङ् नाग आदि आचार्य पर हैं। स्व पर के सङ्कल्प से असत् में सत् का आरोप करके वे बुद्ध भगवान् ठहरते हैं। अवास्तविक कार्य कारण स्वरूप परस्पर में भिन्न निरन्वय क्षणिक चितों की असत् रूप सन्ततियों के होने पर भी वे स्व-पर का सङ्कल्प करते हैं। वह बुद्ध तीर्थंकर कैसे ठहरते हैं ? यहाँ यह अभिप्राय है कि मिथ्या असत्यरूप सङ्कल्प करने वाले बुद्ध स्वयं मिथ्याविकल्परूप हैं। जिस प्रकार सर्वथा नित्यत्व में परमार्थ सत् की व्यवस्था करने वाले ईश्वर, कपिल और ब्रह्मा धर्मतीर्थंकर नहीं होते हैं, क्योंकि वे मिथ्या विकल्प करने वाले हैं, उसी प्रकार बुद्ध भी नहीं हैं, यह अर्थ हुआ[13]।

अकलङ्कदेव नित्य और क्षणिक दोनों पक्षों में अर्थक्रिया का घटित होना नहीं मानते हैं, क्योंकि वह अर्थक्रिया पदार्थों में क्रम और योगपद्य के द्वारा लक्षण रूप से मानी गई है[14]।

क्षणिक एकान्त पक्ष में क्रम से कार्य करना नहीं बन सकता है, क्योंकि उसमें देश और काल से क्रम का अभाव है। बौद्धों का कहना है - ''जो जहाँ पर है, वह वहीं पर है, जो जिस काल में है, वह उसी काल में है। पदार्थों की देश-काल में व्याप्ति नहीं है।'' अन्यथा यदि व्याप्ति मानोगे तो क्षणिकपने का विरोध हो जावेगा।[15]।

बौद्ध - हमारे यहाँ सन्तान की अपेक्षा क्रम माना गया है।

जैन - यह बात ठीक नहीं है। वह सन्तान तो अवस्तु है। दूसरी बात यह है कि सन्तान ही कार्यकारी है अथवा स्वलक्षण कार्यकारी है। प्रथम पक्ष में सन्तान को कार्य करने वाला मानते हो तो वही वस्तु (वास्तविक) हो जावेगी, पुन: क्षणिक वस्तु की कल्पना से क्या प्रयोजन रहा? द्वितीय पक्ष में स्वलक्षण को कार्य करने वाला मानने पर तो संतान के अवस्तु होने से उसकी अपेक्षा रखने वाले स्वलक्षण का क्रम से कार्य करना अवास्तविक हो जावेगा। यदि आप तीसरा पक्ष लेते हो अर्थात् न सन्तान कार्य करता है, न स्वलक्षण किन्तु तीसरा ही कोई कार्य करता है, ऐसा मानने पर तो कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तु ही आ जाती है, क्योंकि उन दो के सिवा तीसरी चीज तो यही है और कुछ नहीं। इस प्रकार क्षणिक में क्रम से कार्य करना नहीं घटता है।

इसमें युगपद् भी अर्थक्रिया सम्भव नहीं है, क्योंकि विभ्रम का प्रसङ्ग आ जाता है। कारण के काल में ही कार्य की उत्पत्ति हो जावेगी और उसके कार्य की भी उसी काल में उत्पत्ति हो जावेगी।

शङ्का - नित्य और क्षणिक पक्ष में अर्थक्रिया न हो तो न सही, क्या हानि है ?

समाधान - भाव-सद्भूत पदार्थों की वह अर्थक्रिया ज्ञप्ति और उत्पत्तिलक्षण से जानी जाती है चिह्न को लक्षण कहते हैं। उस लक्षण के भाव को लक्षणता कहते हैं। सभी आस्तिक लोगों ने इसी लक्षण-चिह्न रूप से उस अर्थक्रिया को स्वीकार किया है, क्योंकि वह सभी पदार्थों में व्यापक है तथा व्यापक का अभाव नित्य और क्षणिक पक्ष में व्याप्य जो अस्तित्व है, उसके निषेध को सिद्ध कर देता है, यहाँ यह अभिप्राय है, क्योंकि उसी प्रकार का कथन भी किया गया है। प्रत्यक्ष से सिद्धबहिरङ्ग और अन्तरङ्ग पदार्थ का अस्तित्व अपने में व्यापक अर्थक्रिया को बतलाता है। वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण वाली अर्थक्रिया भी अपने में व्यापक क्रम और युगपत् का ज्ञान कराती है। वे क्रम, युगपत् अपने में व्यापक अनेकान्त को सिद्ध करते हैं और क्रम, युगपत् से विरुद्ध सर्वथा एकान्त का निषेध कर देते हैं[16]।

स्वयं द्रव्यस्वरूप उपादान की सत्ता से ही उत्पत्ति विरुद्ध नहीं है - लघीयस्त्रय में कहा गया है - "यदि स्वयं कारण की सत्ता से द्रव्य के उपादान भाव से कार्य की उत्पत्ति विरुद्ध हो तब क्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया संभव सिद्ध हो सकती है, किन्तु ऐसा है नहीं, अतः क्षणिक एकान्त में अर्थक्रिया का अभाव है[17]।"

कार्यरूप उत्तरपरिणामस्वरूप लाभ होना कार्य की उत्पत्ति है। स्वयं कारण विवक्षित कार्य उत्पन्न करने वाला द्रव्य का उपादान है, उसे स्वयं कारण कहते हैं और उसका अस्तित्व स्वयं कारण सत्ता है। यदि स्वयं द्रव्यस्वरूप उपादान की सता से कार्य की उत्पति विरुद्ध होवे तब क्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया के संभव का अनुमान हो सके।

अर्थ - अभिमत, प्रयोजन की क्रिया-निष्पति अर्थक्रिया है, उसका संभवसाधन "नित्यक्रम यौगपद्यविरहात्" नित्य में क्रम और युगपत् का अभाव है, इत्यादि अनुमान है। निरन्वय विनश्वर को क्षणिक कहते हैं अर्थात् क्षणिक विनश्वर पदार्थ में वह अर्थक्रिया संभव नहीं है। वह कार्य की उत्पत्ति विरुद्ध नहीं है, क्योंकि कार्य के समय सत्रूप ही कारण होता है, अन्यथा कार्य को आकस्मिकपने का प्रसङ्ग आ जावेगा। क्षणिकेकान्त में कार्यकारण भाव का विरोध है। जिसके अभाव में जो उत्पन्न होता है और जिसके सद्भाव में जो उत्पन्न नहीं होता है, उनमें कार्यकारणभाव नहीं है, अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आ जावेगा। इस हेतु से कथंचित् सत् को ही कारण अथवा कार्य स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक ही है, क्योंकि उसी में अर्थक्रिया संभव है[18]।

क्षणिक पक्ष में परिणाम नहीं बन सकता है - क्षणिक पक्ष में प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रक्रिया में जितना कारण होगा उतना कार्य होगा, अतः वृद्धि नहीं हो सकती है। क्षणिक पक्ष में अंकुर और अंकुर के कारण भौमरस, उदकरस आदि का युगपत् विनाश होगा या क्रमशः यदि युगपत् तो उनके द्वारा वृद्धि क्या होगी ? वृद्धि के कारण जब स्वयं नष्ट हो रहे हैं तो वे अन्य विनश्यमान पदार्थ की क्या वृद्धि करेंगे ? यदि क्रमश, तब भी नष्ट अंकुर का भौमरस, उदक रस आदि क्या करेंगे? अथवा विनष्ट रसादि अंकुर का क्या कर सकेंगे ? अनेकान्तवादी के मत में तो अङ्कुर या भौमरसादि सभी द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं और पर्यायदृष्टि से अनित्य। अतः वृद्धि हो सकती है।

शङ्का - क्षणिक पक्ष में प्रबन्धभेद मानकर वृद्धि बन सकती है। प्रबन्ध तीन प्रकार के हैं- सभागरूप, क्रमापेक्ष और अनियत। प्रदीप से प्रदीप की सन्तति चलना सभाग प्रबंध है। यह प्रवाह

से प्रवाह की तरह सादृश्य होने से सभाग कहलाता है। जो सन्तान प्रबन्धक्रम से चले वह क्रमापेक्ष है, जैसे कि बाल, कुमार, जबान आदि दशाओं का या बीज अङ्कुर आदि अवस्थाओं का । मुर्गे में अनेक रंग के प्रबन्ध की तरह मेघ और इन्द्र धनुष आदि में अनियत प्रबन्ध है । इससे वृद्धि हो सकती है ।

समाधान – यहाँ यह विचारणीय है कि प्रबन्ध दो विद्यमान पदार्थों का माना जायगा या अविद्यमान पदार्थों का या विद्यमान और अविद्यमान का ? दो अविद्यमानों का तो वन्ध्यासुत और आकाशपुष्प की तरह प्रबन्ध नहीं हो सकता। इसी तरह स्वर और खरविषाण की तरह एक विद्यमान और एक अविद्यमान का भी प्रबन्ध नहीं हो सकेगा । अन्त में विद्यमानों का ही प्रबन्ध बनता है, परन्तु क्षणिक पक्ष में पूर्व और उत्तर स्कन्ध की एक क्षण में सत्ता तो हो ही नहीं सकती, अत: प्रबन्ध कैसा यदि सत्ता मानते हैं तो क्षणिकवाद का लोप हो जायेगा । "तराजू के पलड़ौ में एक का ऊपर उठना और दूसरे का नीचे झुकना जिस प्रकार एक साथ होता है उसी तरह एक साथ उत्पाद और विनाश मानकर अर्थ प्रबन्ध चलेगा" यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि युगपत् उत्पाद विनाश माना जाता है तो दायें बांये सींग की तरह परस्पर कार्यकारणभाव नहीं हो सकेगा[19]।

क्षणिक पक्ष में मोक्ष, निमित नैमित्तक सम्बन्ध, लोकव्यवहारादि अनेक दोषों का प्रादुर्भाव– आत्मा को क्षणिक मानने पर ज्ञान वैराग्यादि परिणमनों का आधारभूत पदार्थ न होने से मोक्ष नहीं बन सकेगा। जिस मत में सभी संस्कार क्षणिक हैं, उसके यहाँ ज्ञानादि का उत्पत्ति के बाद ही तुरन्त नाश हो जाने पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध आदि नहीं बनेंगे और समस्त अनुभवसिद्ध लोकव्यवहारों का लोप हो जायेगा । क्षणों की अवास्तविक सन्तान मानना निरर्थक ही है । यदि सन्तान क्षणों से अभिन्न है तो क्षणों की तरह ही निरन्वय क्षणिक होगी । ऐसी दशा में उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा । यदि क्षणों से भिन्न है तो उससे क्षणों का परस्पर समन्वय कैसे हो सकेगा आदि अनेक दूषण आते हैं[20] ।

संसार के पदार्थों को क्षणक्षयी मानने पर अन्वय और व्यतिरेक का ज्ञान नहीं हो सकेगा– जो ज्ञान पहले साधन का सद्भाव ग्रहण कर उसकी सत्ता ही में साध्य की सत्ता को तथा साध्य के अभाव में साधन के अभाव को जानने का इतना दस बीस क्षण लम्बा व्यापार कर सकता है उसी ज्ञान से अन्वय व्यतिरेक जाने जा सकते हैं । पर क्षणभङ्गवाद में किसी भी ज्ञान का इतना लम्बा व्यापार होना असम्भव है। अत: क्षणभङ्ग मानकर अन्वय व्यतिरेक के ग्रहण को असम्भव बना देना तथा सर्वसंग्राही अन्वय-व्यतिरेकमूलक व्यप्तिज्ञान से व्यवहार भी चलना क्या परस्पर विरोधी नहीं है[21]।

आत्मा को क्षणभङ्गुर मानने में परस्पर विरोध – आत्मा को क्षणभङ्गुर भी मानना और "आज मे एकानवे कल्प पहले मैंने भाले से एक पुरुष को मारा था । हे भिक्षुओं, उसी हिंसा कर्म के फलस्वरुप आज मेरे पैर में कांटा चुभा है ।" यह एकानबे कल्प से लेकर आज तक ठहरने वाले आत्मा का स्पष्ट कथन करना परस्पर विरोधी है । स्वयं बुद्ध ने परलोक की सत्ता सिद्ध करने के लिए वह श्लोक कहा था । इसमें जो मैं भाले से पुरुष को मारने वाला था, वही मैं आज काँटे से छिद रहा हूँ, इस प्रत्याभिज्ञान से आत्मा का स्थायित्व स्पष्ट व्यक्त होता है[22] ।

पदार्थ की दो क्षण तक स्थिति माने बिना उन्हें ज्ञान का विषय नहीं बना सकते–बौद्ध एक और तो संसार के समस्त पदार्थों को क्षणभङ्गुर मानते हैं और दूसरी और क्षणिकता के विरुद्ध भी बोल जाते हैं । वे कहते हैं - "जो पदार्थ कार्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं रखता वह कारण

नहीं हो सकता । जो ज्ञान का कारण नहीं ? होता, वह ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता ।'' ज्ञान पदार्थ के रहने पर ही उत्पन्न होता है, न कि पदार्थ के अभाव में । अत: ज्ञान के साथ अन्वय व्यतिरेक रखने के कारण पदार्थ ज्ञान में कारण होता है । जिस पदार्थ से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह उसी पदार्थ को जानता है । इस तरह उसी पदार्थ को ज्ञान का कारण तथा उसी पदार्थ को ज्ञान का विषय मानने के लिए पदार्थ की दोक्षण तक स्थिति माननी आवश्यक है । पदार्थ ज्ञान का कारण है । कार्यकारण के दूसरे क्षण में उत्पन्न होती है तथा कारण कार्य से एक क्षण पहले रहता है । अत: यदि ज्ञान पदार्थरूप कारण से उत्पन्न होता है तो वह दूसरे क्षण में ही उत्पन्न होगा । पदार्थ ज्ञान को अपने समान समय में तो उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि कारण और कार्य समान समयवर्ती नहीं होते, वे नियम से आगे पीछे पूर्वोतर कालवर्ती होते हैं । यह भी नियत है कि ज्ञान अपने कारणभूत पदार्थ को ही जानता है । जो ज्ञान का कारण नहीं है, वह ज्ञान का विषय नहीं होता'' यह उन्हीं का वचन है । तब वही अर्थ कारण होने से तो ज्ञान से एकक्षण पहले रहेगा और विषय होने के कारण ज्ञान के साथ रहेगा । इस तरह पदार्थ को दो क्षण तक बलात् ठहरना ही पड़ेगा[23] ।

असत्ताशील वस्तु के अस्तित्व का निषेध – हरिभद्र का कथन हैं – पूर्वकालीन धर्मी का रूपान्तरण हुए बिना उत्तरकालीन धर्मी अस्तित्व में नहीं आ सकता । यदि मान लिया जाय कि पूर्वक्षणकालीन धर्मी के रूपान्तर के फलस्वरुप उतरक्षणकालीन धर्मी अस्तित्व में आता है तब यह कहना उचित नहीं कि कार्योत्पत्ति के समय एक असत्ताशील वस्तु अस्तित्व में आया करती है[24] । जो वादी रूपान्तरणशील वस्तुओं के अस्तित्व से सर्वथा इनकार करता है, उसके मतानुसार एक कार्य का अपने कारण के अनन्तर उत्पन्न होना उसी प्रकार असंभव है जैसे कि उसका आकाश से टपकना और इसका अर्थ यह हुआ कि इस वादी के मतानुसार कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता । अपने कारण के अनन्तर उत्पन्न होना एक कार्य का स्वभाव ही है, इस प्रकार की कल्पना अयुक्त है[25] । यदि एक वस्तु को दूसरी वस्तु का कार्य केवल इस आधार पर कहा जाय कि वह वस्तु इस दूसरी वस्तु के अनन्तर उत्पन्न हुई है तब तो (उत्तरक्षणकालीन समूचे विश्व को (पूर्वक्षणकालीन) समूचे विश्व का कार्य कहा जा सकेगा, क्योंकि यह भी एक वस्तु (पूर्वक्षणकालीन विश्व) के अनन्तर एक दूसरी वस्तु (उत्तरक्षणकालीन विश्व) के उत्पन्न होने का स्थल तो है ही[26] ।

कार्यकारण भाव का अभाव – बौद्धों का कहना है कि सभी व्यवहारों को हम क्षणसन्तान की कल्पना से सम्भव सिद्ध करते हैं और यह क्षणसन्तान एक है । क्षणसन्तान की कल्पना होने पर हमारी मान्यतायें कैसे युक्ति संगत न होंगी ? कर्मवासना जिस सन्तान में जन्म पाती है, उसी में आगे चलकर वह फल को जन्म देती है, जैसे कपास के जिस बीज को लाल रंगा जाता है, उससे जन्म लेने वाली कपास भी लाल रंग की होती है[27] । जैनों के अनुसार यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस क्षणसन्तान का सहारा बौद्ध लेते हैं वह कार्यकारण भाव से अतिरिक्त और कुछ नहीं है । असत्कार्यवाद का सिद्धान्त स्वीकार करने पर कार्यकारण भाव की कल्पना अयुक्तिपूर्ण ठहरती है[28]।

क्षणिकवाद में एक भावरूप वस्तु ही अभावरूप बन जाती है - एक वस्तु का नाश यदि क्षण भर टिकने वाला है तब यह नहीं हो सकता कि यह नाश अपनी स्थिति के क्षण में भी अनुपस्थित रहे, क्योंकि वैसा होना एक अयुक्ति संगत बात होगी। उस दशा में यह बात तो न होगी कि यह नाश कालान्तर में भी (अपनी स्थिति के क्षण के

बाद भी) अनुपस्थित नहीं रहे । तब प्रस्तुत वादी का मत यही ठहरा कि एक भावरूप वस्तु ही अभावरूप बन जाती है[29] । उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त हरिभद्र ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में क्षणिकवाद के सिद्धान्त में निम्नलिखित अन्य दोषों का उद्‌घाटन किया है -

1. सामग्री कारणतावाद की अनुपपत्ति ।
2. वास्य वासक भाव की अनुपपत्ति
3 कार्यकारण ज्ञान की अनुपपत्ति ।
4. पूर्वापर विरोधी वचन[30] ।

हरिभद्र के अनुसार निर्हेतुक विनाश, अर्थक्रियाकारित्व, रूप रूपान्तरण तथा अनततोगामी नाश से क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं होती है[31] । कुछ वादियों का यह कहना है कि यदि बुद्ध ने सब वस्तुओं को क्षणिक कहा तो इसलिए कि लोगों की इन वस्तुओं के प्रति चाह नष्ट हो, न कि इसलिए कि ये वस्तुयें सचमुच वैसी हैं[32] ।

क्षणिकैकान्त में कृतनाश और अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग - आचार्य समन्तभद्र का कहना है कि क्षणिकैकान्त पक्ष मानने पर हिंसा करने का जिसका अभिप्राय नहीं है, वह हिंसा करता है और जिसका हिंसा करने का अभिप्राय है वह हिंसा नहीं करता है । जिसने हिंसा का कोई अभिप्राय नहीं किया और न हिंसा ही की, वह चित बन्धन को प्राप्त होता है और जिसका बन्ध हुआ, उसकी मुक्ति नहीं होती है, किन्तु दूसरे की ही मुक्ति होती है[33] ।

नाश को अहेतुक मानने में हानि - विनाश के अहेतुक होने से हिंसा करने वाला हिंसक नहीं हो सकता है और चितसन्तति के नाशरूप मोक्ष भी अष्टाङ्ग हेतुक नहीं हो सकता है[34] ।

क्षणिकैकान्त में प्रेत्यभाव आदि का असंभवपना - क्षणिकैकान्त पक्ष में प्रेत्यभाव आदि असंभव है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने से कार्यादि का आरम्भ नहीं हो सकता है, पुन: फल कैसे हो सकेगा[35] ।

आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री में समन्तभद्र के उपर्युक्त मन्तव्य की विस्तृत व्याख्या[36] की है । उनके अनुसार क्षणिकैकान्त पक्ष में ज्ञानरूप चित का कार्यारम्भ नहीं हैं, क्योंकि उसमें प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, इच्छा आदि का अभाव एक अन्वय रूप प्रत्यभिज्ञाता आत्मा के अभाव के कारण है ।

बौद्ध - हमारे यहाँ तो सन्तान ही कार्य का आरम्भ करता है ।

जैन - यह कथन भी मिथ्या है । पुन: आपकी यह सन्तान अवस्तु नहीं रहेगी, क्योंकि कार्य का आरम्भ करने वाला वस्तुभूत होता है अर्थात् सन्तान को कार्य करने वाला मानने से वह वस्तु हो जायगी, किन्तु आपने सन्तान को तो अवस्तु ही माना है और चितक्षणों को भी अवस्तुपने का प्रसङ्ग आ जायेगा, क्योंकि वे कार्य के आरम्भक नहीं हैं । कार्य के आरम्भक का अभाव होने पर पुण्य-पाप लक्षण फल भी संभव नहीं है और उस फल के अभाव में न प्रेत्यभाव होगा, न बन्ध होगा, न मोक्ष हो सकेगा, इसलिए क्षणक्षयैकान्तदर्शन अहित रूप ही है, क्योंकि उसमें प्रेत्यभावादि संभव नहीं है, उच्छेदैकान्त (शून्यैकान्त) के समान अथवा ध्रौव्यैकान्त (नित्यत्वैकान्त) की स्वीकृति के समान । अर्थात् जैसे शून्यवाद में और सर्वथा नित्यपक्ष में प्रेत्यभाव आदि संभव नहीं हैं तथैव क्षणिकैकान्त में भी संभव नहीं हैं ।

बौद्ध - हमारे क्षणिक रूप एकान्त में चितक्षणों में वासना के निमित से ''यह वही सुखसाधन

है" इस प्रकार स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस प्रत्यभिज्ञान से अभिलाषा होती है, उस अभिलाषा से सुख के साधन के लिए प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार से कार्य का आरम्भ होने से पुण्य-पाप क्रिया सिद्ध है, अत: हमारे यहाँ प्रेत्यभाव आदि संभव हैं । इसलिए "असंभवप्रेत्यभावादित्वात्" यह हेतु असिद्ध है, जो कि साध्य को सिद्ध करने के लिए समर्थ नहीं है ।

जैन - यह कथन असत् है, क्योंकि भिन्न है काल जिसका ऐसे उन ज्ञानक्षणों में वासना ही असंभव है । जैसे कि जिनका कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है ऐसे घट पट आदि क्षणों में भिन्न काल होने से वासना असंभव है, ऐसा आपने माना है, तथैव भिन्न-भिन्न कालवर्ती ज्ञान क्षणों में भी वासना नहीं हो सकती है ।

बौद्ध - पूर्व पूर्वका ही चितक्षण उतर चितक्षण की उत्पत्ति में वासना कहलाता है, क्योंकि पूर्व चित का क्षण उतरचितक्षण के लिए कारण है ।

जैन - ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सभी ज्ञानक्षणों का निरन्वय मान लेने पर उनमें कराण ही असंभव है । विनष्ट हुआ कारण कैसे कार्य को कर सकेगा कि जिससे वह कारण इस नाम को प्राप्त कर सके । विनष्ट हुआ क्षण कारण नहीं है, असत् होने से, चिरतर अतीतक्षण के समान अर्थात् क्षणिक स्वरूप पूर्व का चित नष्ट हो गया, अत: वह कारण नहीं है, जैसे कि बहुत पहले के बीते हुए चित उतर चित के लिए कारण नहीं है, उसी प्रकार से समनन्तर अतीत (प्रथम क्षण के बाद ही होने वाला) भी कारण नहीं है, क्योंकि असत् रूप से तो दोनों ही समान हैं ।

बौद्ध - समनन्तर का अतीतक्षण कारण है ।

जैन - नहीं । समनन्तरपना होने पर भी अभाव-असत् रूप से दोनों ही समान हैं । इसलिए पूर्व का उतरक्षण कार्य नहीं है, क्योंकि उस पूर्वक्षण का विनाश हो जाने पर ही वह कार्य हुआ है, वस्तत्वंतर के समान अथवा अतिक्रान्ततम के समान अर्थात् जैसे देवदत यज्ञदत के चितक्षण भिन्न-भिन्न होने से उनमें कार्यकारणभाव नहीं है अथवा चिरतर के बीते हुए ज्ञान क्षणों में कार्यकारण भाव नहीं है, उसी प्रकार पूर्वक्षण और उतरक्षण में भी कार्यकारणभाव नहीं है, कारण कि बौद्धों के यहाँ पूर्वक्षण का निरन्वय विनाश माना गया है, पुन: वह सर्वथा अभावरूप होकर उतरक्षण को कैसे उत्पन्न कर सकेगा जिससे पूर्वक्षण कारण है, यह निश्चय किया जा सके, अपितु नहीं किया जा सकता है[37] ।

क्षणिकवाद में हेतु-फलभाव नहीं बनता है - क्षणिकवाद में कारण कार्य भाव नहीं बनता, इसी की पुष्टि में आचार्य समन्तभद्र ने एक कारिका लिखी है, जिसका अर्थ है - "क्षणिक पक्ष में *अन्वय के अभाव में हेतु-फलभाव (कारण-कार्य-भाव) नहीं बन सकते, क्योंकि कारण से* कार्य सन्तानान्तर के समान सर्वथा पृथक् है । सन्तानियों से पृथक् कोई एक सन्तान भी नहीं है[38] ।"

बौद्ध - उन पूर्वोत्तरक्षणों में एक सन्तानता होने से वे कारण कार्य भावादि पाए जाते हैं ।

जैन - ऐसा नहीं कहना चाहिए । सन्तानी से पृथक् एक सन्तान का अभाव है, क्योंकि आपने तो ऐसा स्वीकार किया है कि पूर्वोत्तरक्षणरूप एवं अपरामृष्ट भेद वाले सन्तानी ही सन्तान हैं एवं सभी क्षणों में परस्पर में विलक्षणता समान है । इस कथन में तो सन्तान संकर का भी प्रसङ्ग आ जाता है, क्योंकि सभी स्वसन्तानवर्ती और भिन्नसन्तानवर्ती इन दोनों में अपरामृष्ट - एक दूसरे का

स्पर्श न करते हुए भेद का होना तो समान ही है एवं ये ही अभेद परामर्श के विषय हैं, किन्तु अन्य भिन्न सन्तानवर्ती नहीं हैं, इस भेद को करने वाला कोई कारण भी नहीं है अर्थात् विवक्षित क्षण जो के अंकुर के प्रति जो कोई भी अविवक्षित क्षण गेहूँ आदि का बीज कारण हो जायगा, इस तरह सन्तान में संकर हो जावेगा ।

बौद्ध - विलक्षणों में अत्यन्त भेद होने पर भी स्वभाव से ही असंकीर्ण कर्मसन्ततियाँ कर्मफल और उसके सम्बन्ध आदि में कारण हैं ।

जैन - यह कथन तो खरगोश के सींग को गोलाकार कहने जैसा है । अर्थात् स्वभाव से संकीर्ण - मिश्रित अभेदरूप ही सन्तान परम्परा प्रत्यक्ष आदि ज्ञान में प्रसिद्ध है, फिर भी स्वभाव से वे अन्य सन्ततियों के साथ असंकीर्ण भिन्न है, ऐसा कहना खरगोश के सींग की गोलाई के समान असत् है । प्रत्यक्ष के द्वारा अप्रतीत पदार्थ में स्वभाव का आश्रय लेना शक्य नहीं है[39] क्योंकि ऐसा तो आपने स्वयं ही कहा है-

"प्रत्यक्ष से अप्रतीत अर्थ में यदि प्रश्न किया जाता है तो स्वभाव के द्वारा ही उसका उत्तर देना चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष से देखे गए पदार्थ में अनुपपति ही क्या हो सकती है[40] ।" अर्थात् कुछ भी नहीं और परस्पर में विलक्षण भिन्न-भिन्न ही क्षणों में अत्यन्त रूप से अन्वय का अभाव होने पर भी अन्तरङ्ग अथवा बाह्य सन्ततियाँ असंकीर्ण ही प्रत्यक्ष से अनुभव में नहीं आ रही है, क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान एक क्षण को विषय करने वाला होने से सन्तान को विषय नहीं कर सकता है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा सन्निहित वर्तमान का एक क्षण ही जाना जाता है, ऐसा आपका कथन है तथा अनुमान से भी उन अभिन्न रूप सन्ततियों का अनुभव नहीं आता है, क्योंकि उस लिङ्गी सन्तान के साथ स्वभावहेतु अथवा कार्यहेतु का अविनाभाव निश्चित नहीं है ।

बौद्ध - उस सन्तान का अनुमान करने में प्रत्यभिज्ञान आदि हेतु हैं ।

जैन - नहीं । उन प्रत्यभिज्ञान आदिकों का कहीं पर अन्वय सिद्ध नहीं है और व्यतिरेक का भी निश्चय नहीं है अर्थात् जैसे सन्तान के होने पर ही प्रत्यभिज्ञान होता है, यह अन्वय किसी भी दृष्टान्त में नहीं देखा जाता है तथा नील स्वलक्षण रूप सन्तान के नहीं होने पर प्रत्यभिज्ञान का अभाव है, इस व्यतिरेक का भी निश्चय नहीं है, इसीलिए अन्यथानुपपति भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानादि में सन्तान का अभाव होने से असंभवनियम नहीं होने रूप व्यतिरेक नियम के निश्चय का अभाव है अर्थात् सन्तान है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की अन्यथानुपपति है, इस प्रकार से यह हेतु भी घटित नहीं होता है, क्योंकि काले तिलों में सन्तान का अभाव होने पर भी यह तिल उसके सदृश है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है, अत: यहां व्यतिरेक निश्चित नहीं है । उन क्षणों में एक द्रव्य की प्रत्यासत्ति ही उन प्रत्यभिज्ञानादि से प्रसिद्ध है, इसलिए बौद्धमत विरुद्ध ही निर्णीत होता है । इसलिए स्वभाव से ही भिन्न सन्तानों के साथ असंकीर्ण सन्तान नाम की कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती है, यह बात ठीक है[41] ।

तत्त्वार्थश्लोक वार्त्तिक में क्षणिकवाद समीक्षा - आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोक वार्त्तिक में क्षणिकवाद का खण्डन करते हुए प्राय: समन्तभद्र आचार्य द्वारा दी गई युक्तियों का ही आश्रय लिया है । उनके मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थों का अस्थिर होना कठिनता से भी घटित नहीं होता है, क्योंकि पदार्थ अनेक क्षणों तक ठहरने वाले प्रतीत हो रहे हैं । निरन्वय क्षयैकान्त मानने पर सन्तान (समुदाय) आदि की सुव्यवस्था नहीं हो पाती है । इसके अतिरिक्त पुण्य, पाप आदि अनुष्ठान करने के अभाव का प्रसङ्ग आता है[42] । जैनों के अनुसार सूक्ष्म ऋजुसत्रनय की अपेक्षा से केवल

एक क्षण तक ही पर्यायों का ठहरना इष्ट है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा ही कालान्तर तक ठहरना सिद्ध है[43]। जैसे ऋजुसूत्रनय से एक क्षण तक ही ठहरने वाला पदार्थ अपने कारणों से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय से जाना गया अधिक काल ठहरने वाला पदार्थ भी अपने कारणों से उत्पन्न हुआ है। सभी प्रकार के बाधारहित प्रमाणों से ध्रुव पदार्थ की सिद्धि हो जाती है[44]।

नित्य परिणामी द्रव्य को नहीं स्वीकार करने पर बौद्धों के यहाँ संयोग अथवा विभाग तथा क्रियाकारक की व्यवस्था और सादृश्य, वैसादृश्य अथवा स्वसन्तान परसन्तानों की प्रतिष्ठा एवं समुदाय और मरकर जन्म लेना रूप प्रेत्यभाव या साधर्म्यादि नहीं बन सकेंगे तथा बन्ध, मोक्ष की व्यवस्था नहीं होगी[45]।

बौद्धों के यहाँ द्रव्य नहीं मानने से संयोग और विभाग का अभाव हो जाता है तथा क्षणिकपक्ष में क्रिया का विरह है अत: क्रिया की अपेक्षा होने वाले कारकों की व्यवस्था नहीं हो पाती है, जिससे कि कोई वस्तु वास्तविक रूप से अर्थक्रिया को करने वाली सिद्ध हो जाती तथा बौद्धों के यहाँ परिणामी द्रव्य का अपह्नव (छिपाना) करने से सदृश परिणाम (सादृश्य और विसदृश परिणाम वैसादृश्य) का अभाव हो जाता है और ऐसा हो जाने से अपने पूर्व अपरक्षणों के सन्तान की व्यवस्था का और दूसरों के चित्तों के सन्तान की व्यवस्था कर देने का विरोध आता है, क्योंकि सदृश कार्य कारण और विसदृश कार्यकारण उनके यहाँ अत्यन्त असंभव है। क्षणिक पक्ष में समुदाय नहीं बन सकता, क्योंकि अनेक में स्थिर हो रहे और असमुदाय अवस्था का परित्यागपूर्वक समुदाय अवस्था को ग्रहण कर रहे एक समुदायी द्रव्य का जान बूझकर छिपाव किया गया है। एक अन्वेता द्रव्य के स्वीकार नहीं करने से बौद्धों के यहाँ मरकर जन्म लेना या शुभाशुभकर्मों का अनुष्ठान करना अथवा उन शुभाशुभ कर्मों का फल पुण्य, पाप प्राप्त होना तथा उन पुण्य पाप का आत्मा के साथ बन्ध हो जाना आदि की व्यवस्था नहीं हो पाती है, जिससे कि क्षणिक पक्ष में संसार और मोक्ष की व्यवस्था बन सके। इस प्रकार बौद्धों के इष्ट पदार्थों की प्रसिद्धि सभी प्रकारों से नहीं होती है46। संवृति से बौद्धों के इष्टतत्त्व की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि संवृति मृषा (झूठ) है। परमार्थ से भी बौद्धतत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि परमार्थत: एक अन्वित त्रिकालवर्ती द्रव्य की सिद्धि होती है[47]।

क्षणिकैकान्त में क्षण से ऊपर दूसरे समयों में पदार्थों की स्थिति का अभाव होने के कारण परिणाम के अभाव का प्रसङ्ग आता है।

बौद्ध – पहिले क्षण में पदार्थ का निरन्वय विनाश हो जाने से उत्तरवर्ती दूसरे क्षण में नवीन पदार्थ का उत्पाद होना परिणाम है।

जैन – वह उत्तर क्षणवर्ती उत्पाद किस परिणामी का परिणाम है। यदि पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ का ही परिणाम वह उतरक्षणवर्ती उत्पाद माना गया है तो आप यह नहीं कह सकते, क्योंकि उस पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ का अत्यन्त रूप से अनन्तकाल तक के लिए विनाश हो चुका है, अत: वह पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ इस उतरक्षणवर्ती पदार्थ का परिणामी नहीं हो सकता है जैसे कि बहुत काल पहिले विशेषतया नष्ट हो चुका क्षण (स्वलक्षण पदार्थ) वर्तमानकालीन उत्पाद का परिणामी नहीं माना गया है[48]।

क्षणिक पक्ष में सत्व की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है – पदार्थों में क्षणिकपना सिद्ध करने के लिए "सर्वे भावा: क्षणिका: सत्त्वात्" कहकर जो सत्त्व हेतु कहा जाता है वह विपक्ष जो नित्य उसके समान सपक्ष में भी समान होने से साध्य की सिद्धि में कारण नहीं है। सत्त्व अर्थक्रिया से

व्याप्त है और अर्थक्रिया क्रम तथा यौगपद्य से व्याप्त है। वे क्रम और यौगपद्य दोनों ही क्षणिक से निवृत होते हुए स्वव्याप्य अर्थक्रिया को लेकर निवृत होते हैं और वह अर्थक्रिया निवृत होती हुई स्वव्याप्य सत्त्व को लेकर निवृत होती है। इस प्रकार नित्य के समान क्षणिक पदार्थ का भी खरविषाणवत् असत्त्व सिद्ध है, अतएव क्षणिक पक्ष में सत्त्व की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है[49]।

क्षणिक पक्ष में सत् असत् दोनों के कार्यकारीपना नहीं बनता है - बौद्धों से प्रश्न किया जाता है कि आपके क्षणिक पक्ष में सत् के कार्यकारीपना माना है अथवा असत् के। सत् के कार्य कारीपना मानने पर काल की समस्त कलाओं में व्याप्त होकर रहने वाले अनेक क्षणरूप कार्यों के एक क्षणवर्तीपने का प्रसङ्ग आता है। असत् रूप द्वितीय पक्ष के मानने पर खरविषाणादि के भी कार्यकारीपना प्राप्त होता है, क्योंकि असत्पना उसमें भी समान है और जब आप बौद्धों ने सत्त्व का लक्षण अर्थक्रियारीपना माना है तब असत् के कार्यकारीपना मानने पर उसमें व्यभिचार दोष आता है[50]।

संतानी के बिना सन्तति नहीं है - बौद्ध चैतन्य के क्षणिक परिणाम की सन्तति मात्र को जीव कहते हैं। उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सन्तानी से भिन्न कोई सन्तति नहीं है[51]।

सन्तान को नित्य मानने पर प्रतिज्ञा हानि दोष होता है - सन्तानी से भिन्न मानकर सन्तान को नित्यपना मानने पर एकान्तवादी के प्रतिज्ञाहानि नामक दोष होता है। बौद्ध वस्तु को तो क्षणिक एकान्तरूप कहते हैं तथा सन्तान को नित्य कहते हैं। इस प्रकार क्षणिकपने की प्रतिज्ञा की हानि होती है[52]।

कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष की प्राप्ति - क्षणिक पक्ष में परमार्थ रूप सन्तानी संभव नहीं है तथा किए हुए कार्य का फल भोगे बिना ही नाश और न किए हुए कार्य के फल की प्राप्ति होती है[53]।

वासना और क्षण सन्तति की असिद्धि - सर्वथा एकता मानना अथवा परस्पर भेद ही मानना अथवा भेदाभेद दोनों को ही न मानना ऐसे तीनों पक्षों की कल्पना बौद्धमत में हो सकती है, परन्तु इन तीनों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष के मानने से बौद्धों द्वारा संकल्पित वासना तथा प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते हुए ज्ञानक्षणों की श्रृंखला सिद्ध नहीं हो सकती[54]।

प्रथम ज्ञानक्षण से आगे के दूसरे ज्ञान क्षणों में उत्पन्न होती हुई शक्ति को वासना कहते हैं। टूटी हुई मोतियों की माला में से बिखरे हुए मोतियों के समान परस्पर जुदे-जुदे ज्ञानक्षणों का एक दूसरे में मिले हुए का सा ज्ञान कराने वाली वासना बौद्धमतावलम्बियों ने मानी है। यह वासना सम्पूर्ण ज्ञानक्षणों में इस प्रकार प्रविष्ट रहती है, जिस प्रकार मोतियों की माला में धागा। इसी का दूसरा नाम सन्तान है और दीपक की लौ के समान नये-नये उत्पन्न होते हुए पूर्वोत्तर पर्यायों में एक सी जो ज्ञान क्षणों की अर्थात् प्रत्येक समयवर्ती ज्ञान की पर्यायों की श्रेणी को बौद्धसिद्धान्त वाले क्षणसन्तति कहते हैं। क्षणसन्तति और वासना न तो अभेददृष्टि मानने से संभव हो सकती है और न भेद पक्ष और न भेदाभेद दोनों ही न मानने से। जब अभेदपक्ष मानते हैं तब तो सम्पूर्ण संसार ही एकरूप है, इसलिए यह वासना है और यह क्षणसन्तति है ऐसा भेदव्यवहार नहीं बन सकता। दोनों में भेद मानकर भी वासना तथा क्षणसंतति सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि वासना को भिन्न मानकर भी क्या क्षणसन्तति की तरह क्षणिक माना है या नित्य? यदि वासना भी क्षणिक है तो क्षणसन्तति से अतिरिक्त वासना की कल्पना करना व्यर्थ है। यदि चिरस्थायी सबक्षणों में रहने वाली वासना नहीं मानी जाय तो पहिले क्षणवर्ती पुण्यपापादिक आगे के दूसरे क्षणों में नहीं

पहुँच सकेंगे। किन्तु फलादि बिना ही पुण्यपापादिक क्षणनाश के साथ-साथ नष्ट हो जायेंगे। यह वासना नित्य होने से ही आगे के क्षणों में पहिले क्षणों के पुण्यपापादिक को पहुँचा सकती है। यदि यह क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली मानी जाय क्षणिक सम्बन्धी दोष वासना मानने पर भी ज्यों का त्यों बना रहता है। इस भय से यदि वासना को नित्य मानने लगें तो क्षणिक सिद्धान्त में दोष आता है। यदि बौद्ध कहें कि न तो हम वासना में क्षणसन्तति से भेद मानते हैं, न अभेद मानते हैं, किन्तु भेदाभेद का अभाव मानते हैं तो बौद्धों का यह कथन भी अयोग्य है, क्योंकि भेद और अभेद दोनों में एक का निषेध करने पर दूसरा आ ही जाता है, दोनों का निषेध कदापि नहीं हो सकता। यदि भेदाभेद का अभाव माना जाय तो सर्वाभाव हो जायगा। अत: बौद्धों को कथंचित् भेदाभेद का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है[55]।

अनित्यैकान्त में ध्यान नहीं हो सकता – यदि जीव को अनित्य माना जाए तो क्षण-क्षण में नवीन उत्पन्न होने वाली चितसन्तति में ध्यान की भावना ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि इस क्षणिक वृत्ति में अपने द्वारा अनुभव किए हुए पदार्थों का स्मरण होना अशक्य है। जिस प्रकार एक पुरुष के द्वारा अनुभव किए हुए पदार्थ का स्मरण दूसरे पुरुष को नहीं हो सकता, क्योंकि वह उससे सर्वथा भिन्न है, इसी प्रकार अनुभव करने वाले मूलभूत जीव के नष्ट हो जाने पर उसके द्वारा अनुभव किए हुए पदार्थ का स्मरण उनकी सन्तान, प्रति सन्तान को नहीं हो सकता, क्योंकि मूल पदार्थ का निरन्वय नाश मानने पर सन्तान प्रतिसन्तान के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता। अनुभूत पदार्थ के स्मरण के बिना ध्यान करने की इच्छा का होना असम्भव है। ध्यान की इच्छा के बिना ध्यान नहीं हो सकता और उसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं हो सकती तथा सम्यक्दृष्टि आदि आठ अंगों की भावना नहीं हो सकती है[56]।

फुटनोट

1. हरिभद्र : षड्दर्शनसमुच्चय पृ 43-44
2 हरिभद्र : षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 44-45, प्रमाणवार्तिक 2/3
3 वही पृ 45, प्रमाणवार्तिक 3/279
4 षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 45-46
5 सिद्धिविनिश्चय टीका पृ 290
6 षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 47
7 हरिभद्र : षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 47-48
8 वही पृ 48-49
9. प्रो. उदयचन्द्र जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका पृ. 184
10 आप्तमीमांसा 29
11. प्रो. उदयचन्द्र जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका पृ. 185
12 लघीयस्त्रयम् 1/2
13. लघीयस्त्रयम् 1/2 अभयचन्द्रसूरिविरचित तात्पर्यवृत्ति पृ. 4-5
14 वही 2/1 पृ. 22
15 यो यत्रैव सतत्रैव यो यदैव सदैव स:
न देशकालयोर्व्याप्ति: भावनामिह विद्यते।
16 लघीयस्त्रयम् 2/1 अभयचन्द्रसूरिकृत तात्पर्यवृत्ति पृ 23-24
17. लघीयस्त्रयम् 2/6
18. लघीयस्त्रम् 5/6 अभयचन्द्रसूरिकृत तात्पर्यवृत्ति पृ. 55-56
19. अकलङ्कदेव: तत्वार्थवार्तिक 5/22/15-16
20. तत्वार्थवार्तिक 1/1/57
21. हरिभद्र : षडदर्शनसमुच्चय पृ. 395

22. वही पृ. 395
23. हरिभद्र : षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 394
24. शास्त्रवार्ता समुच्चय 289
25. वही पृ. 291-292
26. हरिभद्र : शास्त्रवार्तासमुच्चय 293
27. वही पृ. 245-246
28. वही पृ. 247
29. वही पृ. 251
30. शास्त्रवार्तासमुच्चय - चौथा स्तबक
31. वही छठा स्तबक
32. वही पृ 464
33. आप्तमीमांसा - 51
34. वही पृ. 52
35. समन्तभद्र : आप्तमीमांसा - 41
36 अष्टसहस्त्री पृ. 181-188
37. विद्यानन्द : अष्टसहस्त्री पृ. 181-182
38 आप्तमीमांसा - 43
39. अष्टसहस्त्री पृ 191
40. वही पृ. 191
41. विद्यानन्द : अष्टसहस्त्री 191
42. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक खण्ड 2 पृ. 573
43. वही पृ. 580
44. वही पृ. 581
45. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक खण्ड 4 पृ. 250
46. वही पृ. 254
47. वही पृ. 255
48. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक खण्ड 6 पृ 184
49 श्रीमल्लघुअनन्तवीर्य : प्रमेयरत्नमाला पृ. 269
50 श्रीमल्लघु अनन्तवीर्य : प्रमेयरत्नमाला पृ 272
51 वीरनन्दि : चन्द्रप्रभचरित - 42
52 वही पृ. 43
53 वही पृ 44
54. स्याद्वाद मंजरी - 19
55 मल्लिषेण : स्याद्वादमंजरी पृ. 158-159
56 जिनसेन : आदिपुराण 21/243-244

❑❑❑

सप्तम परिच्छेद

विज्ञानवाद समीक्षा

पूर्वपक्ष-सभी ज्ञान निरालम्बन होने से अयथार्थ हैं - विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध संवेदन को वेद्य वेदक आकार से विकल, समस्त विकल्पों के विषय से परे, निर्विकल्पक और पृथक् परमार्थिक स्वसंवेदन से जानने योग्य मानता है तथा समस्त ज्ञानों को जिनमें ग्राह्य ग्राहक आकार दीखता है, जो किसी बाह्य वस्तु का प्रकाशन करते हैं, विपर्यस्त-भ्रान्त समझता है और कहता है कि ऐसे ज्ञान अनादिकाल से चली आ रही वासना के बल से होते हैं। इसकी दृष्टि में दूसरों के द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष भ्रान्त है।[1] ज्ञान विषयाकार भी होता है और स्वाकार भी होता है, उभयाभास ज्ञान स्वसंवेदन प्रमाण का फल है।[2] सभी ज्ञान निरालम्बन होने से अयथार्थ हैं। निर्विकल्पक स्वज्ञान ही प्रमाण है। शास्त्रों में जो प्रमाण, प्रमेय आदि की प्रक्रिया है, उसके द्वारा अविद्या का ही विस्तार किया गया है। विद्या तो आगम विकल्प से परे है, वह स्वयं प्रकाशमान है।[3] यह संसार केवल विज्ञानरूप ही है, बाह्य अचेतन अर्थ की सत्ता नहीं है, क्योंकि ज्ञानद्वैत ही एकमात्र सत् है, तात्त्विक है। ज्ञान सन्तान अनेक हैं। साकार ज्ञान प्रमाण है। अनादिकालीन विचित्र वासनाओं के परिपाक से ही ज्ञान में नील, पीत आदि अनेक आकारों का प्रतिभास होता है।

आलय विज्ञान - अहंरूप से भासमान ज्ञान ही सभी वासनाओं का आधार होता है। इस आलय विज्ञान की विशुद्धि को ही मोक्ष कहते हैं।[4]

ज्ञान ज्ञेय से सत् रूप से भिन्न है - विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान को ज्ञेय से सत् रूप से भी भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार सद्विशेष से ज्ञान में ज्ञेय से भेद होने पर भी असत्त्व का प्रसङ्ग नहीं आता है किन्तु सदन्तरत्व भी नहीं होगा जैसे पटान्तर से भेद होने पर भी भिन्न पट में पटान्तरत्व का अभाव है अर्थात् एक ज्ञानरूप सत् से भिन्न सत् प्रमेयरूप है वह भिन्न सदेत्तर कहलाता है, उसका भाव रूप तत्त्व प्रमेय कहलाता है, वह प्रमेयत्व ज्ञान में नहीं होगा, जैसे कि पटान्तर घटादि से भेद होने पर भी पट में पटान्तरत्व का अभाव पाया जाता है। पुन: सभी सद्विशेषों में (क्षणिकों में) वह सामान्य असत्त्व की व्यावृत्ति मात्र है। अर्थात् बौद्धमत में असत् की व्यावृत्तिमात्र को ही सत् कहते हैं। सत् सामान्यरूप किसी ज्ञान में किसी ज्ञेय से भिन्न है या अभिन्न? ऐसा विचार भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह विचार वस्तुनिष्ठ है और सन्मात्र तो अवस्तुभूत है। सत् सामान्य रूप से व्यावृत ज्ञान में ज्ञेय से परमार्थ सत्त्व क्षणिकपने का विरोध नहीं है। अतएव ज्ञान ज्ञेय से भिन्न होने से दोनों ही असत् रूप हो जायेंगे ऐसा उलाहना आप जैनी नहीं दे सकते हैं।[5]

बाह्य पदार्थ का अभाव है - विज्ञानविशेष से ही वासना के प्रबोध की सिद्धि होती है। विज्ञान विशेष के अभाव में बाह्य पदार्थ वासना प्रबोध के अहेतुक हैं, अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आ जाएगा, अर्थात् पिशाच, परमाणु आदि भी वासना प्रबोध के हेतु हो जायेंगे। नीलादि विज्ञान से ही उनकी वासना का प्रबोध होता है और वासना के प्रबोध से नीलादि पदार्थों का ज्ञान होता है, अत: विज्ञानवादियों के यहाँ परस्पराश्रय दोष भी नहीं आता है नीलादिज्ञान के अधिपति चक्षुरादि

निर्विकल्प ज्ञान और समनन्तर ज्ञान ही जो कि नीलादि ज्ञान को उत्पन्न करने वाले हैं वे उस वासना के प्रबोध में हेतु हैं और उन वासनाओं में भी तत्कारण विज्ञान अधिपति समनन्तरादि कारण प्राक्तन विज्ञान से प्रबोध स्वीकार किया गया है । इस प्रकार यह वासनारूपी नदी में पड़ा हुआ अनादि प्रबोध प्रत्यय का समूह और उस वासना प्रबोध का विज्ञानप्रवाह भी इस वासनारूपी नदी में पड़ा हुआ है । इसलिए बाह्य पदार्थों से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।[6] बाह्य पदार्थों का अभाव होने से वक्ता श्रोता और प्रभाता बुद्धि से पृथग्भूत नहीं है, क्योंकि वक्ता, श्रोता और प्रभाता के आकार रूप बुद्धि ही वक्ता आदि के व्यवहार को प्राप्त हो जाती है, क्योंकि वाक्य भी ज्ञान से भिन्न कुछ है ही नहीं एवं प्रभा भी ज्ञानात्मक है ।[7]

अद्वैत संवेदन सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित है – ज्ञानाद्वैत के ज्ञान में भ्रम न होने देने का कारण अनादिकाल से लगे हुए मिथ्याज्ञान और तृष्णारूपी दोषों का क्षय है। ज्ञान के विषय में निश्चय उत्पन्न होने से संवेदन की सिद्धि हम नहीं मानते हैं, क्योंकि निश्चय ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रमाणरूप नहीं है, अप्रमाण ज्ञानों से वस्तुभूत ज्ञानाद्वेत का वेदन और भ्रान्तिरहित व्यवस्थापन नहीं हो सकता है, कारण कि वह परमार्थभूत अद्वैत संवेदन सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित है ।[8]

युक्ति से सिद्ध न होने वाले बाह्य पदार्थ दिखाई देने पर भी श्रद्धा योग्य नहीं है – सत्यशासन परीक्षा में बौद्धों की ओर से कहा गया है कि युक्ति से सिद्ध न होने वाले बाह्यपदार्थ दिखाई देने पर भी श्रद्धा करने योग्य नहीं हैं ।[9] युक्ति से जो घट प्राप्त नहीं होता है, वह यदि दिखाई भी दे तो भी हम उस पर श्रद्धा नहीं करते हैं ।[10] बाह्य अर्थ असंभव है, संवित्ति ही खण्डशः प्रतिभासमान होती हुई समस्त वैद्य वेदक व्यवहार के लिए कल्पित होती है । कहा है-"न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है, न आकाश है, न अन्य कुछ और है । विश्वरूपी नाटक के विलास की साक्षिणी संवित् ही चारों और वृद्धिंगत हो रही है ।" नील, पीत, सुख, दुःख रूपिणी भेदबुद्धि एक संवित् में ही प्रकट होती है, जिस प्रकार सम चित्रपट पर बनी हुई स्त्री के विषय में यह बुद्धि होती है कि इस स्त्री की नाभि निम्न है तथा यह उन्नत स्तनों वाली है ।[11]

त्रिधातुमय जगत् चित्तमात्र ही है - दशभूमीश्वर में कहा है- "चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम" अर्थात - हे जिनपुत्र जो कुछ भी यह त्रिधातुमय जगत् है वह सब चित्तमात्र ही है । " बाह्य पदार्थों का अस्तित्व तदाकार ज्ञान से ही सिद्ध होता है । यदि नीलाकार ज्ञानविद्यमान है तो बाह्य नील के मानने की क्या आवश्यकता है ? यदि नीलाकार ज्ञान नहीं है तो उस बाह्य नील का अस्तित्व ही कैसे सिद्ध किया जा सकता है ।[13] विज्ञान अथवा चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है । चित को छोड़कर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है ।[14] यह समस्त जगत विज्ञान मात्र है, क्योंकि क्षणभङ्गुर है । जो क्षणभङ्गु होते हैं वे सब ज्ञान के विकार होते हैं। यदि ज्ञान के विकार न होकर स्वतन्त्र पदार्थ होते तो वे नित्य होते परन्तु संसार में कोई पदार्थ नित्य नहीं है, इसलिए वे सब ज्ञान के विकार मात्र हैं । वह विज्ञान निरंश है-अवान्तर भंगों से रहित है, बिना परम्परा उत्पन्न किए ही उसका नाश हो जाता है और वेद्य वेदक तथा संवित्ति रूप से भिन्न प्रकाशित होता है अर्थात् वह स्वभावतः न तो किसी अन्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, और न किसी को जानता ही है, एक क्षण रहकर समूल नष्ट हो जाता है । वह ज्ञान नष्ट होने से पहले ही अपनी सांवृतिक सन्तान छोड़ जाता है, जिससे पदार्थों का स्मरण होता रहता है । वह संतान अपने सन्तानी ज्ञान से भिन्न नहीं है । क्षणभङ्गुर पदार्थ में जो प्रत्यभिज्ञान होता है,

वह वास्तविक नहीं है, किन्तु भ्रान्त है। जिस प्रकार काटे जाने पर फिर से बढ़े हुए नखों और केशों में ये वे ही केश हैं, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होता है, अत: विज्ञान की सन्तान के अतिरिक्त जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है, जो कि परलोक रूप फल को भोगने वाला हो। अतएव परलोक सम्बन्धी दु:ख दूर करने के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुषों का परलोकमय वैसा ही है, जैसा कि टिटहरी को अपने ऊपर आकाश के पड़ने का भय होता है।[15]

पर्यालोचन -प्रमाणसत्व का विनिश्चय होने से प्रत्यक्ष भ्रान्त नहीं है - "दूसरों के द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष भ्रान्त है" विज्ञानवादियों का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणत्व का विनिश्चय होने से प्रत्यक्ष भ्रान्त नहीं है, क्योंकि एक ओर "भ्रान्त" कहना और दूसरी ओर "प्रमाण" कहना ये दोनों परस्पर विरोधी वचन हैं।[16] विज्ञानवादियों के अनुसार ऐसी कोई बुद्धि नहीं है जो बाह्य स्वलक्षण के आलम्बन में कल्पना से रहित हो, क्योंकि स्वप्नबुद्धि की तरह बुद्धि समूह के आलम्बन में भ्रान्तपना होने से कल्पना करनी पड़ती है, अत: अपने अंश मात्ररूप तक सीमित विषय होने से विज्ञानमात्र तत्त्व की ही सिद्धि होती है। इस पर प्रश्न पैदा होता है कि विज्ञानमात्र की सिद्धि ससाधना है या नि:साधना ? यदि ससाधना है तो साध्य साधन की बुद्धि सिद्ध हुई, विज्ञानमात्रता न रही और यदि साध्यसाधन की बुद्धि का नाम ही विज्ञानमात्रता है तो फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह बुद्धि अनर्थिका है या अर्थवती ? यदि साध्य साधन की बुद्धि अनर्थिका है (जिसका कोई अर्थ नहीं) तो विज्ञानमात्र तत्त्व को सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिया जाता है, उसकी सिद्धि नहीं होती है और जब हेतु ही सिद्ध नहीं तो विज्ञप्तिमात्ररूप साध्य की सिद्धि भी नहीं बन सकती। यदि साध्य साधन की बुद्धि अर्थवती है तो इसी से प्रस्तुत हेतु के व्यभिचार दोष आता है- सर्वज्ञान निरालम्बन है, ज्ञान होने से ऐसा दूसरों के प्रति कहना तब युक्त नहीं ठहरता। यदि विज्ञानमात्र तत्त्व को योगिगम्य कहा जाय तो यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यह बात परवादियों के द्वारा मान्य नहीं है।[17]

समस्त विकल्पों से रहित ज्ञानाद्वैत तत्त्व स्वसंवेद्य नहीं हो सकता है- जो विज्ञानाद्वैत तत्त्व कार्य-कारण, वास्यवासक, साध्य साधन, बाह्य बाधक, वाच्य-वाचक भाव आदि समस्त विकल्पों से शून्य है वह स्वसंवेद्य नहीं हो सकता। जो विज्ञानाद्वैत तत्त्व सम्पूर्ण कथनों के आश्रय से रहित है, वह कथन के योग्य नहीं हो सकता।[18]

संवेदनाद्वैतवादियों का अवाच्य तत्त्व वाच्य हो जाता है- गूंगे का स्वसंवेदन जिस प्रकार आत्मवेद्य है, उसी प्रकार विज्ञानाद्वैत तत्त्व भी आत्मवेद्य है, उसका कथन गूँगे की अस्पष्ट भाषा के समान प्रलापमात्र होने से निरर्थक है, वह अभिलाप रूप नहीं है, साथ ही उसका संकेत नहीं किया जा सकता, इस प्रकार जिन संवेदनाद्वैतवादियों का कहना है, उनका सर्वथा अवाच्य तत्त्व इससे वाच्य हो जाता है।[19] शास्ताने निर्दोष वचनों की शिक्षा दी, परन्तु उन वचनों के द्वारा उनके शिष्य शिक्षित नहीं हुए, बौद्धों का यह कथन दूसरा दुर्गतम अन्धकार है।[20] जिस संवेदनाद्वैत तत्त्व में प्रत्यक्षबुद्धि प्रवृत नहीं होती, किसी के जिसका तद्रूप निश्चय नहीं बनता, उसे यदि लिङ्गगम्य माना जाय तो उसमें अर्थरूपलिङ्ग सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वभावलिङ्ग उस तत्त्व की तरह प्रत्यक्ष बुद्धि से अतिक्रान्त है, उसे लिङ्गान्तर से गम्य मानने पर अनवस्था दोष आता है तथा कार्यलिङ्ग का सम्भव मानने पर द्वैतता का प्रसङ्ग आता है और परार्थानुमान रूपवचन का उसके

संवेदनाद्वैत रूप वचन के साथ योग नहीं बैठता- परम्परा से भी सम्बन्ध नहीं बनता, उस संवेदनाद्वैत तत्त्व की क्या गति है ? प्रत्यक्षा लैङ्गिकी और शाब्दिकी कोई भी गति न होने से उसकी बोधगम्यता नहीं बनती, वह किसी के द्वारा नहीं जाना जा सकता, इस प्रकार संवेदनाद्वैत दर्शन कष्टरूप है। [21] यदि संवृति से संवेदनाद्वैत तत्त्व की प्रतिपत्ति मानकर बौद्धदर्शन की कष्टरूपता का निषेध किया जाय तो वह भी ठीक नहीं बैठता, क्योंकि संवृत्तिवादियों का रागादि अविद्यानल दीपनवाक्य और विमोक्षविद्यामृत शासन वाक्य परमार्थशून्यविषय में परस्पर भेद को लिए हुए नहीं बनता। अर्थात् जिस प्रकार संवृतिवादियों के यहाँ अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम: इत्यादि रागादि अविद्यानल दीपक वाक्यसमूह को परमार्थशून्य बतलाया गया है, उसी प्रकार उनका "सम्यग्ज्ञान वैतृष्णभावना सो नि:श्रेयसम्" इत्यादि विमोक्षविद्यामृत का शासनात्मक वाक्यसमूह भी परमार्थशून्य ठहरता है, दोनों में परमार्थ शून्यताविषयक कोई भेद नहीं है। क्योंकि उनमें से प्रत्येक वाक्य अनेकान्त शासन के विपरीत है और इसलिए परमार्थशून्य है।[22] स्याद्वादात्मक शैली से अनभिज्ञ बौद्धों के एक सम्प्रदाय का यह विपरीताभिनिवेश है जो यह प्रतिपादन करता है कि गुरु के द्वारा उपदिष्टअविद्या भाव्यमान हुई निश्चय से विद्या को जन्म देने में समर्थ होती है, क्योंकि इससे जो अविद्या अविद्यान्तर के जन्म का कारण सुप्रसिद्ध है, वही उसके अजन्म का कारण भी हो जाती है।[23]

केवल अन्तरङ्ग अर्थ की ही सत्ता है, ऐसा एकान्त मानने पर सब बुद्धि और वाक्य मिथ्या हो जावेंगे और मिथ्या होने से वे प्रमाणाभास ही होगें, किन्तु प्रमाण के बिना कोई प्रमाणाभास कैसे हो सकता है ?[24]

विज्ञानमात्र में साध्य और हेतु संभव नहीं है-"साध्य और साधन के ज्ञान को यदि विज्ञानमात्र ही माना जाय तो प्रतिज्ञा दोष और हेतु दोष के कारण न कोई साध्य बन सकता है और न हेतु। [25]" यहाँ प्रतिज्ञादोष का तात्पर्य स्ववचन विरोध से है। साध्ययुक्त पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। विज्ञप्तिमात्र तत्त्व के मानने पर धर्म, धर्मी हेतु, दृष्टान्त आदि का भेद कैसे बन सकता है ? यहाँ अर्थ और ज्ञान धर्मी है, अभेद साध्य अथवा धर्म है, सहोपलम्भ हेतु है और द्विचन्द्र दृष्टान्त है। विज्ञानमात्र के सद्भाव में इस सबका सद्भाव नहीं हो सकता है। धर्म और धर्मी के भेद के वचन का तथा हेतु और दृष्टान्त के भेद के वचन का ज्ञानाद्वैत के वचन के साथ विरोध है।[26] इसी प्रकार हेतु दोष भी होता है। विज्ञानाद्वैतवादी पृथगनुपलम्भरूप (पृथक उपलंभ न होना) हेतु से ज्ञान और अर्थ में भेदाभाव की सिद्धि करते हैं, किन्तु पृथगनुपलम्भ (हेतु) और भेदाभाव (साध्य) ये दोनों अभावरूप हैं, इस कारण से इनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे गगनकुसुम और शशविषाण में कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। धूम और पावक में कार्यकारण सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही धूम पावक की सिद्धि होती है। पृथगनुपलम्भ हेतु और भेदाभाव साध्य में किसी प्रकार के सम्बन्ध के अभाव में पृथगनुपलम्भ हेतु से भेदाभाव साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार असहानुपलम्भ (एक साथ अनुपलंभ न होना) हेतु के ज्ञान और अर्थ में अभेद की सिद्धि करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ हेतु अभावरूप है और साध्य भावरूप है, किन्तु भाव और अभाव में कोई सम्बन्ध नहीं होता है। तदात्म्य तदुत्पत्ति आदि सम्बन्ध भाव में ही पाए जाते हैं, अभाव में नहीं। अर्थ और ज्ञान में पृथगनुपलंभ हेतु से भेदाभावमात्र सिद्ध होने पर भी ज्ञानमात्र की सिद्धि नहीं हो सकती है। उससे तो केवल इतना ही सिद्ध होता है कि अर्थ और ज्ञान में भेदाभाव है और यदि पृथगनुपलंभ हेतु से विज्ञानमात्र की सिद्धि होती है तो अनुमान

और विज्ञानमात्र में ग्राह्य ग्राहक भाव मानना पड़ेगा तथा अनुमान और विज्ञानमात्र में ग्राह्य ग्राहक... मान लेने पर विज्ञान और अर्थ में भी ग्राह्य ग्राहकभाव मानने में कौन सी आपत्ति है।[27]

संवेदन को भ्रान्त मानने पर प्रतिज्ञा हानि या साध्यसिद्धि का अभाव होता है- जो भी योगाचारादि समस्त ज्ञान की भ्रान्तता की प्रतिज्ञा करता है, उसे भी तत्साधक (समस्त संवेदन को भ्रान्तता के साधक) "निरालम्बना: सर्वे प्रत्यया: प्रत्ययत्वात् , स्वप्नप्रत्ययवत्" जितने ज्ञान है वे सब निरालम्बन हैं, उनका अर्थ नामका कोई आलम्बन नहीं है, प्रत्यय (ज्ञान) होने से, "स्वप्नज्ञान के समान" इस अनुमान रूप ज्ञान को तो कम से कम अभ्रान्त मानना चाहिए। उसे भ्रान्त मानने से तत्प्रतिपादित जितना पदार्थ है, वह झूठा हो जायगा, तब समस्त ज्ञान अभ्रान्त हो जायेंगे। यदि ये ज्ञान अभ्रान्त नहीं होंगे तो तत्साधक अनुमान भ्रान्त नहीं होगा। निष्कर्ष यह निकला कि योगाचार को जो कि समस्त ज्ञानों को भ्रान्त मानता है- इन दो बातों में से कोई एक स्वीकार करना पड़ेगा। यदि वह समस्त संवेदन को भ्रान्त मानना चाहता है तो उस समस्त संवेदन की भ्रान्तता के साधक अनुमान को अभ्रान्त मानना पडेगा, क्योंकि उसे अभ्रान्त माने बिना समस्त संवेदन भ्रान्त नहीं हो सकते और यदि समस्त संवेदन की भ्रान्तता के साधक अनुमान को भी भ्रान्त मानना चाहता है तो उसे उससे भिन्न सकल ज्ञानों को अभ्रान्त मानना पड़ेगा, क्योंकि इनको अभ्रान्त माने बिना तत्साधक अनुमान ज्ञान को भ्रान्तता नहीं बन सकेगी। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में प्रतिज्ञाहानि दोष है।[28]

विज्ञानाद्वैत की मान्यता स्वरूप विपर्यास है - आचार्य पूज्यपाद के अनुसार "रूपादिक निर्विकल्पक है या रूपादिक हैं या नहीं या रूपादिक के आकाररूप से परिणत हुआ विज्ञान ही है, उसका आलम्बन मन और कोई बाह्य पदार्थ नहीं है", मिथ्यादर्शन के उदय से जीव इसी प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध नाना प्रकार की कल्पनायें करते हैं और उनमें श्रद्धान उत्पन्न करते हैं। इसीलिए उनका यह ज्ञान मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान या विभंग ज्ञान होता है।[29]

मन के विज्ञानरूप होने के निषेध - बौद्ध मन का पृथक अस्तित्व न मानकर उसे विज्ञानरूप कहते हैं। छहों ज्ञानों की उत्पत्ति का जो समनन्तर अतीत अर्थात् उपादानभूत ज्ञानक्षण है वह मन है। अर्थात् पूर्वज्ञान को मन कहते हैं यह उनका सिद्धान्त है। पर उनके मत में जब ज्ञान क्षणिक है तो जब वह वर्तमानक्षण में ही पदार्थो का बोध नहीं कर सकता तो पूर्व ज्ञान की तो बात ही क्या करनी। वर्तमान ज्ञान पूर्व और उत्तर विज्ञानों से जब कोई सम्बन्ध नहीं रखता तब वह गुणदोषविचार स्मरण आदि कैसे कर सकता है? अनुस्मरण स्वयं अनुभूत पदार्थ का उसी को होता है, न तो अन्य के द्वारा अनुभूत का और न अननुभूत का। क्षणिकपक्ष में स्मरण आदि का यह क्रम बन ही नहीं सकता। सन्तान अवस्तुभूत है अत: उसकी अपेक्षा स्मरणादि की संगति बैठाना भी उचित नहीं है। पूर्व ज्ञानरूपी मन जब वर्तमान काल में अत्यन्त असत् हो जाता है तब वह गुणदोष विचार, स्मरण आदि कार्यों को कैसे कर सकेगा? यदि बीजरूप आलयविज्ञान को स्थायी मानते हैं तो क्षणिकत्व पक्ष का लोप हो जाता है। यदि वह भी क्षणिक है तो वह भी स्मरणादि का आलम्बन नहीं हो सकता।[30]

उभयाभास ज्ञान का संवेदन प्रमाण का फल नहीं है - ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों के मत में ज्ञान विषयाकार भी होता है और स्वकार भी। ये उभयाभास ज्ञान के स्वसंवेदन को प्रमाण का फल मानते हैं, उनका स्वसंवेदन को फल मानना उचित नहीं है, क्योंकि फल चूँकि कार्य है अत: उसे भिन्न होना ही चाहिए जैसे कि छेदन क्रिया छेदने वाले और छिदे जाने वाले से भिन्न होती है। यह समाधान भी उचित नहीं है कि अधिगम रूप फल में ही व्यापाररूप प्रमाणता का उपचार करके

एक ही अधिगम को प्रमाण और फल कह देते हैं, क्योंकि उपचार तब होता है जब मुख्य वस्तु स्वतन्त्र भाव से प्रसिद्ध है। जैसे सिंह अपने शूरत्व क्रूरत्व आदि गुणों से प्रसिद्ध है तभी उसका सादृश्य से बालक में उपचार किया जाता है, पर यहाँ जब मुख्य प्रमाण ही प्रसिद्ध नहीं है तब फल में उसके उपचार की कल्पना ही नहीं हो सकती।31 एक ही ज्ञान में ग्राहकाकार विषयाकार और संवेदनकार इन तीन आकारों को मानकर प्रमाणफल व्यवस्था बनाना उचित नहीं है, क्योंकि इस कल्पना में एकान्तवाद का निराकारण होकर अनेकान्तवाद की स्थापना हो जाती है। एक वस्तु अनेक धर्म वाली होती है, यह तो जैनेन्द्र का अनेकान्त सिद्धान्त है। यदि एक ज्ञान में अनेकाकारता हो सकती है तो जगत् के प्रत्येक पदार्थ को अनेक धर्मात्मक मानने में क्या बाधा है ? यदि अनेकान्तात्मक द्रव्यसिद्धि के भय से केवल आकार ही आकार मानते हैं तो यह प्रश्न होता है कि वे आकार किसके हैं। निराश्रय आकार तो रह नहीं सकते, अत: उनका अभाव ही हो जायगा। वे आकार यदि युगपत् उत्पन्न होते हैं तो उनमें कार्यकारणभाव नहीं बन सकेगा। क्षणिक आकारों की क्रमिक उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। यदि हो तो अधिगम भिन्न पदार्थ नहीं है, अर्थात् आकाररूप ही है, यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है, क्योंकि क्रमिक उत्पत्ति में अधिगम की भी किसी क्षण में स्वतन्त्र उत्पत्ति माननी पड़ेगी।[32]

ज्ञानमात्र सत् होने पर प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था नहीं बनेगी – यदि बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं है और केवल ज्ञानमात्र ही सत् है तब प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योंकि अन्तरङ्ग आकार में तो कोई भेद नहीं होता। जो असत् को सत् जाने वह प्रमाणाभास और जो असत् ही है यह जाने वह प्रमाण इस प्रकार की प्रमाण-प्रमाणाभास व्यवस्था मानने पर स्वरुपक्षण और सामान्य लक्षण इन दो जो प्रमेयों से प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों का नियम करना असङ्गत हो जायगा, क्योंकि यह नियम प्रमेय की सत्ता स्वीकार करके किया गया है। प्रत्यक्ष स्वलक्षण को विषय करता है, असाधारण वस्तु स्वलक्षण है, वह विकल्पातीत है, इसी का "यह, वह" इत्यादि रूप से व्यवहार में निर्देश होता है, सामान्य अनुमान का विषय होता है, आदि व्याख्यायें सर्वाभाववाद में नहीं बन सकतीं। सर्वाभाववाद में किसी भी भेद की संभावना ही नहीं की जा सकती। सम्बन्धियों के भेद से अभाव में भेद कहना तो तब उचित है जब सम्बन्धियों की सत्ता सिद्ध हो।[33]

संवेदनाद्वैत की सिद्धि का कोई उपाय नहीं है – संवेदनाद्वैतवादी का कथन भी उचित नहीं है कि "सभी ज्ञान निरालम्बन होने से अयथार्थ है, निर्विकल्पस्वज्ञान ही प्रमाण है। शास्त्रों में जो प्रमाण, प्रमेय आदि की प्रक्रिया है, उसके द्वारा अविद्या का ही विस्तार किया गया है। विद्या तो आगमविकल्प से परे है, वह स्वयं प्रकाशमान है, क्योंकि संवेदनाद्वैत की सिद्धि का कोई उपाय नहीं है, इस प्रतिपत्ति के प्रत्यालोचन में कहा गया है "जो संवेदनाद्वैत प्रत्यक्षबुद्धि का विषय नहीं है, जिसका अनुमान अर्थरूप लिङ्ग के द्वारा हो नहीं सकता और जिसके स्वरूप की सिद्धि वचनों द्वारा भी नहीं हो सकती उस सर्वथा असिद्ध संवेदन को मानने वालों की क्या गति होगी? अत: संवेदनाद्वैतवाद त्याज्य है।[34]

विज्ञानवादी बाह्य पदार्थ नहीं मानता तो उसे सन्तानान्तर भी नहीं मानना चाहिए-

यदि बाह्यार्थ कोई वास्तविक नहीं है, किन्तु ज्ञान ही नील-पीत आदि अनेक आकारों में अपनी छटा दिखाता है तब अपनी ज्ञान सन्तान के सिवाय अन्य सन्तानें जिन्हें सन्तानान्तर या आत्मान्तर भी कहते हैं, भी नहीं माननी चाहिए। वही एक स्वज्ञानसन्तान ही विचित्र वासना के कारण नीलादि बाह्य पदार्थरूप तथा सन्तानान्तर रूप से प्रतिभासित होती रहेगी, अन्य ज्ञानसन्तान मानना निरर्थक है।

विज्ञानवादी -ज्ञान की अनेक सन्तानों को सिद्ध करने वाला अनुमान मौजूद है। जैसे-देवक्त की ज्ञान सन्तान से भिन्न यज्ञदत आदि की ज्ञान सन्तानों में होने वाली वचन व्यवहार या प्रवृत्तियाँ बुद्धिपूर्वक हैं, क्योंकि वे वचन व्यवहार तथा प्रवृत्तियाँ हैं, जैसे कि खुद अपनी ज्ञान सन्तान में होने वाली बुद्धिपूर्वक वचन तथा प्रवृत्तियाँ। हम अपनी ज्ञान सन्तान में ही वचन तथा अन्य प्रवृत्तियों का ज्ञान के साथ कारणकार्यभाव ग्रहण करते हैं, हममें ज्ञान है, अत: अच्छी तरह बोलते हैं तथा अन्य भोजन आदि प्रवृत्तियाँ चलाते हैं, उसी तरह यज्ञवत आदि भी बोलते तथा भोजन आदि में प्रवृत्ति करते हैं, अत: उनकी ये प्रवृत्तियां ही उन्हें स्वतन्त्र ज्ञानसन्तान सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

जैन- आप नीलादि बाह्यपदार्थों के ग्रहण करने वाले प्रत्यय (ज्ञान) को भ्रान्त कहते हो। आपका यह प्रसिद्ध अनुमान है कि -"संसार के समस्त प्रत्यय निरालम्बन हैं- उनका कोई बाह्य पदार्थ विषय नहीं है, वे केवल स्वरूपमात्र को विषय करते हैं" क्योंकि वे प्रत्यय हैं। जो जो प्रत्यय हैं वे सब निरालम्बन - निर्विषयक हैं जैसे कि स्वप्नप्रत्यय। जिस प्रकार स्वप्न में घट-पट आदि पदार्थों का अस्तित्व न होने पर भी सैकड़ों घट, पट आदि पदार्थों का साक्षात् नियतरूप में प्रतिभास होता है, उसी तरह यह जगत् भी दीर्घस्वप्न है, इसमें इन घट-पटादि पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है, मात्र ज्ञान ही इन सब रूपों में प्रतिभासित होता है, अत: जिस तरह आप स्वप्न का दृष्टान्त देकर नीलादि प्रत्ययों को भ्रान्त बताकर बाह्य नीलादि पदार्थों का अभाव करते हो, उसी तरह यह सन्तानान्तर का साधक अनुमान भी तो प्रत्यय ही है, अत: यह भी स्वप्न के ही दृष्टान्त से भ्रान्त हो जायगा और फिर इससे सन्तानान्तर की सिद्धि नहीं हो सकेगी। सन्तानान्तर साधक अनुमान ही स्वप्नप्रत्यय की तरह निरालम्बन- निर्विषयक होगा। अत: सन्तानान्तर का ही प्रभाव हो हो जायेगा। परन्तु सन्तानान्तर का अभाव किसी भी तरह मानना उचित नहीं है, क्योंकि गुरु शिष्य वादी-प्रतिवादी आदि के रूप से अनेकों ज्ञान सन्तानें प्रत्यक्ष से ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली अनुभव में आती है।[35]

बाह्य पदार्थ का खण्डन नहीं किया जा सकता- विज्ञान ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है यह सिद्धान्त संगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि ऐसा कोई भी यतार्थ प्रमाण हमें प्राप्त नहीं जो बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध कर सके। बाह्य पदार्थों का अभाव प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध नहीं, क्योंकि विज्ञानवादी अभाव तो प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं मानते हैं और न ही यह अभाव अनुमान द्वारा सिद्ध है, क्योंकि इस अभाव का अनुमापक कोई समर्थ हेतु हमें प्राप्त नहीं, क्योंकि जो पदार्थ उपलब्धिलक्षण प्राप्त होने पर भी उपलब्ध न हो, उसकी अनुपलब्धि ही उसके अभाव का निश्चय कराने वाली है। एक पदार्थ के उपलब्धिलक्षण प्राप्त होने का अर्थ है उस पदार्थ की उपलब्धि कराने वाली शेष सब सामग्री का उपस्थित होना, किन्तु यदि किसी सामग्री के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह अमुक पदार्थ की उपलब्धि कराने वाली है तब इस पदार्थ को सत्ता शून्य कैसे माना जा सकता है।[36]

विज्ञानवादी- उक्त सामग्री का यह स्वभाव ही है कि वह उक्त पदार्थ की उपस्थिति में उस समय पदार्थ की उपलब्धि कराती ही है।

जैन- यह कहने का तो अर्थ हुआ कि 'उक्त पदार्थ के उपस्थित रहने पर उक्त सामग्री उस पदार्थ की उपलब्धि कराती ही है क्योंकि' यदि ऐसा न हो तो इस सामग्री वो उक्त स्वभाववाली ही नहीं कहा जा सकेगा।[37]

...वादी- उक्त सामग्री को उक्त स्वभाववाली इसलिए कहा जाता है कि उस सामग्री में ... की उपलब्धि को उत्पन्न करने की योग्यता है।

... ऐसा कहने पर भी तो उक्त पदार्थ की सत्तासद्ध ही हो गई, क्योंकि अब तो इस पदार्थ की ... कभी-कभी हो ही जानी चाहिए।[38] यदि ऐसा न हो तो किसी भी सामग्री के सम्बन्ध में यह ... कहाँ तक युक्ति संगत होगा कि उसमें उक्त पदार्थ की उपलब्धि कराने की योग्यता है ? ... (जो पकने पर कभी नहीं गलता) आदि पदार्थों के सम्बन्ध में यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उनमें पकने आदि की योग्यता है।[39]

विज्ञानवादी - बाह्य पदार्थों को ग्रहण करना जिस सामग्री का स्वभाव नहीं, उसके द्वारा बाह्य पदार्थों का ग्रहण नहीं होता।

जैन- इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि बाह्य पदार्थ सत्ताशून्य है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तब तो अवाञ्छनीय निष्कर्ष सिर पर आ पड़ते हैं।[39] अर्थात् तब तो किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में कहा जा सकेगा कि वह सत्ता शून्य है, क्योंकि उसका ग्रहण वह सामग्री नहीं करती, जिसका स्वभाव उसे ग्रहण करना नहीं है।

विज्ञानवादी- विज्ञान एक स्वसंवेद्य वस्तु है, जब कि बाह्य पदार्थ उस स्वभाव वाले नहीं और वह इसलिए कि बाह्य पदार्थों को स्वसंवेद्य मानना अयुक्तिसंगत है। ऐसी दशा में विज्ञान को ग्रहण करते समय बाह्य पदार्थों का भी ग्रहण हो यह बात बनती नहीं। बाह्य पदार्थों का ग्रहण नहीं होता, यही वस्तुस्थिति यह भी निश्चय करा देती है कि बाह्य पदार्थ सत्ताशून्य है।[40]

जैन- जिस विज्ञान को प्रस्तुत वादी स्वसंवेद्य मान रहा है वही "बाह्य पदार्थों का ग्रहण" इस रूप वाला है और ऐसी दशा में इस विज्ञान का ग्रहण करते समय ही बाह्य पदार्थों का ग्रहण हो, यह बात बनती क्यों नहीं।41 अर्थात् अवश्य बनती है, हमें ज्ञान की अनुभूति "घट आदि का ज्ञान" इस रूप में होती है, हम घट आदि की ओर अग्रसर होते हैं। हमें घट आदि की प्राप्ति होती है, हम घट आदि को काम में लाते हैं, हमें घट आदि की स्मृति होती है, हमें घट आदि को प्राप्त करने की इच्छा होती है। यदि जगत में ज्ञानमात्र की सत्ता हो तो हमारी जानकारी का स्वरूप "यह ज्ञान ही है" ऐसा होना चाहिए और उस दशा में उन क्रियाकलापों की ओर अभिमुख होना आदि हमारे लिए कभी संभव नहीं होना चाहिए, जो कि लोक तथा शास्त्र में प्रसिद्ध है। यदि यह माना जाय कि ज्ञान अपने से अतिरिक्त किसी वस्तु को अपना विषय बनाता है तो उसका बाह्य पदार्थों से शत्रुता रखना ठीक नहीं है, क्योंकि उस दशा में भी उस प्रकार की आपत्तियाँ उठाई जा सकेंगी कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के ज्ञान को अपने ज्ञान का विषय नहीं बना सकता[42], अतः इस दूसरे व्यक्ति का ज्ञान सत्ताशून्य है।

विज्ञानवादी- बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि बाह्य पदार्थ ग्राह्य आदि (ग्राह्य, गाहक, उभय, अनुभव) रूप वाले नहीं।

जैन- यह बात तो ज्ञान को एकमात्र सत्ता मानने वाले सिद्धान्त के विषय में भी सही है। [43] ज्ञान के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह केवल ग्राह्य स्वरूप नहीं, क्योंकि उस दशा में वह ग्राह्य स्वरूप नहीं रह सकेगा, वह केवल ग्राहक स्वरूप नहीं, क्योंकि उस दशा में वह ग्राहक स्वरूप नहीं रह ... ग्राह्य तथा ग्राहक स्वरूप दोनों नहीं क्योंकि उस दशा में उसका स्वभाव

अन्तर्विरोधपूर्ण हो जायगा, वह ग्राह्य स्वरूप तथा ग्राहकस्वरूप दोनों के अभाव वाला नहीं, क्योंकि उस दशा में स्वभावशून्य होने के कारण वह सत्ता शून्य हो जायगा। ऐसी दशा में उसकी सत्ता स्वीकार करना कहाँ तक उचित है ।[44]

विज्ञानवादी में मोक्ष की अनुपपत्ति - विज्ञान को ही एकमात्र वास्तविक सत्ता मानने पर संसार तथा मोक्ष के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता और ऐसी दशा में विज्ञानवादियों का यह कथन ठीक नहीं कि राग आदि मनोदोषों से दूषित चित्त का ही नाम संसार है तथा इन्ही मनोदोषों से मुक्त चित्त का नाम मोक्ष है ।[45] रोगादि क्लेशों का समूह जो कि विज्ञान से पृथक वस्तु नहीं और विज्ञान ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है तो प्रश्न उठता है कि कौन किसे दूषित करता है ?[46] अर्थात् कोई वस्तु अपने आपको दूषित नहीं कर सकती ।

विज्ञानवादी- दूषित विज्ञान का ही नाम राग आदि मनोदोष है ।

जैन- तब तो वह वस्तु जिसके कारण विज्ञान दूषित अवस्था प्राप्त करता है, विज्ञान की ही भाँति एक वास्तविक सत्ता होना चाहिए। जैसे नीलादि (जो कि स्वच्छ वस्त्र को रंगीन करते हैं) एक वास्तविक सत्ता है और मोक्षावस्था में विज्ञान अपने को दूषित करने वाली उक्त वस्तु से पृथक होकर अवस्थित रहता है- उसी प्रकार जैसे नीलादि से पृथक होकर वस्त्र पुन: स्वच्छ अवस्था प्राप्त करता है, ऐसी स्थिति में विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थों की सत्ता जो कि विज्ञानवादियों को अभीष्ट नहीं, सिद्ध हो जाती है ।[47]

. **विज्ञानवादी**- विज्ञान का स्वभाव से ही दूषित होना उसका दूषित होना कहलाता है ।

जैन- जब दोषों के अवस्थान की परिधि विज्ञान की परिधि से न कम है, न अधिक तब मोक्ष प्राप्ति कैसे संभव होगी ।[48]

विज्ञानवादी- बाह्य पदार्थों के अभाव में भी अनुभूत होने वाले ग्राह्य-ग्राहक भाव को ही हम विज्ञान का दूषित होना कहते हैं, और यह ग्राह्य ग्राहक भाव एक भ्रान्ति है, उसी प्रकार जैसे दो चन्द्रमाओं का दिखाई देना ।[49]

जैन- यह सब कुछ ऐसा ही क्यों न हो, किन्तु भ्रान्ति का कारण ज्ञानमात्र के कारण से भिन्न होना चाहिए, तिमिर नामक नेत्ररोग के अभाव में किसी व्यक्ति को दो चन्द्र नहीं दिखलाई पड़ते। भ्रान्ति का कारण कोई अवास्तविक सत्ता नहीं हो सकती और न ही यह कारण ज्ञानमात्र हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर मानना पड़ेगा कि विज्ञान सदैव दूषित रहा करता है और उस दशा में मोक्ष की संभावना अयुक्ति संगत सिद्ध होगी ।[50] मोक्ष का अभाव होने पर दार्शनिक चर्चा व्यर्थ सिद्ध होती है और मोक्ष एक सदा वर्तमान अवस्था है तो भी उक्त चर्चा व्यर्थ सिद्ध होती है, इस पर भली भाँति विचार करना चाहिए ।[51]

ज्ञान को ज्ञेय से सत् रूप से भिन्न मानने पर विचार - विज्ञानवादी ज्ञान को ज्ञेय से सत् रूप से भी भिन्न मानते हैं। विज्ञानवादियों का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सत्सामान्य के अभाव में अथवा उसे संकृतिरूप मानने पर सद्विशेष क्षणिक रूप घट पटादिकों के अभाव का प्रसङ्ग आ जाएगा अथवा घट पटादि विशेष पदार्थ भी संवृत्तिरूप ही हो जावेंगे एवं उन सद्विशेषों में असत्व की व्यावृत्ति के होने पर भी वस्तु स्वभाव ही है, अन्यथा अखरविषाण से व्यावृत खरविषाणादि में भी सत्त्व का प्रसङ्ग हो जायगा। तथाहि अज्ञान से व्यावृत ज्ञान और अज्ञेय से व्यावृत ज्ञेय में असत् की व्यावृति वास्तविक है, क्योंकि सद्विशेष है और जिनमें वह वास्तविक नहीं है,

वे सद्विशेष भी नहीं है, जैसे वन्ध्या का पुत्र और ज्ञान ज्ञेय सद्विशेष हैं। इस प्रकार से यह केवल व्यतिरेकी हेतु है। उसी प्रकार से जिस ज्ञान और ज्ञेय में असत् की व्यावृत्ति वास्तविक है, उसी में सत्सामान्य वास्तविक है और सत्सामान्य से रहित वन्ध्यासुतादि में असत् व्यावृति अवास्तविक है। इस प्रकार से वास्तविक सत् सामान्य रूप से ज्ञेय से ज्ञान में भेद स्वीकार करने पर उसमें सत् विशेष रूप से भी भेद हो जावेगा और उस प्रकार से ज्ञान असत् हो जायेगा। ज्ञान को असत् रूप न स्वीकार करते हुए विषयी ज्ञान में विषय से कथंचित् ग्राह्य ग्राहक रूप से स्वभावभेद होने पर भी सत् आदि रूप से तादात्मय है, क्योंकि दोनों में अन्तर का अभाव है। अन्यथा यदि सत् आदि रूप से भी तादात्मय न मानो तो ज्ञान आकाशकमल के समान अवस्तु हो जायगा और पुनः उस ज्ञान के अभाव में बहिरङ्ग अथवा अन्तरङ्ग ज्ञेय रूप पदार्थ ही सिद्ध हो सकेंगे, क्योंकि वह ज्ञेय ज्ञान की उपेक्षा रखता है।[52]

वक्ता श्रोता और प्रमाता भ्रान्त रूप नहीं हैं- विज्ञानवादियों ने कहा था कि बाह्य पदार्थों का अभाव होने से वक्ता आदि तीनों ही बुद्धि से पृथग्भूत नहीं हैं। विज्ञानवादियों का यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि रूपादि के ग्राहक वक्ता और श्रोता एवं उससे भिन्न वक्ता और श्रोता तथा उससे भिन्न विज्ञान सन्तान का समुदाय और अपने अंशमात्र (स्वरूपमात्र) का अवलम्बन लेने वाला प्रमाण, इन सबको भ्रान्त रूप कल्पित करने पर ये रूपादि सर्वथा ही सम्पूर्ण रूप से असिद्ध हो जायेंगे, पुनः अन्तर्ज्ञेय ज्ञानाद्वैत की स्वीकृति ही विरोधरूप हो जावेगी। यदि आप अपने अंशमात्र के अवलम्बी ज्ञान को भी भ्रान्तिरूप कल्पित करोगे तब तो प्रमाण की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि आपके मत में "कल्पनापोढमभ्रान्त" इस सूत्र क द्वारा अभ्रान्त ज्ञान को ही प्रमाण रूप माना गया है। प्रमाण को भी विभ्रम रूप मानने पर तो अन्तर्ज्ञेय विज्ञानाद्वैतमात्र ही तत्व है, यह आपकी प्रतिज्ञा विरूद्ध क्यों नहीं हो जावेगी और प्रमाण के बिना भी विज्ञानमात्र तत्त्व की व्यवस्था करने पर तो सभी के ही अपने-अपने माने गए तत्त्व इष्टरूप सिद्ध हो जायेंगी। प्रमाण को भ्रान्त मान लेने पर तो तादृश एवं अन्यादृष प्रमाण एवं अप्रमाणरूप अन्तर्ज्ञेय बहिर्ज्ञेयरूप इष्ट अनिष्ट जो प्रमेय हैं जो कि बाह्य अर्थ कहलाते हैं, उनका विवेचन करना भी भ्रान्त हो जायेगा। अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेयरूप पदार्थ ग्राहक की अपेक्षा से बाह्यार्थरूप हैं, वे भ्रान्त ही हैं, क्योंकि उनका ग्राहक प्रमाण भ्रान्त रूप है। इस प्रकार से अन्तर्ज्ञेय-विज्ञानमात्ररूप एकान्त को स्वीकार करने पर उस अद्वैत में सौगत को हेयोपादेय का विवेक कैसे हो सकेगा कि जिससे उसकी स्वीकृति विरूद्ध न हो जावे? अर्थात् विज्ञानाद्वैत की स्वीकृति विरूद्ध ही है। यदि पुनः प्रमाण को अभ्रान्तरूप स्वीकार करते हैं तब तो आपको बाह्य पदार्थ स्वीकार कर ही लेना चाहिए। उसे न मानने पर प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था कथमपि नहीं हो सकेगी।[53]

बाह्य पदार्थ के होने पर बुद्धि और शब्द को प्रमाणता है- बाह्य पदार्थ के होने पर बुद्धि-ज्ञान और शब्द को प्रमाणता है एवं बाह्यार्थ के नहीं होने पर उनको प्रमाणरूपता नहीं है। इस प्रकार से अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति में सत्य एवं असत्य की व्यवस्था की जाती है।[54] बुद्धि स्वकीय ज्ञानकराने में प्रयोजनीभूत है एवं शब्द पर को प्रतिपादन करने में प्रयोजनीभूत हैं। स्व और पर का ज्ञान कराने के लिए जो साधन-उपाय हैं, वे बुद्धि एवं शब्द रूप हैं, क्योंकि स्वसंविति के द्वारा ही पर का प्रतिपादन करना शक्य नहीं है। वह स्वसंविति पर को अप्रत्यक्ष है। बाह्य पदार्थ के होने पर ही वे बुद्धि और शब्दरूप साधन अर्थ की प्राप्ति से प्रमाणभूत सिद्ध होते हैं एवं बाह्य पदार्थ

के नहीं होने पर अर्थ की अप्राप्ति से प्रमाणाभासरूप सिद्ध हो जाते है। इस प्रकार से बुद्धि एवं शब्द के होने पर सत्य एवं असत्य की व्यवस्था की जाती है, क्योंकि स्वपक्ष का साधन एवम् परपक्ष का दूषण उसी प्रकार प्रतीति में आता है, अतएव बाह्य पदार्थ परमार्थ से सत् रूप हैं, क्योंकि साधन एवं दूषण का प्रयोग देखा जाता है।[55]

विज्ञानमात्रतत्त्व अर्थक्रियाकारी न होने से अवस्तु है – संविन्मात्रविज्ञानतत्त्व मात्र उत्तर क्षण रूप ज्ञान कार्य को नहीं करता है, इसलिए वह अर्थक्रियाकारी नहीं है, अतएव वह वस्तुरूप भी नहीं हो सकता है, जैसे कि सर्वथा नित्यत्त्व में वस्तुत्त्व का विरोध है अर्थात् विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध एक ज्ञानमात्र ही तत्व मानते हैं, उस ज्ञान की स्थिति भी एक क्षणमात्र ही मानते हैं, उस ज्ञान की स्थिति भी एकक्षणमात्र ही मानते हैं, अत: पूर्वक्षण का ज्ञान उत्तरक्षणरूप ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता है। अत: वह किसी अर्थक्रिया को न करने से अवस्तु ही हो जाता है और यदि आप कहें कि वह संविन्मात्र स्वकार्य उत्तरक्षणरूप ज्ञानकार्य को करता है, तब तो उसमें कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है अर्थात् कार्यकारणभाव के सिद्ध हो जाने से भी द्वैत का प्रसङ्ग आने से संवेदनाद्वैत की सिद्धि नहीं होगी। यदि वह संवेदनाद्वैत भेदभ्रान्ति को बाधित करता है तब तो बाध्य बाधक भाव के होने से भी भेद का प्रसङ्ग आ जाने से अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि आप कहें कि यह संवेवदनाद्वैत भेदभ्रान्ति को बाधित नहीं करता है तब तो भेद का सत्यत्त्व सिद्ध हो जाने से अद्वैत की व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रतिपक्ष जैन आदि द्वैतवादियों के निराकरण का अभाव हो जाता है।[56]

संवेदन के समान अविद्या और तृष्णा भी भिन्न पदार्थ सिद्ध होते हैं– बौद्धों का सिद्धान्त है कि ज्ञानाद्वैत में भ्रम न होने देने का कारण अनादिकाल से लगे हुए मिथ्याज्ञान और तृष्णा रूपी दोषों का क्षय है। इस पर जैनों का कहना है कि आपकी मानी हुई अद्वैत संवेदन के जानने में बाधा डालने वाली अविद्या और संकल्पविकल्पों को करने वाली वाञ्छायें यदि जानने योग्य स्वभावों को धारण करती हैं, तब तो आपका केवल अकेले संवेदन का ही मानना नहीं हो सकता है कारण कि संवेदन के समान अविद्या और तृष्णा भी सिद्ध हो गए, क्योंकि वे भी ज्ञात हो रहे हैं। यदि आप अविद्या और तृष्णा को जानने योग्य स्वभाव वाली नहीं मानोगे तो अविद्या और तृष्णा रूप दोषों से ज्ञानाद्वैत के जानने में भ्रान्ति होना माना है और अविद्या और तृष्णा के विध्वंस हो जाने पर ज्ञानाद्वैत की भ्रान्तिरहित जानने की व्यवस्था स्वीकार की है, जबकि वे दोनों दोष ज्ञान से जानने योग्य नहीं है तो उनकी सत्ता और असत्ता का निर्णय कैसे हो सकता है।[57]

संवेदनाद्वैतवादी मानते हैं कि न तो कोई ज्ञान का ग्राह्य है, न कोई ग्राह्य का ग्राहक है। न कोई किसी से बाध्य है और न कोई किसी का बाधक है। न कोई किसी का कार्य है, न कोई किसी का कारण है। न कोई किसी शब्द का वाच्य है, न कोई अभिधान किसी का वाचक है इत्यादि।[58] जैनाचार्यों ने उपयुक्त मन्तव्य का निराकरण किया है।

ग्राह्य ग्राहक भाव की सिद्धि –ग्राह्य ग्राहक भाव से रहितपने को यदि उसके ग्रहण करने वाले ज्ञान का ग्राह्य मानोगें तब तो ग्राह्य ग्राहक भाव ही आ गया अर्थात् ग्राह्य ग्राहक भाव से रहितपना ग्राह्य यानी विषय हो गया और उसको जानने वाला ज्ञान ग्राहक अर्थात् विषयी हो गया। अन्यथा उस ग्राह्य ग्राहक भाव से शून्यपन ज्ञान में नहीं आवेगा तो भी ग्राह्य ग्राहकभाव बन गया।[59]

बाध्य बाधक भाव की सिद्धि– बाध्यबाधक भाव में बाधा देने पर बाध्यबाधक भाव का खण्डन किया जा सकता है, इस प्रकार बाध्यबाधक भाव सिद्ध हो गया। यदि बाध्य भाव नहीं है तो निराकरण किसका होगा।[60]

कार्यकारणभाव की सिद्धि- कार्य को बनाए बिना संवेदन को वस्तुपना ही नहीं युक्त होता है क्योंकि जो अर्थक्रियाओं को करता है, वही वस्तुभूत अर्थ माना गया है। यदि उस संवेदन का कोई कारण न स्वीकार किया जावेगा तो वह संवेदन सभी प्रकार से सदा स्थित हो जायगा। किन्तु ज्ञान में ऐसा नित्यपना आपने इष्ट नहीं किया है।[61]

वाच्यवाचकभाव की सिद्धि - बौद्धों ने अपने संवेदन को वाच्यवाचकपन अंश से रहित स्वीकार किया है, किन्तु शिष्य को या प्रतिवादी को समझाने के लिए वाच्य वाचक से रहितपना भी शब्दों से ही कहा जावेगा, तब तो वाच्यवाचक भाव की व्यवस्था बन गयी, क्योंकि वाच्यवाचक से रहितपना तो वाच्य हो गया और वादी के द्वारा बोला गया शब्द उसका बाधक हो गया। यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकार से मानोगे तो शब्द के अतिरिक्त दूसरों को भले प्रकार समझाने का उपाय और दूसरा यहाँ क्या हो सकेगा।[62]

संवेदनाद्वैतवादी - हम परमार्थरूप से ग्राह्य ग्राहक भाव आदि का खण्डन करते हैं किन्तु व्यवहार से स्वप्न के समान सबको कल्पनासिद्ध मान लेते हैं।

जैन- संवृतिरूप व्यवहार सभी अर्थक्रियाओं का कारण है अत: व्यवहार को वस्तुपना प्राप्त है। सम्पूर्ण व्यवहारिक धर्म वस्तुभूत होते हुए अर्थक्रियाओं को कर रहे हैं, स्वप्न के समान अलीक नहीं हैं, इससे अन्य जो अर्थक्रियाओं को नहीं करते हुए केवल उपचार से कल्पित कर लिए गए हैं, वे स्वभाव तो वस्तुरुप से सत् नहीं है।[63]

विज्ञानवादी के मत में साध्य साधन दोनों एक हो जाते हैं- विज्ञान से ही विज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि विज्ञानवादी के मतानुसार साध्य-साधन दोनों एक हो जाते हैं- विज्ञान ही साध्य होता है और विज्ञान ही साधन होता है, ऐसी स्थिति में तत्त्व का निश्चय कैसे हो सकता है ?[64] संसार में बाह्य पदार्थों की सिद्धि वाक्यों के प्रयोग से ही होती है। यदि वाक्यों का प्रयोग न किया जाय तो किसी भी पदार्थ की सिद्धि नहीं होगी और उस अवस्था में संसार का व्यवहार बन्द हो जायगा। यदि वह वाक्य विज्ञान से भिन्न है तो वाक्यों का प्रयोग रहते हुए विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि वाक्य ही विज्ञान है तो "यह संसार विज्ञानमात्र है" इस विज्ञानाद्वैत की सिद्धि किसके द्वारा होगी। निरंश निर्विभाग विज्ञान को ही मानने पर ग्राह्य आदि का भेदव्यवहार किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा।[65]

ज्ञान का प्रतिभास विषयों के आकार से शून्य नहीं होता - ज्ञान का प्रतिभास (घट पटादि) विषयों के आकार से शून्य नहीं होता। प्रकाश करने योग्य पदार्थों के बिना क्या कभी कहीं कोई प्रकाशक प्रकाश करने वाला होता है।[66] अर्थात् नहीं होता है।

एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान के ग्रहण अग्रहण का प्रश्न - जैनों का प्रश्न है कि एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान का ग्रहण होता है अथवा नहीं, यदि होता है तो विज्ञान में निरालम्बनता का अभाव हुआ। उसने द्वितीय विज्ञान को जाना इसलिए उन दोनों में ग्राह्य ग्राहक भाव सिद्ध हो गया जो कि विज्ञानाद्वैत का बाधक है। यदि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान को ग्रहण नहीं करता तो विज्ञानवादी उस द्वितीय विज्ञान को जो कि अन्य सन्तानरूप है, सिद्ध करने के लिए क्या हेतु देंगे ? कदाचित् अनुमान से उसे सिद्ध करें तो (घट पटादि) बाह्य पदार्थों की स्थिति भी अवश्य सिद्ध हो जायगी।[67]

विपर्यय ज्ञान के विषय में आत्मख्यातिवादी योगाचार का मत- सीपादि में रजतादि का जो प्रतिभासरूप विपर्ययज्ञान है, वह मात्र ज्ञान का ही आकार है, किन्तु अनादि अविद्या के कारण ज्ञान से बाहर हुए के समान प्रतीत होता है। अनादि अविद्या की जो वासनायें हैं वे पुरुषों में क्रम-

क्रम से प्रकट होती हैं, इस कारण स्वीकार मात्र से जिनका संवेदन होता है वे ज्ञान क्रमश: अनेक आकार वाले होते हैं, अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक रूप में उद्भूत होते हैं। अत: विपर्यय में आत्मख्याति अर्थात् ज्ञान का ही आकार है, बाह्य वस्तु का नहीं, क्योंकि ज्ञान के सिवाय बाह्य वस्तु है नहीं[68]

समीक्षा- ज्ञान में अपना ही आकार है तथा वह स्वयं बाह्य पदार्थों के आकारों को धारण करता है, यह बात सिद्ध नहीं है- आचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि ज्ञान अपने में ही निष्ठ है और वही अर्थाकार होता है, यह बात सिद्ध होने पर ही इस विपर्यय ज्ञान की आत्मख्याति रूप से सिद्धि होगी, किन्तु ज्ञान में अपना ही आकार है तथा वह स्वयं ही बाह्य पदार्थों के आकारों को धारण करता है, ये दोनों बातें सिद्ध नहीं हैं। यदि सार ज्ञान अपना ही आकार ग्रहण करते हैं तो समस्त ज्ञानों का यह भ्रान्त ज्ञान है और यह अभ्रान्त है, ऐसा विवेक और बाध्य-साधक भाव बनेगा ही नहीं, क्योंकि ज्ञानों का अपने स्वरूपमात्र में तो कोई व्यभिचार नहीं होता अर्थात् आत्मस्वरूप को जानने की अपेक्षा समस्त ज्ञान प्रमाणभूत ही माने गये हैं।

आकार मात्र ज्ञान में ही निष्ठ है, बाहर में रजतादि नाम की कोई वस्तु नहीं है तो फिर रजत संवेदन द्वारा वह रजत रूप आकार सुखसंवेदन के समान अन्दर ही प्रतीति में आयेगा, बाहर में स्थित होने रूप मे प्रतीति में नहीं आएगा तथा जानने वाला व्यक्ति भी उस पदार्थ को ग्रहण करने के लिए प्रवृति क्यों करेगा ? क्योंकि ज्ञान के अन्दर ही तो वह आकार (वस्तु) है तथा वह आकार ज्ञान के अस्थिर होने से अस्थिर है, अत: उसमें उठाना, रखना आदि रूप ज्ञाता मनुष्य की प्रवृत्ति होगी, वह कैसे होगी अर्थात् नहीं हो सकती। तुम कहो कि अनादि अविद्या के कारण उस ज्ञानाकार की बाहरी वस्तुरूप से एवं स्थिर रूप से अनुभव होता है तो ऐसा मानने से तो विपरीतार्थ ख्याति ही तुम्हारे द्वारा मान्य हुई, क्योंकि ज्ञान से अभिन्न अस्थिर (क्षणिक) और बाहर में स्थिर रूप से अध्यवसाय हुआ। ऐसा अध्यवसाय ही तो विपरीतार्थख्याति है, इसे अपने मान लिया।[69]

फुटनोट

1 न्यायवतार पृ 54
2 तत्त्वार्थवार्तिक 1/12/13
3. वही 1/12/15
4. षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 74
5. अष्टसहस्री पृ. 167
6 अष्टसहस्री 216
7. वही पृ. 252
8. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भाग पृ. 89
9. सत्यशासनपरीक्षा पृ. 11
10. वही पृ. 11
11. वही पृ. 11
12. विघुशेखर भट्टाचार्य पृ. 33
13. प्रमाणवार्त्तिक 33/433
14. लङ्कावतार सूत्र
15 अदिपुराण 5/38-43
16. न्यायावतार - 6
17 समन्तभद्र : युकत्यनुशासन - 18
18. युकत्यनुशासन टीका 19
19. समन्तभद्र : युकत्यनुशासन - 20
20. वही 21
21. विद्यानन्द : युकत्यनुशासन टीका - 22
22. विद्यानन्द : युकत्यनुशासन टीका - 23
23. युकत्यनुशासन - 24
24. आप्तमीमांसा - 79
25. समन्तभद्र : आप्तमीमांसा - 80
26. तत्त्वदीपिका पृ. 265
27. वही पृ. 266
28. न्यायावतार (सिद्धर्षि टीका) पृ. 58

29. पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि पृ. 97
30. तत्त्वार्थवर्तिक पृ. 5/19/32
31. वही 1/12/13-14
32. तत्त्वार्थवार्तिक 1/12/15
33. वही 1/12/15
34. वाक्याप्रदीप 2/2/35, युकत्यनुशासन-22
35. षड्दर्शनसमुच्चय पृ. 345-346
36. शास्त्रवार्तासमुच्चय 375-378
37. वही 379
38. वही 380, वही 381
39. वही 383
40. शास्त्रवार्तासमुच्चय 384-385
41. वही 386
42. वही 387-389
43. शास्त्रवार्तासमुच्चय - 390
44. वही 391, वही 392
45. वही 403-404
46. वही 405
47. शास्त्रवार्तासमुच्चय 406-407
48. वही 408
49. वही 409
50. शास्त्र वार्त्ता समुच्चय 410, वही 411
51. वही 412
52. अष्टसहस्री पृ. 167-168
53. अष्टसहस्री पृ. 252
54. आप्तमींमासा - 87
55. अष्टसहस्री पृ. 252
56. अष्टसहस्री पृ. 186-187
57. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. 90 भाग - 1
58. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भाग - 1 पृ. 618
59. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भाग - 1 पृ. 619
60. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 150
61. वही 151
62. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाग - 1 पृ. 620
63. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाग - 1 पृ. 621
64 आदिपुराण 5/74
65. वही 5/75-76
66. आदिपुराण 5/77
67. वही 5/78-79
68 प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ 146
69. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. 146-147

❑❑❑

अष्टम परिच्छेद

चित्राद्वैत समीक्षा

पूर्वपक्ष

चित्राद्वैत का स्वरूप- यह चित्रज्ञान ही है जो नील सुखादि अनेक आकार रूप प्रतिभासित होता है, बाह्य अर्थ नहीं है, क्योंकि उसके सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है। जिसके सद्भाव में प्रमाण नहीं है, वह नहीं है, जैसे खरविषाण बाह्यार्थ के सद्भाव में कोई भी प्रमाण नहीं है। यह हेतु असिद्ध नहीं है। तथाहि- बाह्यार्थ के सद्भाव बतलाने वाला प्रमाण निराकार अथवा साकार होगा। वह निराकार नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वत्र समान होने से वह प्रतिकर्म में व्यवस्था का कारण नहीं बन सकता है। उसको साकार मानने पर तो यही सिद्ध होता है कि नीलादि अनेक आकारों से युक्त एक चित्रज्ञान ही है, उससे भिन्न कोई जड़ अर्थ नहीं है, क्योंकि उसकी व्यवस्था का कारण कोई भी नहीं है। आकार विशिष्ट ज्ञान ही बाह्यार्थ की व्यवस्था का हेतु नहीं हो सकता है, क्योंकि वह अपने आकार के अनुभव मात्र में ही चरितार्थ होता है।[1] कहा भी है-

''बुद्धि को अनीलादिरूप मानने पर बाह्यार्थ का कारण या हेतु क्या है? अर्थात् कुछ नहीं और यदि बुद्धि नीलादिरूप है तो बाह्यार्थ मानने का कोई कारण या प्रयोजन नहीं है।[2]

प्रमेय से पूर्वकाल भावीज्ञान का व्यवस्थापकत्व - एक बात यह भी है कि प्रमेय से पूर्वकालभावी ज्ञान बाह्यार्थ का व्यवस्थापक होगा अथवा उतरकालभावी। प्रथम पक्ष में ज्ञान में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पद्यमानता कैसे बन सकती है, क्योंकि प्रमेय के बिना ही वह उत्पन्न हो जाता है। जो प्रमेय के बिना ही उत्पन्न हो जाता है, वह इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य नहीं है, जैसे खपुष्पविज्ञान। प्रमेय से पूर्वकाल में होने वाला तथा बाह्यार्थ का व्यवस्थापक रूप से माना गया ज्ञान भी प्रमेय के बिना उत्पन्न होता है। द्वितीय पक्ष में-प्रमेय प्रमाण से पूर्वकालवर्ती है, यह बात किसी से प्रतिपन्न है या नहीं ? यदि प्रतिपन्न नहीं है तो प्रमेय सद्व्यवहार का विषय कैसे हो सकता है ? जो किसी से प्रतिपन्न नहीं है, वह सद्व्यवहार का विषय नहीं हो सकता। जैसे गगनकमल। प्रमाण से पूर्वकालवर्ती प्रमेय भी किसी से अप्रतिपन्न है।

प्रमाण से पूर्वकाल प्रमेय की प्रतिपन्नता के विषय में प्रश्न - प्रमाण से पूर्वकालवर्ती प्रमेय यदि प्रतिपन्न है तो स्वत: प्रतिपन्न है अथवा परत: ? यदि स्वत: प्रतिपन्न है तो प्रमेय में ज्ञान से भेद कैसे होगा ? क्योंकि ज्ञान का लक्षण ही स्वत: अवभासमानत्व है। जो स्वत: प्रसिद्ध है वह ज्ञान से भिन्न नहीं है जैसे- ज्ञान का स्वरूप। ज्ञान से पूर्ववर्ती प्रमेय वस्तु भी स्वत: प्रसिद्ध है। यदि माना जाय कि प्रमाण से पूर्वकालवर्ती प्रमेय परत: प्रतिपन्न है तो यह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रमाण से भिन्न प्रमेय की व्यवस्था करने वाला कोई दूसरा है नहीं। यदि कहा जाय कि प्रमाण ही प्रमेय की पूर्वकालवर्तीत्व को प्रकाशित करता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब प्रमाण स्वयं प्रमेय के काल में असत् है तो उसका प्रकाशक कैसे हो सकता है ? जो जिस काल में नहीं है, वह उसका प्रकाशक नहीं होता है, जैसे अपने उत्पाद से पूर्वकाल में रहने वाले पदार्थ

के समय असत् प्रदीप उसका प्रकाशक नहीं होता है। पूर्वकालवर्ती प्रमेय के काल में ज्ञान (प्रमाण) रहता नहीं है, तब उसका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

ज्ञान-ज्ञेय विचार- यदि ज्ञान और ज्ञेय का समकाल माना जाय तो सव्येतर गोविषाण की तरह उनमें ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं बन सकता है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि ज्ञान में नीलादि आकार के अनुराग की प्रतीति बाह्यार्थ के अभाव में बन नहीं सकती है, इसलिए नीलादि आकार का अनुरंजक बाह्यार्थ भी है, ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि स्वप्नावस्था में बाह्यार्थ के अभाव में भी नीलाद्याकार के अनुराग की प्रतीति होती है। उस समय होने वाला हाथी, घोड़े आदि के ज्ञान का अनुरंजक बाह्यार्थ नहीं है, अन्यथा स्वप्नज्ञान और इतर ज्ञान में कोई भेद ही नहीं रहेगा। इसलिए जिस प्रकार स्वप्नावस्था में बाह्यार्थ के बिना ही बुद्धि स्वसामग्री के विचित्र आकार वाली उत्पन्न होती है, वैसे ही जागृत अवस्था में भी समझना चाहिए। कोई कह सकता है कि विचित्र आकार रूप से प्रतिभासमान बुद्धि में एकत्व कैसे बन सकता है ? किन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है। अशक्य विवेचन होने के कारण एक बुद्धि में विचित्र आकारों के होने में कोई विरोध नहीं है।

कहा भी है- "चित्र विज्ञान में नीलादि ज्ञान के आत्मभूत होते हैं, आकारान्तर के बिना उनका दर्शन या वेदन नहीं होता है। जब पीत के अनुभव काल में नील का अनुभव नहीं होता है तब प्रमाता अनुभूयमान पीत के नील को भिन्न मानता हुआ नील अर्थ में ही विवेचक रूप से गिरता है।" अर्थात् उस समय नील अर्थ परोक्ष है। ज्ञान का स्वभाव तो अपरोक्ष है।

चित्रता अर्थ धर्म नहीं है- चित्र प्रतिभास वाली बुद्धि एक ही है, बाह्य चित्र से विलक्षण होने के कारण। बाह्यचित्र शक्यविवेचन है और बुद्धि के नीलादि आकार अशक्य विवेचन हैं। कोई कहता है- चित्रपटादि में चित्ररूपता प्रतीत होती है, वह ज्ञान का धर्म हो सकती है उत्तर - अर्थ का धर्म न हो सकने के कारण। तथाहि-चित्रपट आदि एक अवयविरूप निरंश वस्तु है अथवा उससे विपरीत ? प्रथम पक्ष में नीलभाग का ग्रहण होने पर पीतादिभागों का अग्रहण नहीं होगा। उनका अग्रहण मानने पर पीतादि का नील से भेद का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। जिसके ग्रहण करने पर जिसका ग्रहण होता है, वह उससे भिन्न है। जैसे- मलयाचल के ग्रहण करने पर विन्ध्याचल? नीलभाग के ग्रहण करने पर पीतादि का ग्रहण नहीं होता है। विरूद्धधर्माध्यास होता है। उसमें एकरूपता नहीं होती है, जैसे जल, अनल आदि में। अवयवी में भी ग्रहण - अग्रहण रूप विरुद्ध धर्माध्यास पाया जाता है। अथवा नीलभाग को पीतादि भागरूप होने से पीतादि के अग्रहण में नील का भी अग्रहण होना चाहिए। जो जिस रूप में होता है, उसके अग्रह में उसका वह ग्रहण नहीं होता है। जैसे- पीतादि के अग्रह में पीतादि के स्वरूप का ग्रहण नहीं होता है। नील पीतादि रूप तो है ही। द्वितीय पक्ष में अर्थात् वस्तु को सांश मानने पर चित्रता का अपाय स्वयं ही सिद्ध हो जाता है, विभिन्न आश्रयों में रहने वाले नील पीतादि की तरह। इसलिए चित्रता अर्थ धर्म नहीं है, किन्तु ज्ञानधर्म है। अपने कारणकलाप से उत्पन्न होने वाला विज्ञान अनेकाकार रूप (चित्ररूप) ही उत्पन्न होता है और अनुभव में भी आता है। अत: उस प्रकार का ज्ञान ही एक तत्त्व है। इस प्रकार चित्राद्वैत की सिद्धि होती है।

सुखादि भी ज्ञानात्मक है- यहाँ सांख्य कह सकता है कि अचेतन सुखादि में ज्ञानरूपता का विरह होने से चित्रप्रतिभासयुक्त ज्ञान ही एकतत्त्व कैसे सिद्ध होगा, जिससे चित्राद्वैत की सिद्धि हो सके।

सांख्य का उक्त कथन कथनमात्र है। क्योंकि सुखादि भी ज्ञान के अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होने के कारण ज्ञानात्मक ही हैं। तथाहि-सुखादि ज्ञानात्मक हैं ज्ञान से अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होने के कारण, ज्ञानान्तर की तरह।[5] कहा भी है - "तद्रूप भाव तद्रूप हेतुओं से उत्पन्न होते हैं और अतद्रूप भाव अतद्रूप हेतुओं से उत्पन्न होते हैं। इसलिए सुखादि अज्ञान कैसे हो सकते हैं, क्योंकि वे विज्ञान से अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होते हैं।[6]"

उत्तर पक्ष - चित्राद्वैतवादी के उपर्युक्त सिद्धान्त का आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस प्रकार खण्डन किया है।[7]

निराकार ज्ञान ही बाह्य अर्थ के सद्भाव में प्रमाण है -यह जो कहा गया है कि "साकार अथवा निराकार ज्ञान बाह्य अर्थ में सद्भाव में प्रमाण नहीं है" इत्यादि। वहाँ निराकार ज्ञान ही बाह्य अर्थ के सद्भाव में प्रमाण है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि निराकार संवेदन सर्वत्र समान रहने के कारण प्रतिकर्म व्यवस्था में हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि निराकार होने पर भी योग्यता के द्वारा प्रतिकर्म की व्यवस्था का समर्थन किया जायगा।

प्रमाणपूर्व अपर और सहभाव नियम से निरपेक्ष होकर वस्तु को प्रकाशित करता है- "प्रमाण प्रमेय से पूर्वकालभावी है या उत्तरकालभावी" इत्यादि जो कहा गया है, वह भी असमीक्षित कथन है, क्योंकि प्रकाशक में पूर्व, अपर और सहभाव के नियम का अभाव है। तथाहि -कोई पदार्थ पूर्व में विद्यमान रहकर बाद में होने वाले पदार्थों का प्रकाशक होता है, जैसे सूर्य- कहीं प्रकाश्य पहले से होते हैं और प्रकाशक बाद में होकर उनका प्रकाशक बनता है, जैसे-प्रदीप। कहीं पर सहभावी पदार्थों का प्रकाशक होता है। जैसे- कृतकत्वादि अनित्यत्व आदि का। अतः प्रमाण पूर्व अपर और सहभाव नियम से निरपेक्ष होकर वस्तु को प्रकाशित करता है, प्रकाशक होने से आदित्य आदि की तरह।

स्वप्नज्ञान में भी बाह्यार्थ विषय होता है - यह जो कहा गया है कि स्वप्न अवस्था में बहिरर्थ के अभाव में भी नीलादि का अनुराग प्रतीत होता है, इत्यादि वह भी कथनमात्र ही है। स्वप्न में भी बाह्यार्थ विषय होता है, इस बात को माध्यमिक मत के विचार के अवसर पर सिद्ध किया जायगा।

चित्राकार रूप से प्रतिभासमान ज्ञान में भी अशक्य विवेचनत्व के कारण एकत्व कहना ठीक नहीं है -

यह जो कहा गया है कि चित्राकाररूप से प्रतिभासमान ज्ञान में भी अशक्यविवेचनत्व के कारण एकत्व है, यहाँ विचारणीय यह है कि अशक्यविवेचनत्व क्या है ? 1 ज्ञानाभिन्नत्व 2 सहोत्पन्न नीलादि ज्ञानान्तर का परिहार करके उसी ज्ञान से अनुभव 3 अथवा भेद से विवेचन (पृथक्करण) का अभावमात्र। प्रथम पक्ष में हेतु साध्यसम है। जब हम कहते हैं नीलादि ज्ञान से अभिन्न हैं, ज्ञान से अभिन्न होने के कारण तो जैसे यहाँ हेतु साध्यसम है वैसे ही अशक्यविवेचनत्वात् हेतु भी साध्यसम है। द्वितीय पक्ष में हेतु अनेकान्तिक है, क्योंकि सुगत ज्ञान के साथ उत्पन्न सचराचर जगत जो कि ज्ञानान्तर का परिहार करके सुगत ज्ञान के द्वारा ही ग्राह्य है, किन्तु उसका सुगत ज्ञान के साथ एकत्व नहीं है। एकत्व मानने पर सुगत में संसारीपना हो जायगा अथवा संसारियों में सुगतत्त्व हो जायगा। एक ही में संसाररूपता और असंसाररूपता मानना तो ब्रह्मवाद का ही समर्थन कहलायगा। ज्ञानान्तर का परिहार करके उसी ज्ञान से अनुभव भी असिद्ध है, क्योंकि नीलादि का ज्ञानान्तर से भी अनुभव होता है। नीलादि को ज्ञानरूप होने से उसी ज्ञान से अनुभव मानने पर अन्योन्याश्रय होता है - नीलादी को ज्ञानरूप सिद्ध होने पर उनका ज्ञानान्तर

का परिहार करके उसी ज्ञान से अनुभव सिद्ध हो और ज्ञानान्तर का परिहार करके उसी ज्ञान से अनुभव सिद्ध होने पर उनमें ज्ञानरूप की सिद्धि हो। तृतीय विकल्प भेदनविवेचना भावमात्र भी असिद्ध है। नीलबहिर्देश से सम्बद्ध है और नीलज्ञान अन्तर्देश सम्बद्ध है, इस प्रकार भेद से विवेचन सिद्ध होता है। इस प्रकार से विवेच्यमान इन दोनों के विवेचन का अपह्नव करना ठीक नहीं है, क्योंकि फिर तो सबका अपह्नव होने सकल शून्यता का अनुषङ्ग हो जायगा।

किञ्च- जब अनेक आकारों के अक्रान्त अन्तस्तत्त्व के अशक्यविवेचनत्व के कारण एक होने में कोई विरोध नहीं है तब बहिस्तत्व अवयवी में भी इसी कारण एकत्व का अविरोध हो जायेगा, दोनों जगत् विशेष का अभाव होने से। बहिरर्थ में बुद्धि के द्वारा उसके स्वरूप का विवेचन (पृथक्करण) अन्तस्तत्त्व में भी समान है। चित्रज्ञान में भी अन्योन्य देश का परिहार करके नीलादि आकार अवस्थित रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नीलादि आकारों के अनेक देश होते हैं। उनका एकदेश मानने पर एक आकार में भी सम्पूर्ण आकारों के प्रवेश का प्रसङ्ग आने से उनमें वैलक्षण्य का अभाव होने से ज्ञान में चित्रता का विरोध प्राप्त होगा। जिसका एकदेश होता है उसमें आकार का वैलक्षण्य नहीं होता जैसे- एक नीलाकार का और चित्रज्ञान में नीलादि आकार भी एकदेश वाले हैं तथा जहाँ आकार का अवैलक्षण्य है, वहाँ चित्ररूपता भी नहीं है, जैसे -एक नीलज्ञान में और एकदेश रूप से अभिमत नीलादि आकारों में आकार का अवैलक्षण्य है ही।

आकार के विषय में प्रश्न - क्या ये आकार चित्रज्ञान में सम्बद्ध होकर चित्रज्ञान के व्यपदेश में हेतु होते हैं अथवा असम्बद्ध होकर ? असम्बद्ध होकर तो व्यपदेश में हेतु हो नहीं सकते हैं, अतिप्रसंग होने से। यदि सम्बद्ध हैं तो तादात्म्य से या तदुत्पत्ति से। तदुत्पत्ति से तो हो नहीं सकते, क्योंकि समसमयवर्ती नारीनयनयुग्य की तरह समसमयवर्तियों में तदुत्पत्तिसम्बन्ध नहीं होता है। वे तादात्म्य से भी सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं, क्योंकि अनेक आकारों से अव्यतिरिच्यमान होने के कारण ज्ञान में एकरूपता के अभाव का प्रसङ्ग होगा। जो अनेक आकारों से अव्यतिरिच्यमान होता है, वह अनेक होता है, जैसे अनेक आकारों का स्वरूप। चित्रज्ञान भी अनेक आकारों से अव्यतिरिच्यमान है। अनेक आकारों का एक ज्ञान से अव्यतिरेक मानने पर उनमें अनेकत्व नहीं बन सकता है। जो एक से अव्यतिरिक्त है, वह अनेक नहीं है, जैसे- उसी ज्ञान का स्वरूप और अनेकरूप से माने गए नीलादि आकार भी एक ज्ञान से अव्यतिरिक्त हैं।

चित्रता अर्थ का धर्म है - यह जो कहा गया है कि ग्रहण और अग्रहण लक्षण विरुद्ध धर्माध्यास होने से चित्रता अर्थ का धर्म नहीं है, वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध होने पर उसमें अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है। अबाधित प्रत्यक्षज्ञान में चित्रकार बाह्यार्थ के धर्मरूप से प्रतिभासित होता है, उसमें ज्ञानधर्मता मानना ठीक नहीं है, अतिप्रसंग होने से। जो जिसके धर्मरूप से प्रतीत होता है, वह उससे अन्य का धर्म नहीं हो सकता है। जैसे अग्नि के धर्मरूप से प्रतीयमान उष्णता जल का धर्म नहीं है। चित्रता कभी बाह्यार्थ के धर्मरूप से प्रतीत होती है।

प्रश्न - बाह्यार्थ का धर्म मानने पर ग्रहण और अग्रहण की उपपत्ति कैसे बनेगी?

उत्तर- क्योंकि चित्रप्रतिपत्ति का सम्बन्ध अनेक वर्णों की प्रतिपत्ति से है। नीलभाग के प्रतिपन्न (ज्ञात) होने पर भी पीतादिभागों की अप्रतिपत्ति होने पर चित्रता की अप्रतिपत्ति युक्त ही है। चित्रता को ज्ञान का धर्म मानने पर भी विरोध तो समान ही है। तथाहि - एक ज्ञान अनेकाकार है अथवा तद्विपरीतज्ञान अर्थात् अनेकज्ञान। प्रथम विकल्प तो ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर में व्यावृत

होने के कारण अनेक आकारों की एक अनंश ज्ञान में वृत्ति नहीं हो सकती है। जिनकी परस्पर में व्यावृत्ति है, उनकी एक अनंश में वृत्ति नहीं होती है, जैसे गौ अश्व आदि की। नीलादि आकारों की भी परस्पर में व्यावृत्ति है एक अनंश ज्ञान का परस्पर विरुद्ध आकारों के साथ तादात्मतय मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा मानने से निरंश ज्ञान में भी भेद का प्रसङ्ग होगा। प्रयोग - जो एक और अनंश है उसका परस्पर विरूद्ध आकारों के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता है। जैसे उत्पन्न क्षण का उत्पत्ति और अनुत्पत्ति के साथ अथवा सत्त्व और विनाश के साथ तादात्मय नहीं है। चित्र ज्ञान को बौद्धों ने एक और अनंश माना ही है। उसके साथ आकारों का तादात्म्य मानने पर भेदवार्ता भी दुर्लभ हो जायगी, तब चित्रता कैसे बनेगी। अब यदि कहा जाय कि नीलादि आकार की तरह नीलादि ज्ञान भी अनेक हैं तो कंथचित् अनेक हैं अथवा सर्वथा अनेक हैं तो उन ज्ञानों में परस्पर में अत्यन्त भेद होने से चित्रप्रतिपत्ति नहीं बनेगी। जिनका परस्पर में अत्यन्त भेद हैं। उनकी चित्र प्रतिपत्ति नहीं होती है, जैसे दूसरी सन्तानों के ज्ञानों में चित्रप्रतिपत्ति नहीं होती है आकारों की तरह उनके ज्ञानों में भी परस्पर भेद है ही। कथंचित् अभेद मानने पर तो ज्ञान की तरह बहिरर्थ में भी चित्रस्वभावता मानिए। क्योंकि अपने विचित्र आकारों से तादात्म्य का अनुभव करता हुआ बहिरर्थ भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत होता ही है। अत: दुराग्रह के अभिनिवेश से क्या लाभ है? बाह्य चित्रता तथा अन्तरङ्ग चित्रता दोनों में ही आक्षेप और समाधान समान ही हैं।

ज्ञान तथा सुखादि का स्वरूप विभिन्न है - यह जो कहा गया है कि सुखादि ज्ञानात्मक है, ज्ञान के अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होने के कारण, इत्यादि, वहाँ सुखादि में ज्ञाना भिन्न हेतुजत्व सर्वथा है या कथंचित्? प्रथम पक्ष में हेतु असिद्ध है, क्योंकि सुखादि साताअसातावेदनीय का उदय होने पर माला, वनितादि से निमित्त से होते हैं और ज्ञानावरण के क्षयोपशम- इन्द्रियादि कारण सामग्री से उत्पन्न होता है। ज्ञान सुखादि का स्वरूप भिन्न होने के कारण इनमें सर्वथा अभिन्नहेतुजत्व मानना ठीक नहीं है। जिनका विभिन्न स्वरूप होता है, उनमें सर्वथा अभिन्नहेतुजत्व नहीं होता है। जैसे -जल-अनल आदि में। ज्ञान सुखादि में भी विभिन्न स्वरूप है ही। यह बात असिद्ध भी नहीं है, सुखादि का स्वरूप आह्लादन आदिरूप है और ज्ञान का स्वभाव प्रमेय के अनुभवरूप है। कहा भी है-

"सुख का स्वभाव आह्लादनरूप है, विज्ञान प्रमेय के बोधरूप है, कान्ता का समागम होने पर युवापुरुष की शक्ति का अनुमान क्रिया के द्वारा होता है।[6]"

सुखादि केवल स्वरूप के प्रकाशन में ही नियत हैं - विभिन्न स्वरूप वाले पदार्थों का उपादान अभिन्न मानने पर सब सबका उपादान हो जायगा। अब यदि ज्ञान सुखादि में कथंचित् विज्ञानाभिन्न हेतुजत्व माना जाय तो हेतुरूप आलोक आदि के द्वारा अनैकान्तिक हो जायगा, क्योंकि जिस प्रकार रूप, आलोक आदि के द्वारा विज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार का रूप, आलोक आदि क्षणान्तर की भी उत्पत्ति होती है। इसलिए रूप, आलोक आदि को भी ज्ञानात्मक मानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि "ज्ञानात्मका: सुखादय: ज्ञानाभिन्न हेतुजत्वात्" यहाँ बौद्ध का कहना यह है कि सुखादि ज्ञानात्मक है, क्योंकि सुखादि के हेतु वहीं हैं जो ज्ञान के हेतु हैं। सुख और ज्ञान दोनों अभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होते हैं।

किञ्च उपादानकारण की अपेक्षा से सुखादि में विज्ञानाभिन्न हेतुजत्व है या सहकारी कारणों की अपेक्षा से? प्रथम पक्ष में इनका अभिन्न उपादान आत्मद्रव्य है या ज्ञानक्षण? आत्मद्रव्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि बौद्धों ने आत्मद्रव्य नहीं माना है। मानने पर भी क्या ज्ञान सुखादि में उपादान

की अपेक्षा से अभेद सिद्ध किया जाता है अथवा स्वरूप की अपेक्षा से ? यदि उपादान की अपेक्षा से तो सिद्ध साधन है, हम (जैन) चेतनद्रव्य की अपेक्षा से सुखादि में अभेद मानते ही हैं। हाँ इनमें परस्पर जो भेद माना गया है, वह सुख ज्ञानादि प्रतिनियत पर्याय की अपेक्षा से ही माना गया है। स्वरूप की अपेक्षा से अभेद मानने पर तो घटादि के द्वारा व्यभिचार होता है। अभिन्न उपादान वाले घट घटी, शराब उदञ्चन आदि में स्वरूप की अपेक्षा अभेद नहीं है, अब यदि कहा जाय कि विज्ञानाभिन्नहेतुजत्व का मतलब ज्ञानक्षण को उपादान मानने से है तो यह कथन भी असिद्ध है, क्योंकि सुखादि का उपादान आत्मद्रव्य ही होता है। कहीं पर भी पर्यायों का दूसरी पर्यायों की उत्पत्ति में उपादानत्व नहीं देखा गया है, द्रव्य ही अन्तरङ्ग या बाह्य में उपादान होता है।[9] कहा भी है-

"जो द्रव्य तीनों कालों में पूर्वापर की अपेक्षा से कथंचित त्यक्त और अत्यक्त स्वरूप वाला होता है, वही द्रव्य उपादान माना गया है।[10]

अब यदि माना जाय कि सुखादि में विज्ञानाभिन्नहेतुजत्व सहकारी कारणों की अपेक्षा से है तो यह भी विवक्षामात्र है, क्योंकि उक्त हेतु चक्षु आदि के द्वारा अनैकान्तिक हो जाता है और यदि सुखादि ज्ञान से सर्वथा अभिन्न हैं तो ज्ञान की तरह सुखादि भी अर्थप्रकाशक हो। लेकिन ऐसा नहीं है। सुखादि केवल स्वरूप के प्रकाशन में ही नियत हैं। ज्ञान स्व- पर प्रकाशन में नियत है और सुखादि स्वप्रकाशन में नियत हैं यह बात सबको प्रसिद्ध है। इसलिए विरुद्ध धर्मो का अध्यास होने से ज्ञान सुखादि में अभेद कैसे हो सकता है। जहां विरुद्धधर्माध्यास होता है, वहां अभेद नहीं होता है, जैसे - जल - अनल आदि में। ज्ञान सुखादि में भी विरूद्धधर्माध्यास है ही। इस प्रकार सुखादि में ज्ञानरूपत्व की सिद्धि न होने से "नील सुखादि विचित्र प्रतिभासाऽपि एकैव बुद्धि- अशक्यविवेचनत्वात्" इत्यादि वचन वास्तव में अभिप्रायमात्र को ही सूचित करते हैं अर्थात् विवक्षामात्र को कहते हैं, वास्तविक अर्थ को नहीं।

प्रमेयकमलमार्तण्ड में चित्राद्वैत विषयक विचार - विज्ञानाद्वैत का निराकरण होने से ही चित्राद्वैतवाद का निराकरण हो जाता है। चित्राद्वैतवादी का ऐसा कहना है कि बुद्धि में जो नाना आकार प्रतिभासित होते हैं, उनका विवेचन करना अशक्य है, अत: चित्र प्रतिभासवाला ज्ञान एक ही है, अनेक रूप नहीं है, क्योंकि वह बाह्य आकारों से विलक्षण हुआ करता है, बाह्य चित्र जो नाना आकार है, उनका तो विवेचन कर सकते हैं, किन्तु नील पीत आदि बुद्धि के आकारों का विवेचन होना शक्य नहीं है, मतलब यह है कि यह ज्ञान या बुद्धि है और ये नील, पीत आदि आकार हैं, ऐसा विभाग बुद्धि में होना अशक्य है, इस प्रकार विज्ञानाद्वैतवादी के भाई चित्राद्वैतवादी का यह कथन भी गलत है, यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान में होने वाले नील, पीत या घट पट आदि आकारों को भ्रान्त -असत्य मानता है और चित्राद्वैतवादी उन आकारों को सत्य मानता है।

बुद्धि के आकारों का विवेचन अशक्य होने की मान्यता असिद्ध है- चित्राद्वैतवादी का कथन असत्य क्यों है, इस विषय में आचार्य समझाते हैं कि आप जो बुद्धि के आकारों का विवेचन होना अशक्य मानते हैं, यह मान्यता असिद्ध है, हम पूछते हैं कि उन आकारों का विवेचन करना अशक्य क्यों है ? क्या वे नील-पीतादि आकार बुद्धि से अभिन्न हैं, इसलिए, अथवा बुद्धि के साथ उत्पन्न हुए नील, पीत आदि का दूसरी बुद्धि से अनुभव नहीं होकर उसी विवक्षित एक बुद्धि के द्वारा अनुभव

होता है, इसलिए, या भेद करके उनके विवेचन होने का अभाव है, इसलिए उन आकारों का विवेचन करना अशक्य है ? अन्य प्रकार मे तो अशक्य विवेचनता वहाँ हो नहीं सकती, यदि प्रथम पक्ष की अपेक्षा वहाँ अशक्य विवेचनता मानी जाय तो हेतु साध्यसम हो जाता है, अर्थात् नीलादिक बुद्धि से अभिन्न हैं, क्योंकि वे उसमे अभिन्न हैं, इस तरह जो साध्य है, वही हेतु हो गया है, अत: साध्य असिद्ध होता है तो हेतु भी साध्यसम- असिद्ध हो गया, साध्य यहाँ बुद्धि से अभिन्नपना है और उसे ही हेतु बनाया है, ऐसा हेतु साध्य का साधक नहीं होता है। द्वितीय पक्ष की अपेक्षा लेकर वहाँ अशक्य विवेचनता मानी जावे तो हेतु में अनैकान्तिकता आती है, अर्थात् अशक्य विवेचन रूप हेतु का अर्थ आपने इस तरह किया है कि बुद्धि के साथ उत्पन्न हुए नीलादि पदार्थ अन्य बुद्धि से ग्रहण न होकर उसी एक विवक्षित बुद्धि के द्वारा अनुभव में आते हैं सो यही अशक्य-विवेचनता है - इस प्रकार की व्याख्यावाला यह अशक्यविवेचनारूप हेतु इस प्रकार से अनैकान्तिक होता है कि यह सारा जगत् सुगत ज्ञान के साथ उत्पन्न हुआ है और अन्य बुद्धि का परिहार करके उसी सुगत की बुद्धि के द्वारा वह ग्राह्य भी है, किन्तु वह सुगत के साथ एकरूप नहीं है, इसलिए जो बुद्धि में प्रतिभासित है वह उससे अभिन्न है, ऐसा हेतु अनैकान्तिक होता है। तथा - यदि सुगत के साथ जगत् का एक पना मानोगे तो सुगत संसारी बन जायगा अथवा सारे संसारी जीव सुगतरूप हो जावेंगे। संसार और उसका विपक्षी असंसार उन्हें एकरूप मानना तो सुगत को ब्रह्मस्वरूप स्वीकार करना है, पर यह तो ब्रह्मवाद का समर्थन करना हुआ।'[1] अन्य बुद्धि का परिहार कर एक विवक्षित बुद्धि के द्वारा ही अनुभव में आना अशक्य विवेचन है, ऐसा कहना इसलिए असिद्ध है कि नील पीतादिक पदार्थ अन्य-अन्य बुद्धियों के द्वारा भी जाने जाते हैं, अनुभव में आते हैं।

शङ्का- नील आदि पदार्थ ज्ञानरूप हैं, अत: अन्य बुद्धि के परिहार से एक बुद्धि के द्वारा गम्य होते हैं।

समाधान - ऐसा मानोगे तो अन्यान्याश्रय दोष आता है, नील आदि पदार्थ ज्ञान रूप हैं, ऐसा सिद्ध होने पर तो उनमें अन्य बुद्धि का परिहार कर एक बुद्धि से अनुभव में आना सिद्ध हो और उसके सिद्ध होने पर पदार्थों मे ज्ञानपने की सिद्धि हो, ऐसे दोनों ही अन्य-अन्य के अधीन होने से एक की भी सिद्धि होना शक्य नहीं है। भेद से विवेचन नहीं कर सकना अशक्यविवेचन है ऐसा तीसरा पक्ष भी असिद्ध है, क्योंकि बहुत ही अच्छी तरह से बुद्धि और पदार्थ में भेद करके विवेचन होता है, नील आदि वस्तुयें तो बाहर में स्थित है और ज्ञान या बुद्धि अन्तरङ्ग में स्थित है, इस रूप से इन दोनों का विवेचन होना प्रसिद्ध है जिस प्रकार एक ज्ञान में अक्रम से नील, पीत आदि अनेक आकार व्याप्त होकर रहते हैं, ऐसा तुम मानते हो, उसी प्रकार क्रम से सुख दु:ख आदि अनेक आकार उसमें व्याप्त होकर रहते हैं, ऐसा भी मानना चाहिए, अत: नीलादि अनेक अर्थों का व्यवस्थापक प्रमाता है, और वह कथंचित् अक्षणिक है, ऐसा सिद्ध होता है इससे अद्वैत की सिद्धि नहीं होती, किन्तु प्रमाता और प्रमेय ऐसे दो तत्त्व सिद्ध हो जाने से अद्वैत ही निर्बाध है - नाना आकार वाली बुद्धिमात्र- चित्राद्वैत ही तत्त्व है, यह बात खण्डित हो जाती है।[12]

चित्राद्वैत के विषय में आचार्य विद्यानन्द के विचार

चित्रज्ञान एकात्मक नहीं बन सकता - प्रभाचन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्य विद्यानन्द ने चित्राद्वैत के सम्बन्ध में पर्याप्त ऊहापोह किया है। उनके अनुसार चित्राद्वैतवादी का कहना है कि सुखादि चैतन्य असंकीर्ण- विशेषात्मक प्रतिनियत भिन्न-भिन्न अनेक स्वरूप वाले ही है, एकात्मक नहीं है। अह्लादनाकार सुख-चैतन्य से मय-ज्ञेय ज्ञानाकार विज्ञान भिन्न है, क्योंकि विरुद्धधर्माध्यास सदा

भिन्नपने को ही सिद्ध करता है, अन्यथा यदि आप विरुद्ध धर्म के होने पर भी अभिन्न मानोगे तो अखिल वस्तु एकरूप हो जावेगी, इत्यादि कथन असत् है। फिर बौद्धों का चित्रज्ञान भी एकात्मक नहीं बन सकेगा अर्थात् आप चित्राद्वैत वादी चित्रज्ञान को एक ही मानते हैं उसे अनेक मानना पड़ेगा, क्योंकि पीताकार ज्ञान नीलादि आकार ज्ञान से भिन्न है। सुख ज्ञान और ज्ञेय ज्ञान के समान उसमें भी विरुद्ध धर्म पाया जाता है अर्थात् जैसे सुख ज्ञान भिन्न है और ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान भिन्न है, वैसे नील और पीत के ज्ञान भिन्न-भिन्न ही हैं।

चित्राद्वैतवादी - चित्रज्ञान में पीतादि आकारों का विवेचन करना अशक्य है अत: पीताद्याकार ज्ञान को हम एकरूप स्वीकार करते हैं ।

जैन- यदि आप ऐसा मानते हैं तब तो यह बतलाइए कि सुखादि ज्ञान ने क्या अपराध किया है ? उनमें भी अशक्यविवेचन होने से ही एकरूपता बन जाती है। पीताद्याकार के समान ही सुखाद्याकारों को भी चैतन्यान्तर प्राप्त कराने में अशक्यविवेचन का सद्भाव है अर्थात् सुखादिभिन्न चैतन्य हैं और ज्ञानभिन्न चैतन्य है, ऐसा विवेचन करना अशक्य ही है।

बौद्ध - सुखादि चैतन्य एकरूप ही हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न विशेषरूप नहीं हैं, ऐसा ही मान लेना उचित होगा।

जैन- ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने मे तो चित्रज्ञान भी असंकीर्ण विशेषात्मक भिन्न-भिन्न नहीं बन सकेगा, पुन: चित्र ज्ञान को एकमान लेने पर वह चित्र ज्ञान नहीं कहलाएगा, एकज्ञान के समान अर्थात् जैसे घट आदि एक पदार्थ के ज्ञान में "यह चित्रज्ञान है" ऐसा व्यवहार नहीं होता है, वैसे ही यदि चित्रज्ञान भी एकरूप है तो उसे चित्रज्ञान कैसे कहेंगे ?

चित्राद्वैतवादी- चित्रज्ञान में पीतादि आकारों का जो प्रतिभास है, वह अविद्या मे उपकल्पित है, वास्तव में तो वह चित्रज्ञान एकात्मक ही है।

जैन- तब तो एक और अनेक आकारों में प्रतिभाससमान होने पर भी यह वास्तविक है, यह अवास्तिवक है, यह भेद (विवेक) कैसे होगा ? अर्थात् चित्रज्ञान है और उसमें नील, पीतादि ज्ञान अनेकाकाररूप हैं, दोनों ज्ञान समान हैं, फिर भी चित्रज्ञान का एकाकार सच्चा है, अनेकाकार झूठा है, यह भेद कैसे होगा ?

चित्राद्वैतवादी- जो एकाकार है, वह अनेकाकार से विरुद्ध है इसीलिए वह अनेकाकार अवास्तविक है अर्थात् एकाकार ज्ञान में अनेकाकार से विरोध आना स्पष्ट ही है।

जैन- तो इस प्रकार से एकाकार ही अवास्तविक क्यों न हो जावे। क्योंकि अनेकाकार चित्रज्ञान में एकाकार से तो विरोध प्रत्यक्ष है।

चित्राद्वैतवादी- स्वप्नज्ञान में अनेकाकार की अवास्तविकता सिद्ध है, अत: एक चित्रज्ञान में भी उस अनेकाकार की अवास्तविकता मानना युक्त ही है।

जैन- तब तो केश आदि में एकाकार की अवास्तविकता सिद्ध है तो उस एकाकार को भी अवास्तविक कहना अयुक्त कैसे होगा।

माध्यमिक- पीतादि आकार ज्ञान से अभिन्न हैं, इसलिए यह ज्ञान है, ये पीतादि आकार हैं, इस रूप अनेकपने का विरोध है। यदि आप जैन पीतादि आकार को ज्ञान से भिन्न मानोंगे तो प्रतिभास ही असंभव हो जायगा अथवा आप प्रतिभास मान भी लें तो भी ज्ञानान्तर हो जायगा, अर्थात् वह चित्रज्ञान ही नहीं रहेगा, किन्तु दूसरा ही ज्ञान हो जावेगा, अत: वह अनेकाकार अवास्तविक है।[13]

जैन- उसी हेतु आप चित्रज्ञान में एकाकार को भी अवास्तविक ही क्यों न मान लेवें ? यदि चित्रज्ञान पीतादि आकाररूप प्रतिभास अभिन्न है तब तो चित्रज्ञान में एकत्व का विरोध हो जाता है तथा यदि भेद है तो संवित्ति नहीं हो सकेगी अर्थात् पीतादि आकाररूप प्रतिभास से चित्तज्ञान यदि भिन्न है तो पीतादि अशेषाकार से शून्य चित्रज्ञान तो प्रतीति में भी नहीं आ सकता है अथवा यदि आप कहें कि पीतादि आकारों के प्रतिभास से वह चित्रज्ञान भिन्न है, फिर भी उसका ज्ञान होता है तब तो वह भिन्न ज्ञान ही हो जायगा, क्योंकि सभी ज्ञान भिन्न हैं, तब इस चित्रज्ञान में ही क्या विशेषता रहेगी इसलिए चित्रज्ञान में अनेकाकार प्रतिभासज्ञान को ही अवास्तविक कहना शक्य नहीं हैं जिससे कि आपका यही कथन शोभित हो सके ।[14]

क्या उस एक चित्रज्ञान में चित्रता - अनेकता हो सकती है ? अर्थात् उस एक चित्र ज्ञान में अनेकता नहीं है और यदि ज्ञानलक्षण पदार्थों को चित्रज्ञान की एकता ही प्रतिभासित हो रही है तो हम (माध्यमिक) उसका निवारण कैसे कर सकते हैं ।[15] अर्थात् अविद्या से उपकल्पित होने से ऐसा प्रतिभासित होता है, इसमें विचार करने वाले हम लोग नहीं है । पुन: यह कथन भी शोभित नहीं होता है, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं-क्या चित्रज्ञान में एकता है अर्थात् उस चित्रज्ञान में भी एकता नहीं है । यदि उस चित्रबुद्धिज्ञान में चित्रत्व ही प्रतिभासित हो रहा है तो हम लोग क्या कर सकते हैं ।[16] अर्थात् हम भी ऐसा कह सकते हैं कि यदि ज्ञान में एकपना है तो वह ज्ञान चित्रज्ञान नहीं है । यदि वह ज्ञान चित्र ज्ञान है तब उसमें एकपना कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है, किन्तु वह ज्ञान एक भी है और चित्रज्ञान भी है, यह तो बहुत ही आश्चर्य की बात है ।

निरंशज्ञानवादी बौद्धों के विचार

निरंशक ज्ञानवादी- एक चित्रज्ञान में पीतादि अनेकाकाररूप चित्रता का अभाव होने पर भी संवेदनमात्र एक ज्ञानमात्र का ही सद्भाव है, क्योंकि स्वरूप का ज्ञान स्वत: विरुद्ध नहीं है, किन्तु संवेदनमात्र-ज्ञानमात्र के अभाव में तो वह ज्ञान विरुद्ध हो सकता है ।

जैन- नहीं । एक चित्रज्ञान में संवेदनमात्र का अभाव होने पर भी अनेक पीतादि के प्रतिभास का सद्भाव है, अत: अनेकाकार का विरोध नहीं है । अर्थात् चित्रज्ञान में तो एकत्व का ही विरोध है ।

निरंशक ज्ञानवादी - यदि आप जैन इस प्रकार से एक को अनेकरूप स्वीकार करोगे तब तो नीलज्ञान में भी प्रतिपरमाणु (परमाणु- परमाणु) से भेद मानना होगा। पुन: सभी नील अणु-अणु के ज्ञान परस्पर भिन्न हो जावेंगे, तब उस नील परमाणु के ज्ञान में भी जाना प्रतिभास का सद्भाव होने से वैद्य-वेदक एवं संविदाकार के भेद से तीनरूप हो जाँयेगे और वेद्याकार, वेदकाकार, संविदाकार इन तीनों में से प्रत्यक में दूसरे-दूसरे स्ववेद्याकार आदि तीन संवेदन माने जावेंगे । इस प्रकार से परापर- आगे-आगे के प्रत्येक ज्ञान में ज्ञानत्रयकी कल्पना करने से अनवस्था दोष आ जायेगा। पुन: हमारे (संवेदनाद्वैतवादी के) द्वषी आप स्याद्वादियों के यहाँ कहीं पर भी एकज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकेगी, तब तो ज्ञान अथवा बाह्य पदार्थ व किसी में भी एकात्मपने को स्वीकार न करने से आपके यहाँ नाना आत्माओं की व्यवस्था भी कैसे होगी ? क्योंकि एक चित्रज्ञान रूप वस्तु में अपर एक वस्तु की अपेक्षा से अनेकत्व की व्यवस्था हो जावेगी अथवा यदि आप ज्ञान अथवा बाह्य पदार्थों में कहीं पर भी एकत्व स्वीकार करेंगे तब तो चित्रज्ञान में भी एकपना अविरुद्ध क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् चित्रज्ञान में एकपना विरोधरहित ही है ऐसा सिद्ध हो जावेगा, क्योंकि चित्राकार के अभाव में भी चित्रज्ञान में एकत्व होना सम्भव है ।

जैन- ऐसा कहते हुए भी आप प्रेक्षावान् नहीं है। चित्राकार के अभाव में भी यदि चित्रज्ञान सम्भव है तब तो चित्रज्ञान में ज्ञानाकारवत् एक पीताकार और नीलाकार का भी अपने-अपने स्वरूप से सद्भाव सिद्ध हो जायगा, पुनः परस्पर की अपेक्षा में उस चित्रज्ञान में अनेकत्व ही सिद्ध हो जाता है। अतः अनेक चैतन्य से व्याप्त हुआ अनेकाकार रूप यह चित्रज्ञान अन्तस्तत्व ज्ञानादि में एकानेकत्व सिद्ध करने के लिए उदाहरण रूप सिद्ध हो जाता है।[17]

चित्राद्वैत में सन्मार्गदेशना का अभाव तथा प्रत्यक्षादिविरोध- चित्राद्वैत में सन्मार्ग का उपदेश देना दूर है अर्थात् सन्मार्ग का उपदेश नहीं दिया जा सकता, क्योंकि अद्वैतवाद में कौन उपदेशक है और कौन उपदेश सुनने वाला है ? क्या शब्द है। इत्यादि व्यवस्था नहीं बनती है और प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से घट पट आदि अनेक पदार्थ जब भेदरूप से ही लोक प्रतीत हो रहे हैं तब आपके अद्वैतवाद का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों मे ही विरोध आता है। भेद की जगत्य प्रसिद्ध प्रतीति होना प्रमाणिक है।[18]

फुटनोट

1. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग पृ. 124
2. प्रमाणवार्तिक 3/433
3. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग पृ 125
4. प्रमाणवार्तिक 3/220
5. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग पृ 126
6. प्रमाणवार्तिक 3/251
7. न्यायकुमुदचन्द्र 127-130
8. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग - 1 पृ 129
9. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग पृ 129-130
10. वही पृ. 130
11. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ 251-252
12. वही पृ 253-254
13. अष्टसहस्री पृ 76
14. वही पृ. 77
15. वही पृ 77
16. वही पृ 77
17. वही पृ. 77
18. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक भाग प्रथम पृ 206

❑❑❑

नवम् परिच्छेद

शून्यवाद समीक्षा

पूर्वपक्ष

परमार्थवृत्ति से तत्त्व अभावमात्र है- **शून्यवादी बौद्धों का कहना है कि परमार्थवृत्ति से तत्त्व** अभावमात्र है और वह परमार्थवृत्ति संवृतिरूप है, तात्त्विकी नहीं, क्योंकि शून्यसंविति तात्त्विकी होने पर सर्वथा शून्य तत्त्व नहीं रहता, उसका प्रतिषेध हो जाता है और संवृत्ति सर्वविशेषों से शून्य है- पदार्थ सद्भाववादियों के द्वारा जो तात्त्विक विशेष माने गए हैं उन सबसे रहित है तथा उस अविद्यात्मिका एवं सकलगत्त्विक विशेष शून्या संवृत्ति के भी जो बंध और मोक्ष विशेष हैं वे हेत्वात्मक हैं- सांवृतरूप हेतु स्वभाव के द्वारा विधीयमान हैं अर्थात् आत्मीयाभिनिवेश के द्वारा बन्ध का और नैरात्मयभावना के अभ्यास द्वारा मोक्ष का विधान है, दोनों में से कोई भी तात्त्विक नहीं है और इसलिए दोनों विरुद्ध नहीं पड़ते।[1] आचार्य हरिभद्र के अनुसार माध्यमिक का मत है-"यह जगत् शून्य है, प्रमाण और प्रमेय का विभाग स्वप्न की तरह है।"शून्यतादर्शन से ही मुक्ति होती है, अन्य समस्त क्षणिकत्वादि भावनायें शून्यता के पोषण के लिए ही हैं। कुछ माध्यमिक ज्ञान को स्वीकार मानते हैं।"[2] कहा भी है-

"मतिमान् वैभाषिक ज्ञान और अर्थ को स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य वस्तु के इस विस्तार को प्रत्यक्ष नहीं मानते। योगाचार साकार बुद्धि को ही परमतत्त्व स्वीकार करते हैं। परन्तु कृतार्थबुद्धि माध्यमिक स्वीकार ज्ञान-निरालम्बन ज्ञान को परमतत्त्व मानते हैं।[3]"

जगत् में सब कुछ शून्य है - जिस एकत्व या अनेकत्व स्वभाव के द्वारा पदार्थों का वर्णन किया जाता है, वास्तव में वह स्वरूप है ही नहीं, क्योंकि उन पदार्थों का एक और अनेकरूप है ही नहीं।[4] अर्थात् तत्त्व एकरूप नहीं है, क्योंकि घट पट आदि रूप से विचित्र प्रतिभास पाया जाता है एवं तत्त्व अनेक रूप भी नहीं है, क्योंकि उसको ग्रहण करने वाले प्रमाण का अभाव है। इस प्रकार सभी वस्तु नैरात्म्य नि: स्वभाव (शून्य) स्वीकार करना अभावैकान्त पक्ष है।

जगत् में सब कुछ शून्य है और वह इसलिए कि जगत् की किसी भी वस्तु को न तो नित्य कहना युक्तिसंगत लगता है, न अनित्य कहना। एक वस्तु नित्य तो इसलिए नहीं कि एक वस्तु में अर्थक्रिया संभव नहीं - न क्रमिक रूप से, न एक कालिक रूप से और अनित्य इसलिए नहीं कि एक अनित्य वस्तु का न उत्पन्न होना सम्भव है, न नष्ट होना। एक वस्तु को उत्पन्न हुआ अथवा नष्ट हुई मानना एक भ्रान्त समझ है और वह (भ्रान्त समझ भी) आनन्द आदि का कारण उसी प्रकार बनती है जैसे कि एक कुमारी का स्वप्न देखना कि उसे पुत्र जन्म हुआ है।[5]

आदिपुराण में नैरात्म्यवादी शतमति के मुख से कहलाया गया है कि यह समस्त जगत् शून्यरूप है, इसमें नर, पशु- पक्षी, घट-पट आदि पदार्थों का जो प्रतिभास होता है, वह सब मिथ्या है। भ्रान्ति से ही वैसा प्रतिभास होता है जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल आदि में हाथी आदि का मिथ्या प्रतिभास होता है। जबकि सारा जगत् मिथ्या है तब जीव कैसे सिद्ध हो सकता है?

और उसके अभाव में परलोक भी कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि यह सब गन्धर्वनगर की तरह असत्स्वरूप है । अत: जो पुरुष परलोक के लिए तपश्चरण तथा अनेक अनुष्ठान आदि करते हैं वे व्यर्थ ही क्लेश को प्राप्त होते हैं, ऐसे जीव यथार्थज्ञान से रहित हैं । जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में मरुभूमि पर पड़ती हुई सूर्य की चमकीली किरणों को जल समझकर मृग व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं, उसी प्रकार ये भोगाभिलाषी मनुष्य परलोक के सुखों को सच्चा सुख समझकर व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं, उनकी प्राप्ति के लिए प्रत्यत्न करते हैं ।[6]

समस्त प्रत्यय निरालम्बन हैं- न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्राचार्य के अनुसार माध्यमिक बौद्धों का कहना है कि समस्त प्रत्यय निरालम्बन हैं, क्योंकि वे प्रत्यय हैं, जैसे स्वप्न, इन्द्रजालादि के प्रत्यय । अनुभूयमान मध्यक्षणरूप संविद् के अतिरिक्त पदार्थ के विषय में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि पदार्थ के समकाल या भिन्नकाल की प्रवृत्ति नहीं बनती है । वही परमार्थसत् मध्यमा प्रतिपत्ति ही सर्वधर्मनिरात्मता और सकल शून्यता कही जाती है । कहा भी है-

"जो मध्यमा प्रतिपत् है, वही सर्वधर्मनिरात्मता है । वही यह भूतकोटि, तथ्यता और शून्यता है ।[7]"

पदार्थ समस्त धर्मों से रहित हैं- पदार्थ समस्त धर्मो से रहित है, क्योंकि उनका एक अथवा अनेक स्वरूप निर्धारित नहीं होता है । तत्त्व संग्रह पंजिका में कहा गया है- "जो एकानेक स्वभाव वाला नहीं होता है, वह सत्त्व रूप में प्रेक्षावानों के द्वारा ग्राह्य नहीं है जैसे - आकाशकमल । दूसरे वादियों के द्वारा माने गए पृथिव्यादिक एकानेक स्वभाव से रहित हैं, इस प्रकार व्यापकानुपलब्धि है ।[8] जिनका एक अथवा अनेक स्वरूप निर्धारित नहीं होता है, वे परमार्थसत् नहीं है, जैसे- गधे के सींग आदि। दूसरे वादियों के द्वारा कल्पित आत्मादिक पदार्थों का एक अथवा अनेक स्वरूप निर्धारित नहीं होता है । आत्मा आदि पदार्थों को यदि एकरूप माना जाय तो उस आत्मा को विज्ञानादि कार्य के उपयोगी मानने पर भेद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । भेद का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर एकरूपता नहीं रहती है ।[9] नित्य एकरूपता मानने पर अनेकरूपता किसी भी प्रकार से नहीं रह सकती । अत: पदार्थों का जैसे - जैसे विचार किया जाता है, वैसे - वैसे वे केवल नष्ट होते जाते हैं, इस प्रकार उनका विचार के योग्य न होना सिद्ध है । कहा भी है -

"जिस एकत्व या अनेकत्व स्वभाव के द्वारा पदार्थों का वर्णन किया जाता है वास्तव में वह स्वरूप है ही नहीं, क्योंकि उन पदार्थों का एक और अनेकरूप है ही नहीं ।[10]"

अत: निश्चित् रूप से विद्वानों की कही हुई यह बात सिद्ध होती है कि पदार्थों के विषय में जैसे जेसे विचार किया जाता है वैसे-वैसे वे विशीर्ण होते जाते हैं।[11]

पदार्थ में उत्पादादि प्रतीति की भ्रान्तता - पदार्थ उत्पत्तिधर्म से रहित हैं, अत: उनका उत्पाद धर्म से युक्त होना सामान्य रूप से विचार सह नहीं है । तथाहि- पदार्थ स्वत: उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि कारण से निरपेक्ष होकर उत्पन्न होने वालों के देशादि नियम के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । यदि कहो कि परत: उत्पन्न होते हैं तो उत्पत्ति सत् से, असत् से अथवा सदसत् रूप से होगी । सत् रूप से उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि जो कारण वाला है, उसकी सत् रूप से उत्पत्ति हो नहीं सकती, असत् से उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे खरविषाण से किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है । सदसद्रूप की उत्पत्ति होने में विरोध है। सदसद् उभय रूप से उत्पत्ति मानने पर दोनों प्रकार के दोषों का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । अहेतुक उत्पत्ति किसी को इष्ट नहीं है। जैसा कि कहा गया है-"

"कोई भी पदार्थ कभी स्वतः", परतः स्वतः परतः दोनों अथवा अहेतुक उत्पन्न नहीं होते हैं।[12]"

उपर्युक्त कथन से स्थिति और विनाश का भी विचार कर लिया गया, क्योंकि स्थिति और विनाश का भी स्वतः अथवा परतः इत्यादि प्रकार से सद्भाव मानने पर उपर्युक्त दोष का प्रसङ्ग अपस्थित हो जाता है। अतः मरीचिकादि में जलादि की प्रतीति के समान पदार्थों में उत्पादादि की प्रतीति भ्रान्त ही है। कहा भी है-

"जैसे माया, स्वप्न और गन्धर्वनगर उदाहृत होते हैं, उसी प्रकार उत्पाद, स्थिति और विनाश उदाहृत किए गए हैं।[13]"

पदार्थों का प्रतिभास

शङ्का – यदि पदार्थ इस प्रकार असत् हैं तो उनका प्रतिभास कैसे होता है ?

समाधान- अनादि अविद्या रूपी वासना के प्रभाव से उनका प्रतिभास होता है। जिस प्रकार मन्त्रादि के समार्थ्य से किन्हीं-किन्हीं को मिट्टी के टुकड़े आदि में हाथी, घोड़े आदि का प्रतिभास होता है। कहा गया है-

"मन्त्रादि से जिनकी आँखे बाधायुक्त हैं, क्योंकि मिट्टी के टुकड़े आदि अन्य रूप में ही प्रतीत होते हैं, यद्यपि वे उस रूप नहीं होते हैं।[14]"

उसी प्रकार ग्राह्य ग्राहक भाव आदि भी अविद्यानिर्मित ही है। कहा भी है-

"ज्ञानात्मा अविभागी होने पर भी विपरीत दृष्टियों के कारण ग्राह्य ग्राहक ज्ञान के भेदों से युक्त भी लक्षित होती है।[15]"

सूर्य की किरणों के द्वारा स्पृष्ट कुहरे के समूह के समान तत्त्वज्ञान से समस्त अविद्या का विलास विलय हो जाने पर ग्राह्य ग्राहक भावादि समस्त धर्मों से रहित ज्ञानस्वरूपमात्र आभासित होता है। कहा गया है-

विचार करने पर अन्य अनुभाव्य नहीं है, बुद्धि का कोई भिन्न अनुभव नहीं है, ग्राह्य ग्राहक से रहित होने के कारण वही (बुद्धि) प्रकाशित होती है।[16]

माध्यमिकों का अभिप्राय- माध्यमिक बौद्धों का अभिप्राय है कि हमारा विज्ञान और उसके विषयीभूत वाह्य पदार्थ न तो पूर्ण रूप से वास्तविक और न पूर्ण रूप से काल्पनिक ही हैं। माध्यमिक शब्द मध्यम से बनता है। मध्यम बीच को कहते हैं। दोनों अन्त के सिद्धान्तों को छोड़ने के कारण यह माध्यमिक कहलाता है। अर्थात् यह न तो सर्वास्तिवादी है और न सबके अस्तित्व का निषेध ही करता है, किन्तु इसने बीच का मार्ग चुना।[17]

नागार्जुन की माध्यमिक कारिका के अनुसार शून्यता ही परम है, संसार और निर्वाण या शून्यता में कोई अन्तर नहीं है। शून्यता या परमसत्ता उपनिषदों के निगुर्ण ब्रह्म के समान है। इसमें न तो आरम्भ है, न अन्त है, न चिरता है, न अचिरता है, न एकता है, न अनेकता है, न अन्दर आना है, न बाहर जाना। सारतः केवल अनारम्भ मात्र है, जो शून्यता का पर्यायवाची है। प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है। शून्यता मध्यम मार्ग है जो अस्तित्व और अनिस्तत्व के दो परस्पर विरोधी छोरों से दूर है। शून्यता वस्तुओं का सापेक्ष अस्तित्व है या एक प्रकार की सापेक्षता है। प्रो. राधाकृणन् के शब्दों में शून्यता का अर्थ माध्यमिकों के अनुसार सम्पूर्ण और परम अस्तित्वहीनता नहीं है, परन्तु सापेक्ष सत्ता है। माध्यमिकों के तत्वज्ञान में शून्यता की प्रधानता है, अतः उसे शून्यवाद कहते

हैं। माध्यमिकारिका में दो प्रकार के सत्यों का उल्लेख है। (1) संवृति और (2) परमार्थ। संवृति का अर्थ वह अज्ञान अथवा भ्रान्ति है जो वस्तु जगत को घेरे हुए है और मिथ्याभास पैदा करती है। परमार्थ का अर्थ है कि सांसारिक वस्तुयें एक भ्रान्ति या प्रतिध्वनि की भाँति अनस्तित्वभरी हैं। परमार्थ सत्य संवृति सत्य को पाए बिना प्राप्त नहीं हो सकता। संवृत्ति सत्य साध्य है तो परमार्थ सत्य साधन। इस प्रकार सापेक्ष दृष्टिकोण से प्रतीत्यसमुत्पाद सांसारिक घटनाओं का अर्थ दे सकता है, परन्तु परमार्थ दृष्टि से सब समय में अनारम्भ ही निर्वाण या शून्यता है।[18]

समीक्षा- अभावैकान्त पक्ष में न बोध प्रमाण है और न वाक्य -आचार्य समन्तभद्र का कहना है कि भाव को नहीं मानने वाले अभावैकान्तवादियों के मत में इष्टतत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। वहाँ न बोध प्रमाण है और न वाक्य। प्रमाण के अभाव में स्वमत की सिद्धि तथा परमत का खण्डन किसी भी प्रकार संभव नहीं है।[19] इसी का विवेचन करते हुए आदि पुराण में कहा गया है- शून्यवाद में भी शून्यतत्व का प्रतिपादन करने वाले वचन और उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान है या नहीं ? इस प्रकार दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। यदि आप इन विकल्पों के उत्तर में यह कहें कि हाँ शून्यत्व का प्रतिपादन करने वाले वचन और ज्ञान दोनों ही हैं तब खेद के साथ कहना पड़ता है कि आप जीत लिये गये, क्योंकि वाक्य और विज्ञान की तरह आपको सब पदार्थ मानने पड़ेंगे। यदि यह कहो कि हम वाक्य और विज्ञान को नहीं मानते तो फिर शून्यता की सिद्धि किस प्रकार होगी ? अर्थात् यदि आप शून्यता प्रतिपादक वचन और विज्ञान को स्वीकार करते हैं तो वचन और विज्ञान के विषयभूत जीवादि समस्त पदार्थ भी स्वीकृत करने पड़ेगे। इसलिए शून्यवाद नष्ट हो जायगा और यदि वचन तथा तथा विज्ञान को स्वीकृत नहीं करते हैं तब शून्यवाद का समर्थन व मनन किसके द्वारा करेंगे ?[20]

शून्यवादी के मत में ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता- जब सब कुछ शून्यरूप है, तब कौन किसको जानेगा- कौन किसका ध्यान करेगा ? इस प्रकार शून्यवादी के मत में ध्यान की कल्पना करना कछुए के बालों से आकाश के फूलों का सेहरा बाँधने के समान है।[21]

शून्यवाद मानने पर ध्येय तत्त्व की असिद्धि - शून्यवादियों के मत में ध्येयतत्त्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ध्येयतत्त्व में दो प्रकार के विकल्प होते हैं एक ग्रहण करने योग्य और दूसरा त्याग करने योग्य। जब शून्यवादी मूलभूत किसी पदार्थ को नहीं मानते तब उसमें हेय और उपादेय का विकल्प कैसे किया जा सकता है ?[22]

शून्यवाद के समर्थन में कोई प्रमाण है अथवा नहीं ? यदि शून्यवाद के समर्थन में कोई प्रमाण विद्यमान नहीं तब तो यह सिद्धान्त खूब रहा और यदि इस सिद्धान्त के समर्थन में कोई प्रमाण है तब सब कुछ शून्य कैसे ? क्योंकि तब तो उक्त प्रमाण को ही एक वस्तुत: विद्यमान सत्तामान लिया गया। इस वस्तु स्थिति पर भली भाँति विचार किया जाना चाहिए। यदि अपने पक्ष के समर्थन में किसी प्रमाण के न रहने पर भी कोई कहता जाये कि जगत् की वस्तुओं का स्वरूप अमुक प्रकार का है, न कि अन्य किसी प्रकार का तो यह स्पष्ट ही ईश्वर की चेष्टा जैसी बात हुई।

बौद्ध- शून्यता समर्थक प्रमाण से अतिरिक्त शेष सब कुछ शून्य रूप है।

जैन- तब तो प्रमाण की सहायता से शिक्षित किया जाने वाला व्यक्ति भी शून्य रूप हुआ और उसकी शिक्षा पर व्यय किया गया श्रम व्यर्थ गया।

बौद्ध- उक्त रूप से शिक्षित किया जाने वाला व्यक्ति भी अशून्य रूप है।

जन- जब तो आपके न चाहने पर भी अनेकों वस्तुयें अशून्य रूप सिद्ध हो गई और वह इसलिए कि प्रश्न करने वाले व्यक्तियों की संख्या अनेक हो सकती है।

बौद्ध- वे सभी व्यक्ति जो शून्यता समर्थक प्रमाण को स्वीकार करके चलते हैं तथा वे सभी व्यक्ति जिन्हें शून्यताविषयक शिक्षा दी जा रही है, अस्तित्वशील ही होने चाहिए।

जैन- अतएव हमने कहा कि आपके मतानुसार अनेकों वस्तुयें अशून्यरूप सिद्ध हो गईं।

इस प्रकार विचार अन्त में हरिभद्र यही निष्कर्ष निकालते हैं कि शून्यवाद के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यही प्रतीत होती है कि तत्वज्ञ बुद्ध ने उसका प्रतिपादन किन्हीं शिष्य विशेषों की योग्यता को ध्यान में रखकर किसी अभिप्राय विशेष से किया है।[23]

प्रमाण प्रमेय के सम्बन्ध में तत्त्वोपप्लववादियों के कथन की समीक्षा -

तत्त्वोपप्लववादी- सभी प्रत्यक्षादि प्रमाण तत्त्व और प्रमेय तत्त्व उपप्लुत-अभावरूप ही हैं, ऐसा हम स्वीकार करते हैं।

जैन- आपकी यह मान्यता प्रमाण से रहित ही है। "सभी तत्त्व उपप्लुत हैं" इस प्रकार की मान्यता "सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही हैं" इस मान्यता से विशिष्ट भिन्न नहीं है। जिस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी का सभी तत्त्व उपप्लुत ही हैं" यह तत्त्व वचनमात्र से सिद्ध है, उसी प्रकार से अन्य अतत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों का "सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही हैं" यह तत्त्व भी वचनमात्र से सिद्ध ही है, क्योंकि प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों जगह समान ही हैं।[24]

तत्त्वोपप्लववादियों के यहाँ कोई भी प्रमाण जब अभाव को विषय ही नहीं कर सकता है तब वह प्रमाण तत्वों के अभाव को कैसे कर सकेगा ?[25]

तत्त्वोपप्लववादी- पर-जैनादि के यहाँ सिद्ध प्रमाण से हम सभी वस्तुओं के अभाव को विषय कर लेंगे।

जैन - यदि ऐसा कहो तो वे पर के यहाँ सिद्ध प्रमाण, प्रमाण से सिद्ध हैं या प्रमाण के बिना ही सिद्ध है ? यदि प्रमाण से सिद्ध हैं तब तो नाना आत्माओं को सिद्ध हैं, क्योंकि जो प्रमाण से सिद्ध है, वह नाना आत्माओं को- वादी, प्रतिवादी सभी को सिद्ध है कोई अन्तर नहीं है। यदि कहो कि प्रमाण बिना प्रमाण के ही सिद्ध है तब तो वह जैन के यहाँ भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि जो प्रमाण के बिना सिद्ध है, वह असिद्ध के समान ही है। उसे जैनादि भी कैसे मानेंगे ?

इस प्रकार से आप तत्त्वोपप्लववादी स्वयं किसी भी एक प्रमाण से अथवा स्वप्रसिद्धि मात्र से सकल तत्त्वों को बतलाने - जानने वाले प्रमाणों से रहित सभी पुरुषों के समूह को जानते हुए स्वयं अपने आपका ही खण्डन कर देते हैं। इसलिए यह कथन व्याहत विरुद्ध ही है। अर्थात् "सभी पुरुषों का समुदाय सभी तत्त्वों के ग्राहक प्रमाण से रहित है" इस प्रकार से जिसके द्वारा जान लिया गया वही तो प्रमाण है, अतएव उसका भी खण्डन करता हुआ अपना ही विघात कर लेता है।

यदि आप प्रमाण को स्वीकार करें तो तत्त्वोपप्लववादी ही नहीं रहेंगे, किन्तु प्रमाण को मान लेने से अस्तिकवादी हो जावेंगे।[26]

असत् वस्तु में पुण्य पापादि व्यवस्था बनने पर विचार माध्यमिक बौद्ध - सर्वथा नित्य में उत्पत्ति घटित नहीं हो सकती अथवा तत्त्वज्ञान, अनुष्ठान एवं मोक्ष आदि का प्रादुर्भाव नहीं बन सकता है, क्योंकि नित्य पदार्थों का सर्वदा ही सद्भाव पाया जाता है। असत् पदार्थों का ही किन्हीं कारणों से प्रादुर्भाव हो सकता है, क्योंकि जो पहले नहीं है, उन्हीं की पुनः उत्पत्ति देखी जाती है।

जैन- यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि सत् अथवा सर्वथा असत् दोनों ही पक्ष में परलोकादि का विरोध समान ही है, क्योंकि सर्वात्मरूप से सभी का सत्त्व स्वीकार करने से ही उत्पत्ति का विरोध हो, ऐसा नहीं है, अपितु सर्वथा बौद्धाभिमत अभाव (असत्) पक्ष में भी उत्पत्ति का विरोध है, अन्यथा मिथ्या प्रतिभास की उपरति नहीं हो सकेगी।

माध्यमिक - हम शून्यवादियों के यहाँ स्वप्नदशा के समान ही जाग्रत अवस्था में भी व्यलीक- मिथ्या प्रतिभास रूप कर्मादि- परलोकादिकों के अभाव का प्रसङ्ग कैसे नहीं होगा, जिससे कि संवृति से कर्मादिकों की उत्पत्ति अविरुद्ध न होवे अर्थात् संवृति- कल्पनामात्र से कर्म आदि का प्रादुर्भाव होना विरोध रहित ही है।

जैन- यह ठीक नहीं है, क्योंकि आपका उदाहरण साध्यसम दोष से दूषित है अर्थात् असत्यप्रतिभास रूप कर्मादिक कदाचित् उपरति को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे संवृति से उत्पन्न हुए हैं, स्वप्नादि के प्रतिभास के समान, इस प्रकार इसमें यह जो उदाहरण है, वह साध्य के समान ही असिद्ध है, क्योंकि स्वप्नादि के प्रतिभास कदाचित् उपरति को प्राप्त होते हैं, यह साध्य ही सिद्ध नहीं है। अतएव यह उदाहरण साध्यसम है, क्योंकि जैसे शून्यवादी के यहाँ जाग्रत दशा में व्यलीक प्रतिभास अहेतुक है, अत: उनकी अनुपरति का प्रसङ्ग प्राप्त होता है यानी वे कभी नष्ट नहीं हो सकते हैं तथैव स्वप्नदशा में भी वे प्रतिभास उपरत नहीं होते हैं। दोनों अवस्थाओं में ही अहेतुकपना समान है।

माध्यमिक- जितने भी मिथ्याप्रतिभास है, वे अविद्या-वासना हेतुक हैं, अत: उनका अहेतुकरना असिद्ध है।

जैन- अनादि अविद्या की वासना भी तो असत् रूप है, अत: वह असत्य प्रतिभास में हेतु है, यह कथन विरुद्ध है- आकाशकुसुम के समान अथवा अनादि अविद्या को सत् रूप मान लेवें तब तो आपके यहाँ सर्वथा शून्यवाद बन ही नहीं सकेगा।

माध्यमिक- वह अविद्या तो संवृति- माना से सत् रूप है, अत: शून्यवाद बन ही जाता है।

जैन- तब तो परमार्थ से असत् रूप अविद्या असत्य प्रतिभास का हेतु कैसे होगी? अर्थात् असत्य से ही असत्य का निर्णय कैसे होगा ? क्योंकि स्वरूप से सतरूप ही कोई वस्तु असत्य प्रतिभासों को उत्पन्न करती हुई देखी जाती है जैसे -चक्षु में तिमिर आदि रोग सतरूप हैं, तभी वे मिथ्या प्रतिभास को करा सकते हैं, गधे के सींग आदि असत् पदार्थ असत्य प्रतिभास को नहीं करा सकते। इसी प्रकार से सर्वशून्यवादियों के यहाँ व्यलीक प्रतिभासों की उपरति (अभाव) का प्रसङ्ग नहीं है, अर्थात् सदैव असत्य प्रतिभास होते रहेगें, क्योंकि वे अहेतुक सिद्ध हैं, बिना कारण के ही होने वाले हैं। पुन: अभावैकान्त रूप शून्यवाद में भी किसी कारण से कभी भी किसी जीव में कोई भी क्रियायें एवं परलोकादि घटित नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कथंचित् सत् असत् रूप अनेकान्त का शून्यवादियों के यहाँ निषेध है।[27]

संवृत्ति से शून्यवाद सिद्ध नहीं किया जा सकता है - शून्यवादियों का कहना है कि हेयरूप सद्- अस्तित्ववाद और उपादेयभूत शून्यवाद इनमें हेय का निषेध और उपादेय के विधानरूप उपायों को मात्र हमने संवृति से ही स्वीकार किया है। इस पर विद्यानन्द आचार्य ने प्रश्न उठाया है कि संवृति शब्द का अर्थ क्या है ? यदि संवृति भी अपने स्वरूप से अस्तित्त्व - विद्यमान रूप है, तब तो अर्थ हमारे अनुकूल ही है और वह केवल वक्ता शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध की धृष्टता को ही सूचित करता है, क्योंकि जैसे शून्यवादियों ने संवेदन का स्वरूप से अस्तित्व स्वीकार किया

है, उसी प्रकार स्याद्वादियों ने सभी पदार्थों का स्वरूप से अस्तित्व स्वीकार किया है, अत: हमारे अनुकूल ही कथन हुआ है, इसमें हमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है। यदि आप संवृत्यास्ति पद का अर्थ पररूप से नहीं, ऐसा करते हैं तो यह भी हमारे अनुकूल है। संवृति से है का अर्थ स्वरूप से है, पररूप से नहीं है, ऐसा है तो इस तीसरे भङ्ग में भी हमें विवाद नहीं है। इसी प्रकार संवृति पद का चौथे भङ्ग रूप अनुभय रूप से वस्तु अवक्तव्य है, ऐसा अर्थ करते हैं, तब भी किसी प्रकार का विवाद नहीं होता है।

शून्यवादी - विचारानुपपत्ति - विचारों का न होना ही संवृति है।

जैन- यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आपकी संवृति में इस लक्षण का अभाव है। विचार के अभाव में विचार नहीं हो सकता है, यह वाक्य भी किसी के द्वारा कहना शक्य नहीं है और शून्यवादी के यहाँ तो कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता है कि जिसका आश्रय करके किसी अन्य अनिर्णीत पदार्थ में विचार प्रवृत हो सके, क्योंकि शून्यावादी के यहाँ कुछ भी कथन विसंवाद को प्राप्त होता है। तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक में कहा है -

"किसी निर्णीत- प्रमाणादि तत्त्व का आश्रय लेकर ही अन्यत्र- अनिर्णीत पदार्थ में विचार किया जा सकता है, किन्तु सर्वत्र विसंवाद के स्वीकार करने पर तो कहीं पर कुछ भी विचार नहीं किया जा सकता है।" इस प्रकार से यह सौगत विचार का अभाव होने से दूसरों के लिए शास्त्रों का प्रतिपादन करना अथवा शास्त्र के उपदेष्टा दिङ्नागाचार्य आदि का वर्णन करना आदि सभी का अपने मुख से ही खण्डन कर देता है।"[28]

सारे जगत् को माया या स्वप्न स्वरूप मानने से हानि-

बौद्ध- सभी पदार्थ माया स्वरूप हैं और स्वप्न के समान हैं।

जैन- तब तो बुद्ध भी माया स्वरूप हुए।

बौद्ध- स्वप्नादि के समान सभी सुगत विभ्रम रूप ही हैं, अत: हमारे यहाँ कोई दोष नहीं है।

जैन- यदि ऐसी बात है तब तो यह बतलाइए कि विभ्रम में विभ्रम है अथवा अविभ्रम ? यदि विभ्रम में अविभ्रम है तो सभी विभ्रम रूप कैसे रहे यदि विभ्रम में भी विभ्रम है तब विभ्रम कैसे रहा, अपितु विभ्रम में भी विभ्रम होने से वास्तविकता हो गई, क्योंकि विभ्रम में भी विभ्रम मानने पर सर्वत्र अविभ्रम का प्रसङ्ग प्राप्त होता है तथा विभ्रम के विभ्रम में भी विभ्रम के स्वीकार करने पर वे ही प्रश्न एवं अनवस्था के आने से यह तो बहुत बड़ा दुरन्त अंधकार ही नजर आता है। इसी को न्यायविनिश्चय ग्रन्थ में भी कहा है-

"बौद्धों के यहाँ पर अपराधिनी बुद्धि कैसी है कि सब विभ्रमस्वरूप है, हमें तो इसमें बहुत ही आश्चर्य हो रहा है। ये बौद्ध लोग आज भी मूढात्मा ही हैं, इसमे बढ़कर मोह अन्धकार और क्या हो सकता है, जो कि विभ्रम में भी विभ्रम मान रहे हैं, परन्तु इस प्रकार उनके यहाँ विभ्रम भी सिद्ध नहीं हो सकता है।[29]"

नीलादि आकार का प्रतिभास अवास्तविक नहीं है - माध्यमिक बौद्धों का कहना है कि नीलादि आकार का प्रतिभास अविद्यारूपी शिल्पी के द्वारा कल्पित होने के कारण अवास्तविक है। इस पर जैनाचार्य प्रभाचन्द्र प्रश्न करते हैं कि नीलादि का प्रतिभाव अविद्या से उत्पन्न कैसे है? बाध्यमान होने के कारण है अथवा उस वस्तु की अर्थक्रियाकारिता के अभाव के कारण है ? प्रथम पक्ष में सब जगह जल-नीलादि का प्रतिभास अविद्या से उत्पन्न हो, इस बात की सिद्धि नहीं होती।

जहाँ पर यह बाधित होता है, वही अविद्या से उत्पन्न है। जैसे- मरीचिका में जल की प्रतीति अथवा सीप के टुकड़े में चाँदी का ज्ञान, सत्यजल में जल का प्रतिभास अथवा चाँदी में चाँदी का प्रतिभास अविद्या से उत्पन्न नहीं है।

बौद्ध- ऐसा मानने में मध्यक्षणरूप संविन्मात्र बाधक है।

जैन- उस मध्यक्षणरूप संविन्मात्र की सिद्धि कैसे होती है ? नीलादि प्रतिभासों के अवास्तव होने के कारण मध्यक्षणरूप संविन्मात्र की सिद्धि मानो तो इतरेतराश्रय दोष आता है। मध्यक्षण रूप संविन्मात्र तत्त्व की सिद्धि होने पर प्रतिभासों के अवास्तवपने की सिद्धि हो और प्रतिभासों के अवास्तवत्व की सिद्धि होने पर संविन्मात्रतत्व की सिद्धि हो। पदार्थ की अर्थक्रियाकारिता का अभाव कहना असिद्ध है, क्योंकि जल अनलादि में वस्तु की स्नान पानादि अर्थक्रिया सुप्रसिद्ध है। यदि उसे भी अर्थक्रिया न मानो तो दूसरी कौन सी अर्थक्रिया होगी ?

बौद्ध- वह अर्थक्रिया स्वरूप का अनुभवन है।

जैन- स्वरूप का अनुभवन भी ज्ञानगत नीलाकारादि में ही। निराकार मध्यक्षणरूप संविन्मात्र का अनुभव कभी भी नहीं होता है। अनेकाकाररूप बाह्य अथवा आन्तरिक पदार्थ का ही अनुभव होता है।[30]

बौद्ध- नीलादि अनेकाकाररूप अनुभव मिथ्या है।

जैन- एकानेक स्वभाव वाले संवित् और नीलादि आकार में प्रतिभास सामान्य होने पर भी यह वास्तविक है, यह अवास्तविक है, यह भेद कैसे हो सकता है ? एकाकार का अनेकाकार के साथ विरोध होने से अनेकाकार अवास्तव मान लिया जाय तो एकाकार को ही अवास्तविकता सिद्ध मानने पर चित्रज्ञान में भी अनेकाकार की अवास्तविकता मान ली जाए तो केशादि में एकाकार की अवास्तविकता सिद्ध होने पर अन्यत्र भी एकाकार की अवास्तविकता क्यों नहीं होगी। जैसे अनेकाकार का एकाकार से अभेद मानने पर अनेकाकारपना विरोध को प्राप्त होता है और भेद मानने पर दूसरा संवेदन प्राप्त होता है, उसी प्रकार एकाकार का भी अनेकाकार से अभेद मानने पर अनेकत्व प्राप्त होता है, भेद मानने पर दूसरा संवेदन प्राप्त होता है। यदि एक की अनेकाकारता इष्ट नहीं है तो प्रत्याकार ज्ञान का सन्तानान्तर के समान भेद होगा। उन आकारों की नीलाकार रूप में प्राप्ति न होने पर उसी के समान ही असत्त्व होगा। नीलांश भी प्रति परमाणु भिन्न है, अत: नीलाणुसंवेदनों के द्वारा परस्पर भिन्न होना चाहिए। उनकी एक नील अणु संवेदन के द्वारा प्राप्ति न होने से असत्त्व है, इस प्रकार एक नीलाणुसंवेदन भी वेद्य, वेदक और संविदाकार के भेद से तीन होना चाहिए। वेद्याकारादि तीन प्रकार का संवेदन भी प्रत्येक दूसरे स्ववेद्याकारादि संवेदन त्रय रूप होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा। अत: इष्टतत्त्व की सिद्धि नहीं होती है। उस प्रकार मध्यक्षणरूप तत्त्व की प्राप्ति न होने पर अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर सकलशून्यता ही हो जायगी। अत: प्रतीति से वस्तु व्यवस्था स्वीकार करने वाले प्रेक्षावान् लोगों को बाह्य अथवा आन्तरिक एकानेक प्रतिभास होने के कारण उसी एकानेक स्वभाव वाली वस्तु मानना चाहिए।[31]

सभी प्रत्यय निरालम्बन नहीं है- माध्यमिक बौद्धों का यह कहना कि सभी प्रत्यय निरालम्बन हैं, अविचारितरमणीय है। जाग्रत प्रत्ययों की स्वरूप से भिन्न स्थिर, स्थूल, साधारण, स्तम्भ, कुम्भ आदि पदार्थों के द्योतक रूप में प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।

सभी प्रत्यय निरालम्बन हैं, यह दृष्टान्त साध्यविकल है। स्वप्नादि प्रत्यय भी बाह्य अर्थ का आलम्बन लेते हैं, अत: उनमें निरालम्बनपने का अभाव है। स्वप्न दो प्रकार का होता है- सत्य

और असत्य । सत्य स्वप्न देवता विशेष के द्वारा किया हुआ होता है, अथवा कोई धर्माधर्मकृत होता है। यह साक्षात् पदार्थ से अव्यभिचारी होता है, क्योंकि जिस देश, काल और आकार से स्वप्न में अर्थ की प्राप्ति होती है, उस देश, काल और आकार से जाग्रत दशा में उसकी प्राप्ति हो जाती है, यह बात प्रसिद्ध है । जो वात, पित आदि के उद्रेकसे जनित स्वप्न असत्य रूप से प्रसिद्ध है, वह भी पदार्थमात्र का व्यभिचारी नहीं है । कोई भी ज्ञान सत्तामात्र को व्यभिचरित नहीं करता है, नहीं तो उसकी अनुत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । जिस कारण से व्यभिचरित होता है, उसी से असत्य होता है ।

स्वप्न के दृष्टान्त से समस्त प्रत्ययों को बाह्यरूप में मिथ्या मानने लगोगे तो स्वरूप से भी मिथ्या मानने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । तथाहि- जो प्रतिभासित होता है, वह मिथ्या है, जैसे पदार्थ, विज्ञानस्वरूप भी प्रतिभासित होता है । प्रतिभास सामान्य होने पर भी स्वरूप प्रतिभास की सत्यता स्वीकार करने पर प्रत्यय सामान्य की स्थिति में जाग्रत दशा के बाह्य प्रत्ययों को प्रतीतितः सत्यरूप में क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ? क्योंकि दोनों में कोई भेद नहीं है ।[32]

पदार्थ उत्पादादि धर्म से रहित सिद्ध नहीं होते है- पदार्थो को उत्पादादि धर्म से रहित कहना ठीक नहीं है । द्रव्य रूप से सत् और पयार्य रूप से असत् उन उत्पादादि धर्मों का सद्भाव बन जाता है । उन धर्मो को सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् मानना ठीक नहीं है। यदि उत्पादादि धर्म सर्वथा नहीं है तो चिन्मात्र के असत्त्व की प्राप्ति होती है, क्योंकि उसमें कार्यकारित्व का अभाव हो जायगा, जैसे आकाश के फूल में कार्यकारित्व का अभाव है । अथवा चिन्मात्र सदकारण वाला होने से आकाश के समान नित्य ठहरता है । उत्पादादि के असत् होने पर उनमें विशद प्रतिभास रूप ग्राह्यता कैसे होगी ? जो सर्वथा असत् होता है वह विशद प्रतिभास का विषय नहीं होता है, जैसे- आकाश का फूल । आपके द्वारा कल्पित उत्पादादि धर्म सर्वथा असत् हैं । उत्पादादि के ग्राह्य या विषय होने पर सर्वथा असत्पना नहीं बनता है। जो विशदप्रतिभास का विषय होता है वह सर्वथा असत् नहीं होता है, जैसे सवित्स्वरूप । उत्पादादि धर्म विशद प्रतिभास के विषय हैं । यह असिद्ध भी नहीं है । सुवर्णादि में कड़े आदि का उत्पाद विशद प्रतिभास का विषय होने के आबालगोपाल प्रसिद्ध है । सुवर्ण में कटकादि सर्वथा असत् होने पर संवेदनमात्र की भी प्राप्ति नहीं होती है । जो जहाँ सर्वथा असत् है, उसकी वहाँ जानकारी या अनुभव नहीं होता है जैसे दुःख में सुख अथवा नीलाकार में पीताकार और पदार्थों में उत्पादादि धर्म सर्वथा असत् हैं ।

शङ्का - मरीचिका समूह में जल न होने पर भी संवेदन होता है, अतः यहाँ अनेकान्त दोष है ।

समाधान- यह कहना ठीक नहीं है । मरीचिका में जल का सर्वथा न होना असंभव है । द्रव्य, क्षेत्र, काल और आकार से असत्पना सर्वथा असत्पना कहा जाता है । ऐसा असत्पना यहाँ नहीं है। लहर तरङ्ग आदि आकार से वहाँ समानता है, अन्यथा काष्ठ पाषाणादि के समान उस मरीचिका चक्र में भी संवेदन की उत्पत्ति नहीं होगी। असत् होने पर भी इनका संवेदन हो तथापि वह संवेदन मुख्य होता है या गौण आदि का पक्ष अयुक्त है । ज्ञान का ही स्वात्मभूत असाधारण धर्म मुख्य संवेदन है, वह अज्ञानरूप उत्पादादि का कैसे होगा ? प्रयोग - जो अज्ञानरूप है, उसका मुख्य संवेदन नहीं होता है, जैसे खरगोश के सींग का । असत्व रूप में प्राप्त उत्पादादि धर्म और उससे उपलक्षित पदार्थ अज्ञानरूप हैं । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अपने आकार का निर्भास कराने वाला ज्ञानोत्पादान ही गौण संवेदन कहा जाता है । वह अश्वविषाण के समान उत्पादादि असतों में अयुक्त है, क्योंकि असत्व का लक्षण समस्त सामर्थ्य से रहित होता है । जो समस्त सामर्थ्य

से रहित है, उसका गौण संवेदन नहीं होता जैसे घोड़े के सींग का और उत्पादादि धर्म तथा उनसे युक्त पदार्थ (आपके द्वारा) असत् रूप में माने गए हैं ।[33]

उत्पादादि का ज्ञान के साथ सम्बन्ध- दूसरी बात यह है कि उत्पादादि का ज्ञान के साथ में कौन सा सम्बन्ध है, जिससे ज्ञान का अनुभव होने पर नियम से उनकी अनुभूति हो । क्या तादात्म्य सम्बन्ध है या तदुत्पत्ति ? तादात्म्य सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान के समान वे उत्पादा भी सत् हो जायेंगे । तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं हो सकता है । उत्पाद्याकारों का कोई रूप न होने पर जन्यत्व और जनकत्व असंभव है । अत: सम्बन्ध का अभाव होने पर उस ज्ञान के द्वारा उन उत्पादादि का संवेदन कैसे होता है? जिसका जिसके साथ सम्बन्ध नहीं है, उसका अनुभव होने पर वह नियम से अनुभूत नहीं होता है । जैसे ज्ञानात्मा में संवेद्यमान होने पर वन्ध्या का पुत्र । ज्ञान के साथ में असत्वभूतउत्पद्याकारों का तादात्म्य तदुत्पत्तिलक्षण सम्बन्ध नहीं है । ज्ञान में इन उत्पादादि का संवेदन होने पर नियम से संदेवन होता है, अत: उन उत्पादादि का ज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध है । वह सम्बन्ध परमार्थसत्त्व के बिना संभव नहीं है । इस प्रकार उत्पादादि का परमार्थसत्वपना सिद्ध हुआ । जिसका अनुभव होने पर जो नियम से अनुभूत होता है, वह उसके साथ सम्बद्ध होता है और परमार्थ मत् होता है, जैसे ज्ञान का अनुभव होने पर उसका स्वरूप । ज्ञान का मंवेदन होने पर नियम से उत्पादादि धर्म और उनसे युक्त पदार्थ अनुभव में आते हैं । मंवेद्यमान इनका अस्तित्व स्वीकार न करने पर ज्ञान स्वरूप में भी असत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर सकल शून्यता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है ।[34]

सकलशून्यता विषयक विचार- माध्यमिक बौद्धों का कहना है कि सकलशून्यता का प्रसङ्ग उन्हें इष्ट है, अत: वह प्रसङ्ग कोई दोष उत्पन्न नहीं करता है । इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि वह सकलशून्यता कौन सी है जो आपके अभिमत में दोष उत्पन्न नहीं करती है ? सकलशून्यता का अर्थ आपके यहाँ समस्त पदार्थों का अभावमात्र है या ग्राह्य ग्राहक भावादि से रहित संविन्मात्र? प्रथम विकल्प को मानें तो सकल पदार्थ के अभावमात्र के सद्भावविषयक कोई प्रमाण है या नहीं? यदि नहीं है तो उसकी सिद्धि कैसे होती है, क्योंकि वस्तु की सिद्धि तो प्रमाण से होती है । यदि सकल शून्यता का कोई प्रमाण है तो प्रत्यशादि प्रमाण की सकल शून्यता कैसे होती ? प्रत्यक्षादि प्रमाण की जनक इन्द्रियादि का सद्भाव मानने पर सकलशून्यता का विरोध हो जायगा।

सकलशून्यता के विषय में प्रश्न- दूसरी बात यह है कि सकलशून्यता प्रमाण प्रमेय के ग्राहक प्रमाण के अभाव से होगी, अनुपलब्धि से होगी, विचार से होगी या प्रसङ्ग से होगी ? प्रथम पक्ष में ग्राहक प्रमाण का अभाव कौन सा है ? दुष्ट इन्द्रिय से उत्पन्न संशयायिक ज्ञान हैं या ज्ञान का अनुत्पाद है ? आदि का विकल्प ठीक नहीं है, संशयादि का सद्भाव मानने पर सकलशून्यता की हानि का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । ज्ञान का अनुत्पाद भी ज्ञात होकर सर्वाभाव को जानता है या ज्ञान न होकर ? न ज्ञात होकर तो जानता नहीं है, नहीं तो अतिप्रसङ्ग दोष हो जायगा । जो अभाव है वह ज्ञात होकर अन्य अभाव को जानता है, जैसे कोई धूम का अभाव अग्नि के अभाव को जानता है और यह ज्ञान का अनुत्पाद अभाव है । यदि ज्ञात होकर जानता है तो उसकी ज्ञप्ति कैसे होती है प्रमाण के अभाव के कारण अन्य से ज्ञप्ति होती है या स्वत: प्रथम पक्ष में अनवस्था होने के कारण प्रकृत अभाव की जानकारी नहीं होती है । स्वत: उसकी ज्ञप्ति मानने पर समस्त अभाव की भी स्वत: ज्ञप्ति मानने का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर प्रमाणाभाव व्यर्थ हो जाता है ।

माध्यमिक- प्रमाणाभाव व्यर्थ हो जाय, हमारी क्या हानि है ?

जैन- यदि ऐसा मानों तो सकलशून्यता में व्याघात उपस्थित होता है । उस प्रकार से इसके ही प्रमाण प्रमेय रूपत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होता है

माध्यमिक- सर्वाभाव प्रमाण प्रमेय पद से कथन करने योग्य नहीं है ।

जैन- यह कहना अयुक्त है, क्योंकि स्वत: स्वरूप के प्रति तद्रूप के प्रतिषेध का विरोध उपस्थित होता है । प्रमाण प्रमेय पद अव्यपदेश्य मानने पर इनके असत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । तथाहि-"जो प्रमाण प्रमेय पद कथन करने के योग्य नहीं है, वह नहीं है, जैसे गधे के सींग। प्रमाण प्रमेय पद कथन करने योग्य न होने पर समस्त पदार्थों का अभाव हो जाता है ।"[35]

अनुपलब्धि से प्रमाण प्रमेय का अभाव मानने पर सकलशून्यता की सिद्धि नहीं होती है। प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध उपस्थित होता है और सिद्धसाध्यता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । जो प्रध्वस्त और अनुत्पन्न है, उनका अनस्तित्व आपने स्वीकार किया है ।

यदि विचार से सर्वाभाव की सिद्धि की जाती है तो विचार वस्तुभूत है या नहीं? यदि विचार वस्तुभूत है तो सकलशून्यता कैसी ? यदि विचार वस्तुभूत नहीं है तो सर्वाभाव कैसे सिद्ध होगा? यदि प्रसङ्गसाधन से उस अभाव की सिद्धि करो तो यह भी ठीक नहीं है । जो सब पदार्थों को असत् मानते हैं, उनके यहाँ स्व-पर का विभाव असंभव है । स्व-पर का विभाग असंभव होने पर प्रसङ्ग साधन ही असम्भव हो जाता है, क्योंकि प्रसङ्ग साधन का लक्षण दूसरे को इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति कराना है । पदार्थों का अभाव मानने वाले आपको प्रमाण, प्रमेय का प्रपञ्च, जिसे आपने प्रतीति रूपी पर्वत के शिखर पर आरूढ़ नहीं माना है तथा जो आपके मत में स्वप्न में भी प्रतीत नहीं होता है, कैसे प्रमाणिक होगा ? यदि कहो कि स्वप्न में जिस प्रकार हाथी, घोड़े आदि का प्रपञ्च मिथ्या ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह भी है तो इस पर हमारा कहना है कि इसमें सत्यता कैसे होगी ? घटादि पदार्थ का असत्व होने पर सत्यता होगी, ऐसा कहो तो असत्व की सत्यता कैसी होगी ? यदि कहो कि बाधारहित प्रतिभास से असत्व की सत्यता होगी तो यह बात तो दूसरे पक्ष में भी है । जैसे किसी देश या काल में पदार्थ के न होने पर बाधारहित प्रतिभास है, उसी प्रकार से सत्त्व के विषय में भी कहा जा सकता है । यदि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव की तरह मध्य में भी पदार्थों का असत्त्व होता है तो स्थितिकाल में भी "यह गौ है" "शुक्ल है" "चलती है" इस प्रकार जाति, गुण, क्रियारूप व्यपदेश नहीं होगा, क्योंकि असत् होने के कारण वह व्यपदेश असंभव है । चूंकि यह व्यपदेश है, अत: मध्यावस्था में पदार्थो के असद्रूप पदार्थान्तर को सद्रूप मानना चाहिए । इस प्रकार समस्त पदार्थो का अभावरूप सकलशून्यता नहीं होगी ।[36]

ग्राह्य ग्राहक भावादि से शून्य संवन्मात्र की प्रतीति नहीं होती है- माध्यमिक मत में सर्वशून्यता ग्राह्य- ग्राहक भावादि से रहित संवन्मात्र है । आचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि वह सर्वशून्यता उस प्रकार की कैसे सिद्ध हुई ? स्वीकार करने मात्र से या प्रतीति से ? प्रथम पक्ष में प्रतिपक्ष के बिना पक्ष की सिद्धि कैसे होगी? ऐसा होने पर तो सभी के अपने अपने इष्ट तत्त्व की सिद्धि हो जायगी । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ग्राहय ग्राहक भावादि से शून्य संविन्मात्र की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होती है तो संविन्मात्र लक्षण वाली शून्यता प्रतीति से कैसे सिद्ध होगी? प्रतीति से यदि वस्तु की व्यवस्था करते हो तो वस्तु चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य उसे अनेकान्तात्मक स्वीकार करना चाहिए । बाह्य और आन्तरिक पदार्थों का ग्राहय ग्राहक आदि अनेक आकारों को आक्रान्त करने के द्वारा ही प्रतीति में प्रतिभास होता है । यह बात मिथ्या नहीं है, क्योंकि बाधक प्रमाण का अभाव है । विपरीत अर्थ की प्राप्ति कराने वाला बाधक होता है वह बाधक यहाँ है नहीं । इसके विपरीत मध्यक्षण स्थायी संवन्मात्र की स्वप्न में भी प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि उसका

अभाव है । नित्य, निरंश, व्यापक परब्रह्म की प्राप्ति न होने से जैसे तुम बाधा की कल्पना करते हो, उसी प्रकार मध्यक्षण स्थायी संविन्मात्र की प्राप्ति में भी बाधा क्यों नहीं होगी। क्योंकि दोनों में कोई भेद नहीं है । अत: प्रतीति से आन्तरिक अथवा बाह्य वस्तु की व्यवस्था मानने वालों का अनेकान्तात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय मानना चाहिए । इस प्रकार बाह्य पदार्थ भी प्रमाण का विषय सिद्ध होता है ।[37]

वस्तु के स्थलत्व, अणुत्व आदि धर्म विषयक दोष एकान्त पक्ष में ही सम्भव हैं-

माध्यमिक बौद्धों का कहना है कि वस्तु के अनन्तधर्म उस वस्तु का अस्तित्त्व सिद्ध होने पर ही प्रतिष्ठित हो सकते हैं और वस्तु का अस्तित्व किसी भी रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तु का अस्तित्व यदि माना जायगा तो उसे स्थूल, अणु, भिन्न, अभिन्न, सापेक्ष, निरपेक्ष, व्यापक अथवा अव्यापक इन्ही रूपों में से किसी रूप में मानना होगा, पर इनमें किसी भी रूप में उसे नहीं माना जा सकता । जैसे- वस्तु को स्थूल रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि उसे यदि स्थूल रूप में ही स्वीकृत किया जायगा तो अणुवस्तु के न होने से वस्तुओं की स्थूलता में न्युनाधिक्य नहीं होगा, यह इसलिए कि वस्तुओं की स्थूलता का न्यूनाधिक्य उन्हें निष्पन्न करने वाले अणुओं की संख्या के न्युनाधिक्य पर ही निर्भर करता है, वस्तु को अणुरूप में भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि वस्तु यदि अणुरूप होगी तो उसका प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण लोकव्यवहार का उच्छेद हो जायगा । वस्तु को भिन्न रूप में भी नहीं स्वीकृत किया जा सकता, क्योंकि वस्तु यदि भिन्न होगी तो अपने आप से भी भिन्न होगी और अपने आप से भिन्न होने का अर्थ होगा अपनेपन का परित्याग अर्थात् शून्यता । वस्तु को अभिन्न रूप में भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि वस्तु का स्वभाव अभिन्न होगा तो कोई वस्तु किसी से भिन्न न होगी, फलत: घोड़े, बैल आदि की परस्पर भिन्नता का लोप हो जाने से एक के स्थान में दूसरे के समान विनियोग की आपत्ति होगी । वस्तु को सापेक्ष रूप में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस पक्ष में प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष होने से अपेक्षात्मक वस्तु को भी सापेक्ष कहना होगा, फलत: अपेक्षा की कल्पना के अनवस्थाग्रस्त होने से वस्तु की सिद्धि असम्भव हो जायगी । निरपेक्ष रूप में भी वस्तु की सत्ता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वस्तु को निरपेक्ष मानने पर पूर्व और उत्तर अवधि की भी अपेक्षा समाप्त हो जाने से प्रत्येक वस्तु को अनादि और अनन्त मानना पड़ जायगा । और उसके फलस्वरूप जगत् के असंख्य पदार्थों की लोकसिद्ध सादिता और सान्तता का लोप हो जायगा। वस्तु को व्यापक रूप में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यापकता को यदि वस्तु का स्वभाव माना जायगा तो प्रत्येक पदार्थ का सर्वत्र अस्तित्व होने से सब स्थानों में सब पदार्थों के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। वस्तु को अव्यापक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अव्यपाकता को यदि वस्तु का स्वभाव माना जायेगा तो उसके लोकसम्मत आश्रय में भी उसकी व्याप्ति का लोप हो जाने से उसके नितान्त असत्वशून्यता की प्रसक्ति होगी । इस प्रकार वस्तु की सत्ता के शून्यता ग्रस्त हो जाने से अनन्तधर्मात्मक वस्तु के अस्तित्व रूप उपजीव्य की सिद्धि न होने के कारण स्याद्वाद की प्रतिष्ठा असम्भव है ।

बौद्धों के इस आक्षेप के उत्तर में जैन विद्वानों का कथन यह है कि वस्तु के स्थूलत्व, अणुत्व आदि जिन धर्मों का निषेध उपर्युक्त रीति से किया गया है, वे सब धर्म वस्तु में अपेक्षाभेद से कथंचित् विद्यमान है । वे उन धर्मों को एकान्तत: स्वीकार या अस्वीकार करने पर ही सम्भव हैं । अत: उन धर्मों को अभिन्न आस्पद रूप में वस्तु की सिद्धि होने में कोई बाधा न होने से स्याद्वाद शासन पर किसी प्रकार की आँच नहीं आ सकती ।[38] कहा भी है-

"भगवन् ! शून्यवाद में पर्यवसित होने वाले स्थूलत्व, अणुत्व आदि रूप में वस्तु की सत्ता के निषेध आपके कथंचित् अभ्युपगम की नीति के निरस्त होने के कारण आपके स्याद्वाद शासन को बाधा पहुचाने में असमर्थ हैं ।[39]"

फुटनोट

1 आचार्य समन्तभद्र : युक्त्यनुशासन-25 (आचार्य विद्यानन्द कृत व्याख्या)
2. आचार्य हरिभद्र : षडदर्शनसमुच्चय पृ 74
3 वही पृ 75 से उद्धृत
4 प्रमाणवार्तिक 2/260
5 हरिभद्र : श्यास्त्रवार्तासमुच्चय 467-469
6 आचार्य जिनसेन : आदिपुराण 5/45-48
7 न्यायकुमुदचन्द्र पृ 131 में उद्धृत ।
8 तत्वसंग्रहपंजिका पृ 550
9 न्यायकुमुदचन्द्र पृ 131
10 प्रमाण वार्तिक 3/360, अष्टलहस्री पृ 115, सन्मति तर्क टीका पृ 376, शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका पृ 215, स्याद्वादरत्नाकर पृ 181 न्यायकुमुदचन्द्र पृ 132
11 प्रमाण वार्तिक 3/209, न्यायकुमुदचन्द्र पृ 132
12 न्यायकुमुदचन्द्र पृ 132
13 न्यायकुमुदचन्द्र पृ 132
14 न्यायकुमुदचन्द्र पृ 132-133
15 न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 133
16 न्यायकुमुदचन्द्र पृ 133
17 आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री : न्यायबिन्दु भूमिका पृ 5
18 आजकल (वार्षिक अंक दिसम्बर 1956) बौद्धधर्म के 2500 वर्ष पृ. 85,86
19 समन्तभद्र : आप्तमीमांसा-12
20 जिनसेन : आदिपुराण 5/82-83
21. वही 21/249
22 वही 21/250
23 हरिभद्र : शास्त्रवार्ता समुच्चय 470-476
24. विद्यानन्द अष्टसहस्री (प्रथम भाग) पृ 188 (त्रिलोक शोध संस्थान प्रकाशन)
25 वही पृ 189
26. वही पृ 189-190
27 अष्टसहस्री पृ. 89, व्याख्या कारिका - 8
28 विद्यानन्द : अष्टसहस्री पृ 116
29 अष्टसहस्री पृ 117
30 प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 133-134
31 वही पृ. 134
32. प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 135-136
33 न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ 136-137
34 वही पृ. 137
35 न्यायकुमुदचन्द्र, प्रथम भाग पृ 137 138
36 वही पृ 138-139
37 वही पृ 139
38 जैनन्यायखण्डखाद्यम् - आचार्यबदरीनाथशुक्ल कृ व्याख्या पृ 136-137
39. जैनन्यायखण्डखाद्या कारिका-60

□□□

दशम परिच्छेद

प्रमाण : प्रमाण का स्वरूप

प्रमाण के भेद

प्रत्यक्ष प्रमाण : प्रमाण का लक्षण- जिसमें कोई विसंवाद नहीं है, ऐसे ज्ञान को सौगत प्रमाण मानते हैं।[1] जो ज्ञान अर्थ का प्रापक होता है, वही ज्ञान अविसंवादीकहा जाता है। जिस ज्ञान के द्वारा अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, वह अविसंवादी नहीं हो सकता, जैसे वेशोण्डुक ज्ञान। अविसंवादित्व की अर्थप्रापकत्व के साथ व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव है। अर्थ प्रापकत्व प्रवर्तकत्व के साथ अविनाभाव रखता है, क्योंकि जो ज्ञान प्रवर्तक ही नहीं है, वह अर्थ की प्राप्ति भी नहीं कराता। इसी तरह प्रवर्तकत्व विषयोपदर्शकत्व से अपना अविनाभावी सम्बन्ध रखता है। जो ज्ञान अपने विषय का यथार्थ उपदर्शन अर्थात् प्रतिभास या निश्चय कराता है, वही प्रवृति में प्रयोजक होकर प्रवर्तक होता है और वही प्रापक भी कहा जाता है। ज्ञान ज्ञाता का हाथ पकड़कर उसे पदार्थ तक नहीं ले जा सकता। स्वविषय के उपदर्शन को छोड़कर दूसरी कोई भी प्रवर्तकता या प्रापकता ज्ञान में नहीं बन सकती। यह प्रापकता शक्तिरूप है। कहा भी है- प्रापण शक्ति को ही प्रामाण्य कहते हैं और ज्ञान में इस शक्ति का होना ही प्रापकत्व है। प्रत्यक्ष और अनुमान ही अपने विषय के यथार्थ उपदर्शन होते हैं, अन्य ज्ञान नहीं। इसीलिए प्रत्यक्ष और अनुमान का ही लक्षण किया जाना चाहिए। इन दोनों का सामान्य लक्षण अविसंवादकत्व है। प्रत्यक्ष को अर्थक्रियासाधक स्वलक्षण रूप वस्तु को साक्षात् विषय करके उसका उपदर्शन कराता है। पर अनुमान लिङ्गदर्शन कि विषयभूत स्वलक्षण वस्तु के साथ अविनाभाव रखने वाली साध्य वस्तु का अध्यवसाय कराकर प्रदर्शन कराता है, तब अविसंवादी होता है। इस तरह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों में स्वविषयोपदर्शन रूप प्रापकत्व है।[2]

अविसंवादी ज्ञान की प्रमाणता पर विचार- बौद्धों की अविसंवादी ज्ञान की प्रमाणता पर तीन विकल्प उठते हैं -1 बौद्ध ज्ञान के अविसंवादकत्व को क्या प्रदर्शित अर्थ की प्राप्ति करा देने से प्रमाण कहते हैं। 2- प्राप्ति योग्य अर्थ के दिखा देने से प्रमाण कहते हैं या-3- अविचलित (अबाधित) अर्थ को विषय करने से प्रमाण कहते हैं? यदि प्रथम पक्ष मानते हो, तो वह अयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने से जल के बुद्बुदादि या नष्ट होने वाले पदार्थ से जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसको अप्रमाणता आ जायगी, कारण कि प्राप्ति के समय वह नष्ट हो जाता है। बौद्धों ने उसे प्रमाण माना है जो प्रदर्शित अर्थ की प्राप्ति करा दे। यदि द्वितीय पक्ष मानते हो तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्राप्ति के अयोग्य देश में स्थित ग्रह, नक्षत्र आदि को विषय करने वाले ज्ञान को अप्रमाणता की प्रसक्ति हो जायगी, क्योंकि ये चीजें ऐसी जगह में ठहरी हुई हैं जहाँ से इन्हें हम प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यदि तीसरा पक्ष मानते हो तो उसमें भी यह प्रश्न होता है कि उस अविचलित विषयता को तुम जानोगे कैसे। ज्ञानान्तर से उसके विषय का निराकरण नहीं होता है, ज्ञानान्तर से उसका विषय बाधा नहीं जाता है, इससे अविचलितविषयता का पता चल जायगा,

यदि ऐसा कहते हो तो जैनों का भी यही मत है। अविसंवादकत्वरूप से स्वपर प्रकाशी बाधारहित ज्ञानको ही बौद्ध प्रमाण मानें तो कोई बाधा नहीं है।[3]

अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता के विषय में तत्वोपप्लववादियों की आपत्ति -

तत्त्वोपप्लववादियों काकहना है कि अर्थक्रिया का सद्भावलक्षण (अर्थक्रिया को करने में समर्थ) जो अविसंवाद है, वह ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करने में हेतु नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह अर्थक्रिया लक्षण अविसंवाद अज्ञातरूप (नहीं जाना गया रूप) है ज्ञात (जाना गया रूप है) है, यदि कहो कि अविसंवाद नहीं जाना गया है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध नहीं कर सकेगा। यदि कहो कि वह अविसंवाद अवगत (ज्ञात) होकर प्रमाण की व्यवस्था में कारण है, तब तो यह बतलाओ कि उस अवगत अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता किससे हैं ? यदि कहो भिन्न संवाद से है तब तो उस अवगत (अविसंवादज्ञान) की भी भिन्न संवाद से प्रमाणता निश्चित् होने से अनवस्था आ जाती है।

बौद्ध- अर्थक्रिया से सदभावरूप अविसंवाद ज्ञान की अभ्यासदशा में स्वत: प्रमाणता सिद्ध है, अत: कोई दोष नहीं है।

तत्त्वोपप्लववादी- आप बौद्धों के यहाँ यह अभ्यास क्या है ? यदि आप कहें कि ज्ञान में पुन: पुन: संवाद का होना अभ्यास है तब तो वह संवाद सज्जातीय सत्यरूप सामान्य ज्ञान में होता है या अतज्जातीय रूप विशेष में ? अतज्जातीय ज्ञान में पुन: पुन: संवाद का अनुभव मानने पर तो स्वलक्षण रूप एकक्षणवर्ती एक संवेदन में पुन: पुन: संवाद का अनुभव संभव ही नहीं है, क्योंकि आप क्षणिकवादियों के यहाँ तो ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। वस्तु क्षणिक होने पर उसमें बार बार अनुभव कैसे बनेगा ?

बौद्ध- सन्तान की अपेक्षा से पुन: पुन: अनुभव संभव है।

तत्त्वोपप्लववादी- ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आपने तो स्वयं ही सन्तान को अवस्तु माना है अत: उसकी (काल्पनिक की) अपेक्षा ठीक नहीं है अथवा उस सन्तान को वास्तविक मान भी ले तो वह सन्तान भी क्षणिकरूप ही सिद्ध हो जावेगी। पुन: उस सन्तान की अपेक्षा से यह अभ्यास कैसे हो सकेगा ? अथवा यदि आप सन्तान को नित्य मान लें तो 'यत् सत् तत् सर्व क्षणिकं' यह प्रतिज्ञा वाक्य कैसे सिद्ध होगा?

बौद्ध- सज्जातीय ज्ञान में पुन: पुन: सत्यरूप संवाद का अनुभव होता है।

तत्त्वोपप्लवादी- ऐसा नहीं कहना। आप जाति सामान्य का निराकरण करने वाले हैं अत: आपके यहाँ कहीं पर भी अन्वय रूप से जातीय- सामान्य सिद्ध नहीं हो सकता है।

बौद्ध- अन्यापोहलक्षण जाति से किसी स्थिर, स्थूल आदि वस्तु में जातीयत्व बन ही जाता है।

तत्त्वोपप्लववादी- ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अन्यापोह तो अवस्तु है, अथवा उसको वस्तुरूप मान लेने पर जाति का विरोध हो जावेगा, क्योंकि आपने असाधारण -विशेष रूप स्वलक्षण को ही वस्तुरूप माना है।

अविसंवादी लक्षण में असम्भव दोष - न्यायदीपिकाकार अभिनवधर्मभूषण यति के अनुसार अविसंवादी ज्ञान रूप प्रमाण का लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है। बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं। न्यायबिन्दु में कहा है- सम्यग्ज्ञान के दो भेद है- 1- प्रत्यक्ष और 2- अनुमान। उसमें प्रत्यक्ष में अविसंवादीपना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह निर्विकल्पक होने से अपने

विषय का निश्चायक न होने के कारण संशयादिरूप समारोप का निराकरण नहीं कर सकता है। अनुमान में भी अविसंवादीपना सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके मत के अनुसार वह भी अवास्तविक सामान्य को विषय करने वाला है । इस तरह बौद्धों का वह प्रमाण का लक्षण असम्भव दोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नहीं है ।[5]

अज्ञातार्थ का प्रकाशक प्रमाण है- बौद्धदर्शन में सर्वप्रथम दिङ्नाग ने प्रमाण का लक्षण किया है । उन्होंने अज्ञात अर्थ के प्रकाश को प्रमाण कहा[6] तथा विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंविति को फल बताकर उन्हें प्रमाण से अभिन्न माना है ।[7] शान्त रक्षित ने दिङनाग की तरह विषयाधिगति अथवा स्वसंविति को प्रमाणफल तथा सारूप्य अथवा योग्यता को प्रमाण कहकर उनमें भेद की ओर संकेत किया है। पर वह अभेद में ही पर्यवसित है ।[8]

अज्ञातार्थप्रकाशक रूप प्रमाण पर विचार- अब तक नहीं जाने गए अपूर्व अर्थ का प्रकाश करना यदि परमार्थ रूप से प्रमाण का लक्षण माना जायेगा तो अनुमान को प्रमाणपना नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि वस्तुभूत जिस क्षणिकत्व को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ने जान लिया था उसी ग्रहण किये जा चुके का अनुमान द्वारा ग्रहण हुआ है। यदि बौद्ध कहें कि क्षणिकत्व स्वर्ग प्रापणशक्ति आदि वस्तुभूत पदार्थों का प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में ग्रहण हो चुका है, फिर भी किसी कारणवश उत्पन्न हो गए संशय,विपर्यय अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोप के निराकरण कर देने से अनुमान ज्ञान को प्रमाणपना है । इस प्रकार कहने पर तो स्मृति, व्याप्तिज्ञान आदि को भी इस ही कारण अर्थात् समारोप का व्यवच्छेदक होने से बाधारहित प्रमाणपना इष्ट हो जायगा, जो कि बौद्धों द्वारा माने हुए प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाणों की द्विविधपन के विनाश का कारण है ।

बौद्ध- प्रत्यक्ष में प्रमाणपना मुख्यरूप से घटता है और अनुमान में प्रमाणपना केवल व्यवहार को साधने के लिए मान लिया है ।

जैन- इस प्रकार प्रमाण में दो लक्षणों को कह रहा बौद्ध तो बौद्ध नहीं है । अर्थात् बुद्धियों के समुदाय या बुद्धि के अपत्य का कार्य ऐसा अबुद्धिपूर्वक नहीं हो सकता है । चार्वाक के समान वह बर्हिबुद्धि समझा जायगा ।[9] चार्वाक का कहना है कि प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, क्योंकि प्रमाण अगौण होता है । प्रत्यक्ष की सहायता से होने वाले अनुमान को प्रमाणपना मानने से गौण को प्रमाणपना आता है । इस कथन से चार्वाक ने अनुमान को गौण प्रमाणपन का निराकरण नहीं किया है ।[10]

अकलङ्कदेव के कथनानुसार बौद्धों का ज्ञान को अपूर्वार्थ ग्राहीमानना युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि सभी ज्ञान प्रमाण हो सकते हैं। जैसे दीपक प्रथमक्षण में अन्धकार मग्न पदार्थों को प्रकाशित करता है और उत्तरकाल में भी वह प्रकाशक बना रहता है, कभी भी अप्रकाशक नहीं होता उसी तरह ज्ञान भी प्रतिसमय प्रमाण रहता है, चाहे वे गृहीत को जाने या अगृहीत को । यदि प्रतिक्षण परिवर्तन के आधार से प्रदीप में प्रतिक्षण नूतन प्रकाशकत्व माना जाता है और इसी तरह ज्ञान को भी प्रतिक्षण अपूर्व का प्रकाशक बनाया जाता है तो स्मृति इच्छा और द्वेष आदि की तरह पूर्व पूर्व पदार्थों का जानने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं है । यह बौद्धग्रन्थ का वाक्य खण्डित हो जाता है, क्योंकि प्रतिक्षण परिवर्तन के अनुसार कोई भी ज्ञान गृहीतग्राही हो ही नहीं सकता (तत्वार्थवार्तिक 1/12/12)

प्रमाण के सारूप्य लक्षण पर विचार- जिन बौद्धों ने ज्ञान का अर्थ के आकार हो जाना प्रमाण कहा है और अर्थ की अधिगति को प्रमाण का फल माना है, उनके यहाँ सन्निकर्ष को भी प्रमाणत्व

क्यों नहीं माना गया है ।[11] बौद्ध कह रहे हैं कि ज्ञान में अर्थ का पड़ गया सदृश आकार सहितपना प्रमाण है और पदार्थों की ज्ञप्ति हो जाना इस प्रमाण का फल है । ज्ञान का अर्थ के साथ सम्बन्ध कराने के लिए अर्थरूपता को छोड़कर अन्य कोई समर्थ नहीं है । यह नील का संवेदन है, यह पीत का संवेदन है, इस प्रकार उन नील, पीत, का ज्ञानों में आकार पड़ जाने से षष्ठी विभक्ति द्वारा सम्बन्धयोजक व्यवहार होता है । यदि ज्ञान में अर्थ का आकार पड़ना नहीं माना जायगा तो निराकार ज्ञान का किसी पदार्थ के साथ निकटपन और दूरपन तो असिद्ध है । इस कारण सभी पदार्थों का एक ज्ञान हो जाने की आपत्ति होगी । इन्द्रिय मन आदि तो सभी अर्थों के ज्ञान में साधारण कारण है, इस कारण उस ज्ञान का प्रतिनियम कराने के वे निमित्त नहीं बन सकते हैं। अत: घटज्ञान का घट ही और पट ज्ञान का पट ही विषय है, इसका नियम कराने वाली ज्ञान में पड़ी हुई तदाकारती ही है ।[12]

आचार्य विद्यानन्द का कथन है कि उपर्युक्त रूप से जिस बौद्ध के द्वारा कहा जा रहा है, उसके यहाँ सन्निकर्ष प्रमाण हो जाय और अधिगति उसका फल हो जावे, क्योंकि उस सन्निकर्ष के बिना अर्थ के साथ ज्ञान का जुड़ना असम्भव है। बौद्धों ने ज्ञान द्वारा नियत विषयों को जानने में तदाकारता तदुत्पति और तदध्यवसाय ये तीन नियामक हेतु कहे हैं । बौद्ध यदि तदाकारता से उस विषय को जानने की व्यवस्था करेंगे तो तदाकारता को सम्पूर्ण समान अर्थों के ज्ञान कराने में साधारणपना होने के कारण किसी एक ही विवक्षित पदार्थ के साथ निकटपना और दूरपना जब सिद्ध नहीं है तो सम्पूर्ण ही समान अर्थो के साथ सम्बन्धित हो जाने का प्रसङ्ग हो जाने से सभी समान अर्थों का एक ज्ञान हो जाने की आपत्ति होगी ।

बौद्ध- हम तदुत्पत्ति को ज्ञान द्वारा नियत व्यवस्था करने में नियामक मानते हैं।

जैन- इस प्रकार बौद्धों के कहने पर समान अर्थों के जानने का व्यभिचार दोष दूर हो गया, किन्तु इन्द्रिय, पुण्य, पाप, आकाश आदि से दोष लग गया अर्थात् इन्द्रिय, क्षयोपशम, पुण्य आदि कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु उसको जानता नहीं है। अत: इन्द्रिय आदिक से व्यभिचार हो जाने के कारण तदुत्पत्ति को नियम करानेपन का अयोग है ।

बौद्ध- यहाँ हम तदध्यवसाय की शरण लेते हैं । अर्थात् पीछे होने वाले विकल्प ज्ञान से जिस विषय का अध्यवसाय होगा, पूर्ववर्ती निर्विकल्पक ज्ञान का वही विषय नियत समझा जायेगा।

जैन- उत्तरवर्ती ज्ञान में प्रथमज्ञान का अध्यवसाय भी हो जाता है तो फिर पूर्व ज्ञान उत्तरज्ञान को क्यों नहीं विषय करता है ? दूसरा अतिप्रसङ्ग दोष है कि शुक्लशंख में किसी कारणवश कामल रोग वाले पुरुष को प्रथम ही शंख पीला है ऐसा मिथ्याज्ञान हुआ उसके अनन्तर ही ज्ञान से उत्पन्न हुआ दूसरा ज्ञान हुआ जो कि पहले ज्ञान से उत्पन्न है । पहिले ज्ञान का आकार भी उसमें है तथा पहिले ज्ञान का अध्यवसाय कराने वाला भी है । अत: पहिले पीत आकार को जानने वाले ज्ञान से उत्पन्न हुए दूसरे पीत आकार वाले ज्ञान के तदुत्पत्ति, तदाकारता और तदध्यवसाय स्वरूप के विद्यमान होने पर भी उसमें प्रमाणपना नहीं माना गया है । बौद्धों के विचारानुसार तो तीनों नियामक के होने से उसमें प्रमाणपने का प्रसंग आता है । अत: तद्ध्यवसाय का मिथ्याज्ञान के पीछे होने वाले ज्ञान से व्यभिचार है। इस कारण तदाकारता को प्रमाण कहने वाले बौद्ध के सन्निकर्ष को प्रमाण क्यों नहीं माना । तदाकारता और सन्निकर्ष दोनों का फल अधिगति मिल ही जाती है ।[13]

बौद्ध- सन्निकर्ष तो प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें अन्वय व्यभिचार है, सन्निकर्ष होते हुए भी अर्थ की अधिगति नहीं हो रही है ।

जैन- जिस प्रकार सन्निकर्ष के होते हुए भी अर्थज्ञप्ति की शून्यता देखी जाती है उसी प्रकार क्षणिकत्व आदि में तदाकारता होते हुए भी अर्थज्ञप्ति का अभाव स्वयं बौद्धों का अभीष्ट है ।[14] अर्थात् ज्ञान के विषय को बौद्धों ने ज्ञान का आलम्बन कारण माना है तथा निर्विकल्पक बुद्धि जिस विषय में इस सविकल्पक बुद्धि को पीछे से उत्पन्न कराएगी, उस विषय में ही इस निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाणता है, ऐसा बौद्ध ग्रन्थों में लिखा हुआ है । अत: बौद्ध विद्वान सन्निकर्ष को प्रमाण कहने वाले वैशेषिकों का अतिशय नहीं करता है ।[15]

तदाकारता के बिना भी यदि स्वसंवेदन को प्रमाणपना मानते हो तो अर्थज्ञान को भी तदाकारता के बिना ही प्रमाण क्यों न मान लिया जाय ।

बौद्ध- स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में भी ज्ञान का आकार पड़ता है ।

जैन- तब तो उसको जानने वाले उसके संवेदन में भी तदाकारता माननी पड़ेगी और उसको भी जानने वाले तीसरे संवेदन में ज्ञान का प्रतिबिम्ब मानना पड़ेगा । इस प्रकार अनवस्था का उदय क्यों नहीं होगा । अत: ज्ञान ही प्रमाण हुआ ।[16]

बौद्ध- स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को ज्ञान का स्वरूप जानने में प्रमाणता नहीं है । उपचार से ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

जैन- तब तो मुख्य प्रमाणों के अभाव का प्रसङ्ग होगा और ऐसा होने पर बौद्धों को अपने मत से विरोध होगा ।[17]

बौद्ध- व्यवहार से जिसको भी प्रमाण मान लिया, वही ठीक है । शास्त्र केवल मोह की निवृत्ति कर देता है । कोई आप्तमूलक प्रमाण नहीं है । अत: मुख्य प्रमाणों के न मानने पर स्वमतविरोध नहीं आता है ।

जैन- ऐसा तब हो सकता था जब बौद्ध प्रमाण को न कहता होता । किन्तु बौद्धों ने अज्ञात अर्थ का प्रकाश करने वाला और स्वरूप की अधिगति का उत्कृष्ट कारण प्रमाण तत्व माना है। अथवा स्वरूप की अधिगति से उसका जनक प्रमाण न्यारा है, इस प्रकार बौद्धों ने स्वकीय शास्त्रों में मुख्य प्रमाण को इष्ट किया है । फिर व्यवहार की शरण क्यों ली जाती है ?

प्रमाण के भेद- बौद्धदर्शन में दो प्रमाण होते हैं - 1 - प्रत्यक्ष 2- अनुमान । चूँकि सम्यग्ज्ञान दो ही प्रकार का है, अत: प्रमाण भी दो ही हो सकते हैं ।[18] बौद्धों के मत में क्षणिक परमाणु रूप विशेष स्वलक्षण तो प्रत्यक्ष का विषय होता है तथा बुद्धि प्रतिबिम्बित अन्यापोहात्मक सामान्य अनुमान का विषय होता है । इस तरह विषय की द्विविधता से प्रमाण के द्वैविध्य का अनुमान किया जाता है । प्रत्यक्ष सामान्य पदार्थ को तथा अनुमान स्वलक्षण रूप विशेष पदार्थ को विषय नहीं कर सकता । प्रत्यक्ष से विषयभूत अर्थ से भिन्न सभी अर्थ परोक्ष हैं । इस प्रकार विषयों के दो प्रकार होने से उनका ग्राहक सम्यग्ज्ञान भी दो प्रकार का है । वह न तो एक प्रकार का है, न तीन प्रकार का । इनमें जो सम्यग्ज्ञान परोक्ष पदार्थ को विषय करता है वह अनुमान में अन्तर्भूत होता है, क्योंकि वह अपने साध्यभूत पदार्थ से अविनाभाव रखने वाले तथा नियतधर्मी में विद्यमान लिङ्ग के द्वारा परोक्षार्थ का सामान्य रूप से अविशद ज्ञान करता है । अत: प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं ।[19]

बौद्धसम्मत प्रमाणद्वैविध्य का निराकरण- सौगत परिकल्पित प्रत्यक्ष और अनुमान का प्रमाणद्वैविध्य उन्हीं के मन्तव्यानुसार बनता नहीं है । उनका मन्तव्य है-प्रत्यक्ष से अतिरिक्त केवल अनुमान ही प्रमाण हो सकता है, शब्द ऊहादिक नहीं, क्योंकि अनुमान तादात्म्य तदुत्पति रूप सम्बन्ध रहता है, जबकि शब्द- ऊहादिक नहीं, क्योंकि अनुमान में तादात्म्य तदुत्पति रूप सम्बन्ध

रहता है, जबकि शब्द - ऊहादिक में यह सम्बन्ध नहीं रहता। अनुमान में भी यह सम्बन्ध कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि ये जो तीन अनुमान से लिङ्ग है और जिनसे अनुमान की उत्पत्ति होती है, उनके द्वारा आता है और यह अयुक्त है, क्योंकि "प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है" ऐसा जानने का कोई उपाय नहीं है। प्रत्यक्ष से तो प्रमाणान्तर का अभाव जान नहीं सकते हैं क्योंकि वह तो स्वलक्षण को ही विषय करता है, अत: अभाव जान नहीं सकते हैं, क्योंकि वह तो स्वलक्षण को ही विषय करता है, अत: अभाव (प्रत्यत्रानुमानातिरिक्त प्रमाणान्तराभाव) को वह ग्रहण नहीं कर सकता और न स्वभावानुमान और कार्यानुमान से ही प्रमाणान्तर का अभाव जान सकते हैं, क्योंकि ये तो वस्तु के साधक है, उसके अभाव के साधक नहीं और न अनुपलब्धि से ही प्रमाणान्तर का अभाव ग्रहण हो सकता है, क्योंकि अनुपलब्धि किसी क्षेत्र विशेष में ही भले अभाव सिद्ध कर सकती हो, वह सर्वत्र अभाव सिद्ध नहीं कर सकती।[20]

दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान में भी जो प्रामाण्य है, वह कहाँ से आया ? प्रत्यक्ष से वह आया है, ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष निर्विकल्प होने के कारण सत् होता हुआ भी असत् के समान है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के पीछे एक विकल्प (विचार) होता है, वह स्वलक्षण को विषय नहीं करता है, इसलिए वह कैसे बिना उसे विषय किये उसके स्वरूप को जानेगा। अप्रमाणभूत भी विकल्प से प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रामाण्य का निर्णय करना ठीक नहीं है। अनुमान से उन दोनों के प्रामाणय का निर्णय करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान भी स्वलक्षण से बाहर ही बाहर तैरता है।

बौद्ध- अनुमान से यदि प्रामाण्य का निर्णय न होता तो न सही, किन्तु उससे एक काम तो हो जायगा कि वह अप्रामाण्य को दूर कर देगा, और यही आवश्यक है।

जैन- ऐसा समझना भी गलत है, क्योंकि वह नियम है कि किसी का व्यवच्छेद (दूरीकरण) व्यवच्छिन्न- जिसका व्यवच्छेद होता है, उससे भिन्न नहीं हुआ करता। यहाँ आप (बौद्ध) अप्रामाण्य का व्यवच्छेद प्रत्यक्षानुमान से करना चाहते हो तो अप्रमाण्य का व्यवच्छेद व्यवच्छिन्न जो अप्रमाण्य उससे अलग नहीं हो सकता, यदि अलग हो जायगा तो जो बात प्रत्यक्षानुमान से अप्रामाण्य का व्यवच्छेद- आप अनुमान से करना चाहते हैं, वह तो अब अपने आप ही सिद्ध है, तब अनुमान का कोई विषय नहीं रह जायगा, न तो उसका विषय "प्रामाण्य का निर्णय" ही हो सकता है और न "अप्रमाण्य का व्यवच्छेद" ही। इस तरह अनुमान के निर्विषय होने से वह अन्धकार में नाचने के समान हो जाता है। कोई अंधकार में नाचता हो तो उसका यह नाचना अच्छा है या बुरा, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उसको कोई देख नहीं रहा है। इसी तरह जब अनुमान का कोई विषय ही नहीं रहा, तब उसका विषय अप्रामाण्य का दूर करना है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

हम पूछते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान के अप्रामाण्य का निर्णायक अनुमान प्रमाण है कि अप्रमाण ? अप्रमाण तो उसे मान नहीं सकते हैं, क्योंकि अप्रमाण अनुमान से प्रामाणय सिद्ध नहीं हो सकता और न उसे प्रमाण ही कह सकते हैं, क्योंकि उसके प्रामाण्य का साधक और कोई प्रमाण, जिसे आप मानते हो, है नहीं। प्रत्यक्ष से तो प्रत्यक्षानुमान के प्रमाण्य के निर्णायक अनुमान के प्रामाण्य की सिद्धि हो नहीं सकती है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष विकल्प विचार से शून्य है, अत: अकिञ्चित्कर है। अनुमान से उसके प्रमाण्य का साधन करोगे तो पहले के दोनों विकल्प-प्रत्यक्षानुमान के प्रामाण्य के निर्णायक अनुमान के प्रामाण्य का निर्णायक अनुमान प्रमाण है कि अप्रमाण ? वैसे के वैसे ही

खड़े हुए हैं। इस तरह उस अनुमान के भी प्रमाण्य सिद्ध करने में आगे के अनुमान की कल्पना करते जाने से अनवस्था हो जायगी।

जिस व्यक्ति ने साध्य साधन का सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति ग्रहण कर ली है, वही अनुमान कर सकता है। साध्य साधन का सम्बन्ध त्रिकालगोचर है, किसी एक काल का नहीं है। प्रत्यक्ष उस सम्बन्ध को जान नहीं मकता है, पूर्वापरक्षणों से त्रुटित (अलग) जो वर्तमान क्षण उसके उत्तरकाल में होने वाला विकल्प उस व्यक्ति को ग्रहण करेगा, ऐसा जो हम स्वीकार करते हैं, वह केवल व्यवहारिक अभिप्राय से स्वीकार करते हैं, वास्तव में नहीं ? यदि कहो कि अनुमान से ग्रहण कर लेंगे तो अनुमान भी सम्बन्ध (व्याप्ति) पूर्वक होता है, इसलिए उस व्याप्ति के ग्रहण में भी यही सब बात दुहाई जायगी, इस तरह अनवस्था हो जायगी। इसलिए जो अनुमान मानना चाहता है उसको और कोई उपाय न होने मे उस साध्य-साधन के सम्बन्ध के ग्रहण करने में प्रवीण अव्यभिचारी "वितर्क" नाम का प्रमाण और मानना चाहिए। उसके मानने से द्वैविध्य का विघटन हो जाता है। यदि ऐसा मानो कि जो साध्यरूप अर्थ के बिना न होने वाले हेतु से होता है, वह अनुमान है तो प्रत्यक्ष और अनुमान, इस तरह का द्वैविध्य भी घट सकता है, क्योंकि फिर प्रत्यक्ष व्यतिरिक्त जितने भी ज्ञान हैं वे सब अनुमान में अन्तर्भूत हो जायेंगे और उनके अन्तर्भाव का आधार यह होगा कि साध्यरूप अर्थ के बिना न होने वाला जो अर्थान्तर है, उसके बिना परोक्ष के अर्थ के विषय की प्रतीति नहीं होगी। उस एक आधार के कारण सभी परोक्षज्ञान एक अनुमान में ही अन्तर्भूत हो जायेंगे।[21]

बौद्ध समस्त प्रमाण संख्या के विषय में आचार्य प्रभाचन्द्र के विचार-

आचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि प्रमेय का दोपना ही जब असिद्ध है तब उसमे प्रमाण के दो भेद किस प्रकार सिद्ध हो सकते हैं ? अर्थात नहीं सिद्ध हो सकते हैं। प्रमाण का विषय सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही है। बौद्ध अनुमान का विषय केवल एक सामान्य ही है, ऐसा मानते हैं, अत: इस लक्षण वाले अनुमान द्वारा विशेष विषयों में प्रवृति नहीं हो सकेगी। यह तो निश्चित है कि अन्य विषय वाला ज्ञान अन्य विषयों में प्रवृत्ति नहीं करता, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अतिप्रसङ्ग होगा, अर्थात् फिर घट को विषय करने वाला ज्ञान पट में प्रवृत्ति कराने लगेगा।

बौद्ध- हेतु से अनुमति किए गए सामान्य से विशेष की प्रतिपत्ति होती है और उस प्रतिपत्ति से विशेष में प्रवृत्ति हो जाती है।

जैन- यदि ऐसी बात है तो सीधे हेतु से ही विशेष की प्रतिपत्ति होना माने। परपंरा से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् हेतु से सामान्य की प्रतिपत्ति होना और फिर उस सामान्य से विशेष की प्रतिपति होना ऐसा मानते हैं उसमें क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं।

बौद्ध- विशेषों में हेतु के अविनाभाव की प्रतिपत्ति नहीं है, अत: अनुमान द्वारा उन विशेषों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ?

जैन- यह बात तो सामान्य में भी घटित होगी।

बौद्ध- विशेषों में सामान्य का अविनाभाव जाना हुआ नहीं रहता तो भी सामान्य विशेष का गमक हुआ ही करता है।

जैन- तो फिर हेतु इसी तरह अज्ञात रहकर भी विशेष का गमक क्यों नहीं होगा ? यदि कहा जाय कि सामान्य भी मात्र सामान्य रूप से विशेषों में अविनाभाव का ज्ञान कराता है तो

अनवस्था आयेगी। सामान्य से मात्र सामान्य ही जाना जाता है। अत: उसमें विशेषों में प्रवृत्ति तो होगी नहीं, उस प्रवृत्ति के लिए पुन: अनुमान प्रयुक्त होगा, किन्तु उससे भी ऊपर सामान्य मात्र की प्रतिपत्ति होगी, न कि विशेष में प्रवृत्ति होगी। अत: पूर्वोक्त दोष तदवस्थ रहता है, इस प्रकार सामान्य और तद्ग्राहक अनुमान इनकी अनवस्था होती जाने से विशेषों में प्रवृत्ति होना अशक्य ही है।

दूसरी बात यह है कि व्यापक को ही गम्य माना जाता है, क्योंकि उसी में अव्यभिचारपना है और यह व्यापक कार्य का कारण तथा भाव का स्वभाव रूप हुआ करता है, इस तरह का जो व्यापक है, वह स्वलक्षण ही हो सकता है, अत: स्वलक्षण को ही गम्य मानना होगा, सामान्य को नहीं, क्योंकि सामान्य अव्यापक रूप है। यदि कहा जाय कि सामान्य भी व्यापक रूप स्वीकार किया जाता है, तब तो स्वलक्षण के समान सामान्य को भी वास्तविक पदार्थ मानना पड़ेगा, अन्यथा उसको जान लेने पर भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा तथा ऐसे अवास्तविक सामान्य को जानने वाला अनुमान अप्रमाण ही कहलायेगा।

किञ्च प्रमेयद्वित्व प्रमाणद्वित्व का ज्ञापक होता है ऐसा आपका आग्रह है तो बताईये कि प्रमेयद्वित्व ज्ञात होकर प्रमाणद्वित्व का ज्ञापक बनता है अथवा बिना ज्ञात हुए ही ज्ञापक बनता है? बिना ज्ञात हुए ही प्रमाणद्वित्व का ज्ञापक बनेगा तो ऐसा अज्ञात प्रमेयद्वित्व सर्वत्र समान होने से सभी मनुष्यों को समान रूप से उसकी प्रतीति आएगी, फिर यह विवाद नहीं हो सकता था कि प्रमाणद्वित्व प्रमेयद्वित्व का कारण है अर्थात् प्रमेय दो प्रकार का होने से प्रमाण भी दो प्रकार का हो जाता है। प्रमेयद्वित्व ज्ञात होकर प्रमाणद्वित्व का ज्ञापक बनता है, ऐसा मानें तो यह बताइए कि प्रमेयद्वित्व का ज्ञान किससे हुआ? प्रत्यक्ष से हुआ अथवा अनुमान से हुआ? प्रत्यक्ष से हुआ तो नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष सामान्य रूप प्रमेय को ग्रहण नहीं करता, यदि करेगा तो वह सविकल्पक कहलायेगा तथा विषयसंकर दोष भी आयेगा अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण यदि सामान्य को ग्रहण करता है तो वह निर्विकल्प नहीं रहता, क्योंकि सामान्य को ग्रहण करने वाला ज्ञान सविकल्प होता है ऐसा आपका आग्रह है तथा जब प्रत्यक्ष ने अनुमान के विषयभूत सामान्य को ग्रहण किया तब विषयसंकर हुआ, फिर तो दो प्रमाण कहाँ रहे? क्योंकि दो प्रकार का प्रमेय होने से प्रमाण को दो प्रकार का माना था। जब दोनों प्रमेयों (सामान्य और विशेष) को एक प्रत्यक्ष प्रमाण ने ग्रहण किया तब अनुमान प्रमाण का कोई विषय रहा नहीं। अत: उसका अभाव ही हो जायगा।

प्रमाण द्वित्व का प्रमेयद्वित्वपना अनुमान से जाना जाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि उस पक्ष में भी विषय संकर आदि वे ही उपर्युक्त दोष आते हैं व आपके यहाँ अनुमान को स्वलक्षण से पराङ्मुख माना है अर्थात् अनुमान स्वलक्षणभूत विशेष को नहीं जानता ऐसा माना है कि अनुमान के विषय में आपके यहाँ कहा है - "भेदों की परावृत्ति से रहित मात्र सामान्य का वेदन करने वाला होने से तथा स्वलक्षण की व्यवस्था नहीं करने से लिङ्ग ज्ञान सामान्य विषय वाला माना जाता है।

अनुमान और प्रत्यक्ष दोनों से प्रमेय का द्वित्वपना जाना जाता है, ऐसा कहेंगे तो वह प्रमेयद्वित्व प्रमाण द्वित्व का ज्ञापक नहीं बन सकता। यदि इस तरह का दो ज्ञानों द्वारा ज्ञात हुआ प्रमेयद्वित्व ज्ञापक हो सकता है तो देवदत्त और यज्ञदत्त द्वारा जाने हुए धूमद्वित्व से उन दो पुरुषों में से किसी एक को अग्नि के द्वित्व की प्रतिपत्ति होना भी स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि विभिन्न दो प्रमाणों द्वारा ज्ञात हुआ प्रमेयद्वित्व ज्ञापक बन सकता है ऐसा कहा है तथा द्वैविध्य जो होता है वह दो पदार्थों में रहने वाला धर्म होता है सो वह द्वैविध्य उन दोनों पदार्थों का ज्ञान होने पर जाना जा सकता है,

अन्यथा नहीं, जैसे कि किसी पुरुष ने सह्याचल और विन्ध्याचल को नहीं जाना है तो उन दोनों पर्वतों में होने वाला द्वैविध्य भी अज्ञात ही रहता है तथा प्रमेयद्वित्व होने से प्रमाण दो प्रकार का है ऐसा सौगत का कहना अन्योन्याश्रय दोष से भरा हुआ है, क्योंकि प्रमाणद्वित्व सिद्ध होने पर उसके द्वारा प्रमेयद्वित्व की सिद्धि होगी और प्रमेयद्वित्व के सिद्ध होने पर प्रमाणद्वित्व सिद्ध होगा। इस तरह परस्पराश्रित रहने से दोनों असिद्ध रह जाते हैं। यदि कहा जाय कि प्रमाणद्वित्व की सिद्धि प्रमेयद्वित्व से न करके अन्य किसी ज्ञान से करेंगे तो प्रमेयद्वित्व हेतु का उपन्यास करना व्यर्थ है। तथा यह भी प्रश्न होता है कि प्रमाणद्वित्व को सिद्ध करने वाला वह जो अन्य कोई ज्ञान है वह एक है अथवा अनेक है ? एक मानेंगे तो विषयसंकर नाम का दूषण होगा। प्रत्यक्ष प्रमाण स्वलक्षणाकार वाला होता है और अनुमान प्रमाण सामान्यकार वाला होता है ऐसा आप बौद्ध का ही सिद्धान्त है। विलक्षण आकार वाले उन दोनों प्रमाणों को एक ही ज्ञान जानेगा तो विषयसंकार स्पष्ट ही दिखाई दे रहा है। प्रमाण द्वित्व का ग्राहक जो कोई अन्य ज्ञान है वह अनेकरूप है (अर्थात् अनेक ज्ञानों द्वारा प्रमाणद्वित्व जाना जाता है) तो पुन: प्रश्न होगा कि वे अनेक ज्ञान भी किसी अपर अनेक ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होते हैं क्या ? तथा वे अपर ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञान से वेद्य होंगें। इस तरह अनवस्था आती है।

बौद्ध- स्वलक्षणाकारता प्रत्यक्ष द्वारा आत्मभूत ही वेदन की जाती है और सामान्याकारता अनुमान द्वारा वेदन की जाती है तथा उन दोनों प्रमाणों की सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा हो जाया करती है अत: प्रमाणद्वित्व एवं प्रमेयद्वित्व दोनों भी प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होते है, किन्तु इस व्यवस्था को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा जानता हुआ भी जो मनुष्य अपने व्यवहार में नहीं लाता है उस पुरुष को प्रसिद्ध प्रमेयद्वित्व हेतु द्वारा प्रमाणाद्वित्व व्यवहार में प्रवर्तित कराया जाता है।

जैन- यह कथन असार है, ज्ञान से सर्वथा अर्थान्तरभृत या अन्र्थान्तरभूत अकेले सामान्य का अथवा विशेष का किसी भी ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है। प्रत्यक्षादि ज्ञान में तो अन्तस्तत्व बहिस्तत्वरूप चेतन और जड़ पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही प्रतिभासित हो रहे हैं। अनुमान प्रमाण द्वारा इसी बात को सिद्ध करते हैं- बाधक के नहीं होने पर जो जिस प्रकार से प्रतिभासित होता है। उसको उसी प्रकार से स्वीकार करना चाहिए, जैसे नील पदार्थ नीलाकार से प्रतिभासित होता है, अत: उसे नीलरूप ही स्वीकार करते हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाण भी सामान्य विशेषात्मक पदार्थ को विषय करते हुए प्रतीत होते हैं। अत: उन्हें वैसा ही स्वीकार करना चाहिए। इस तरह सामान्य और विशेष दोनों दो पृथक पदार्थ हैं और उनको जानने वाले ज्ञान भी दो (प्रत्यक्ष और अनुमान) प्रकार के हैं, ऐसा बौद्धों का कहना खण्डित हो जाता है।[24]

प्रत्यक्ष का लक्षण- कल्पना पोढ़ अर्थात् निर्विकल्पक तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।[25] जा अक्ष इन्द्रियों के प्रतिगत आश्रित हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। शब्द संसर्ग वाली प्रतीति को कल्पना कहते हैं। जो ज्ञान कल्पना से रहित है, वह कल्पना पोढ़ अर्थात् निर्विकल्पक होता है।[26]

अक्षज ज्ञान में शब्द का सम्पर्क नहीं रहता है- अक्षज ज्ञान में शब्द का सम्पर्क नहीं रहता है, इस बात की पुष्टि में बौद्ध निम्नलिखित[27] युक्तियाँ देते हैं -

1. यह निश्चित है कि अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) अर्थ की सामर्थ्य से उचित होता है, क्योंकि वह सन्निहित और अर्थक्रिया (कार्य करने) में समर्थ अर्थ का ग्राहक होता है और अर्थ में ध्वनि तो होती नहीं है, क्योंकि वे घटादि अर्थ के जो कारण है मिट्टी आदिक, उनसे अन्य को तालु आदि

कारण, उनसे उत्पन्न होती है, इसलिए यह अर्थ ही स्वयं पास में जाकर अपने को जानने वाले ज्ञान का उत्थापन करके उसको अपना आकार दे देता है। अत: अर्थग्राही विज्ञान में शब्द का संश्लेष (संसर्ग) युक्त नहीं है।

2. उत्पादक - अर्थ का ज्ञान में उपयोग होने पर भी यदि ज्ञान पहले से उसे नहीं ग्रहण करेगा, किन्तु स्मरण से होने वाले और उस अर्थ को कहने वाले शब्द के प्रयोग की प्रतीक्षा में लगा रहेगा तो इसका अर्थ होगा कि उसने अर्थग्रहण को जलाञ्जलि दे दी। बिना अर्थ को देखे उसमें पहले से जाने हुए उसके अभिधायक शब्द का स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि स्मरण का कोई उपाय नहीं है। वस्तु के देखने से स्मरण की जागृति होती है। जब वस्तु को ही ज्ञान से नहीं देखा तो उसमें पहले से जाने हुए (गृहीत संकेतक) उसके वाचक शब्द का कैसे स्मरण हो सकता है ? जब स्मरण नहीं होगा तब सामने उपस्थित अर्थ में उसका प्रयोग नहीं कर सकेगा, क्योंकि वस्तु का कौन शब्द कहता है, इसका बिना स्मरण हुए शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है और जब उस अर्थ में शब्द का प्रयोग नहीं कर सके तो आपके मत से तो उसको देखा ही नहीं, यही अर्थ आया।

3. यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान को भी विकल्प से कलुषित माना जायगा तो वह भी मनोराज्य (मन का राज्य, वास्तविक नहीं) आदि के विकल्प के समान अन्य विकल्प के होने पर चला जायेगा, लेकिन ऐसी बात तो हैं नहीं। पास में खड़ी या बैठी हुई गाय को देखने का चक्षुर्जन्य ज्ञान घोड़ा आदि के विषयक विचार आने पर भी हट नहीं जाता है, बराबर बना ही रहता है।

4. जिस पुरुष के सकल विकल्प हट गए हैं, ऐसे उस विकल्पातीत पुरुष को भी परिस्फुट सन्निहित अर्थ के विषय का दर्शन (प्रत्यक्ष) बराबर होता रहता है।

बौद्धों के कल्पनापोढ़ प्रत्यक्ष के विषय में अकलङ्क का मत- जैनाचार्य अकलङ्कदेव के अनुसार बौद्धों का प्रत्यक्ष का कल्पनापोढ़ लक्षण नहीं बनता, क्योंकि कल्पनापोढ़ अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष यदि सर्वथा कल्पना पोढ़ है तो प्रमाण ज्ञान है, प्रत्यक्ष कल्पना पोढ़ है इत्यादि कल्पनायें भी उसमें नहीं कही जा सकेगी। अर्थात् उसके अस्तित्व आदि की भी कल्पना नहीं की जा सकेगी, उसका ''अस्ति'' इस प्रकार से भी सद्भाव सिद्ध नहीं होगा। यदि उसमें ''अस्ति'' ''कल्पनापोढ़'' इत्यादि कल्पनाओं का सद्भाव माना जाता है तो वह सर्वथा कल्पना पोढ़ नहीं कहलायेगा, यदि कथंचित कल्पना पोढ़ माना जाता है। तब भी स्ववचन व्याघात निश्चित है।

बौद्ध- निर्विकल्पक को हम सर्वथा कल्पनापोढ़ नहीं कहते। कल्पनापोढ़ यह विशेषण परमत के निराकरण के लिए है अर्थात् परमत में नाम जाति आदि भेदों के उपचार को कल्पना कहा है, उस कल्पना से रहित प्रत्यक्ष होता है, न कि स्वरूपभूत विकल्प से भी रहित।[28] कहा भी है -''पाँच विज्ञान धातु सवितर्क और सविचार हैं, वे निरुपण और अनुस्मरण रूप विकल्पों से रहित हैं।[29]

जैन- विषय के प्रथम ज्ञान को वितर्क कहते हैं, उसी का बार-बार चिन्तन विचार कहलाता है उसी में नाम जाति आदि की दृष्टि से शब्द योजना को निरुपण कहते हैं पूर्वानुभव के अनुसार स्मरण को अनुस्मरण कहते हैं। ये सभी धर्म क्षणिक निरन्वयविनाशी इन्द्रियविषय और ज्ञानों में नहीं बन सकते, क्योंकि दोनों की एक साथ उत्पत्ति होती है और क्षणिक हैं। गाय के एक साथ उत्पन्न होने वाले सींगों की तरह इनमें परस्पर कार्यकारणभावमूलक ग्राह्य ग्राहक भाव भी नहीं बन

सकता। यदि पदार्थ और ज्ञान को क्रमवर्ती मानते हैं तो ज्ञानकाल में पदार्थ का तथा पदार्थकाल में ज्ञान का अभाव होने से विषयविषयिभाव नहीं बन सकता। मिथ्या सन्तान की अपेक्षा भी इनमें उक्त धर्मों का समावेश करना उचित नहीं है। अत: समस्त विकल्पों की असम्भवता होने से "यह निर्विकल्पक है, यह नहीं है आदि कोई भी विकल्प नहीं हो सकेगा। इस तरह समस्त विकल्पातीत ज्ञान का अभाव ही प्राप्त होता है। ज्ञान में अनुस्मरण आदि मानने पर तो उस ज्ञान को या ज्ञानाकार आत्मा को अनेकक्षणस्थायी मानना होगा, क्योंकि स्मरण स्वयं अनुभूत वस्तु का कालान्तर में होता है, अन्य के द्वारा अनुभूत का अन्य को नहीं।[30]

कल्पनापोढ़ की विस्तृत मीमांसा- आचार्य समन्तभद्र का कहना है कि जो प्रत्यक्ष अकल्पक है, वह दूसरों को तत्त्व के बतलाने-दिखलाने में किसी तरह भी समर्थ नहीं होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष असिद्ध है, क्योंकि उसका ज्ञापन अशक्य है। प्रत्यक्ष की सिद्धि के बिना उसका लक्षणार्थ नहीं बनता है।[31] प्रत्यक्ष प्रमाण से निर्विकल्पक इसलिए ज्ञापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह परप्रत्यक्ष के द्वारा असंवेद्य है, अनुमान प्रमाण के द्वारा भी उसका ज्ञापन नहीं बनता, क्योंकि उस प्रत्यक्ष के साथ अविनाभावी लिङ्ग का ज्ञान असंभव है- दूसरे लोग जिन्हें लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हुआ, उन्हें अनुमान के द्वारा कैसे बतलाया जा सकता है ? नहीं बतलाया जा सकता और जो स्वयं प्रतिपन्न है- निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा उसके अविनाभावी लिङ्ग को जानता है - उसके निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का ज्ञापन कराने के लिए अनुमान निरर्थक है। समारोपादि की-भ्रमोत्पत्ति और अनुमान के द्वारा उसके व्यवच्छेद की बात कहकर उसे सार्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि साध्य-साधन के सम्बन्ध से जो स्वयं अभिज्ञ है उसके तो समारोप का होना ही असंभव है और जो अभिज्ञ नहीं है उसके साध्य-साधन सम्बन्ध का ग्रहण ही सम्भव नहीं है और इसलिए गृहीत की विस्मृति जैसी कोई बात बन नहीं सकती। इस तरह अकल्पक प्रत्यक्ष का कोई ज्ञापक न होने से उसकी व्यवस्था नहीं बनती, तब उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? और जब उसकी ही सिद्धि नहीं तब उसके द्वारा निर्दिष्ट होने वाले निरंश वस्तुतत्त्व की सिद्धि कैसे बन सकती है ? नहीं बन सकती। अत: दोनों ही असिद्ध ठहरते हैं।[32]

शब्द से असंपृक्त अर्थ से जन्य होने के कारण ज्ञान को बिना शब्द के होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा कहेंगे तो ज्ञान जड़ अर्थ से उत्पन्न है, अत: वह भी जड़ हो जायगा।[33] दूसरी बात यह है कि जब अर्थ और अर्थ का दर्शन ही निर्विकल्पक है तब अर्थ का दर्शन तो अभिलाप सामान्य का स्मरण करा दे ओर अर्थ नहीं कराए, यह बौद्धों का कदाग्रह है।

सविकल्पक बोध मनोराज्य आदि विकल्प के समान नहीं है, क्योंकि यह (सविकल्पक बोध) चक्षुरादि सामग्री से उत्पन्न होता है। अत: कैसे वह मनोराज्य आदि विकल्प के समान विकल्पान्तर के आ जाने पर चला जायगा। मानस प्रत्यक्ष ही विकल्पान्तर के आने पर हट जाता है, इन्द्रियज विकल्प तो कारण की वजह से बलात् होता है "विकल्पातीत अवस्था में यह इन्द्रिय विकल्प प्रकट नहीं होगा"- यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियज विकल्प प्रमाता की इच्छामात्र से नष्ट नहीं किया जा सकता, केवल मानस विकल्प ही उसकी इच्छा से हट सकता है।[34]

क्या निर्विकल्पदर्शन सविकल्पज्ञान का हेतु है ! - बौद्धों ने निर्विकल्प रूप प्रत्यक्ष को सविकल्प रूप अध्यवसाय का हेतु माना है। जैनाचार्यों के अनुसार यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस प्रत्यक्ष में अभिलाप-शब्द के संसर्ग का अभाव है। जिस प्रकार से वर्ण नीला, पीला, आदि

में शब्द के संसर्ग का अभाव है, उसी प्रकार से प्रत्यक्ष में भी अभाव है क्योंकि वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अभिलाप की कल्पना से रहित है और वह अनभिलापात्मक है, यह बात उस प्रत्यक्ष में सामर्थ्य से सिद्ध है । यदि पुन: उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष में शब्द के संसर्ग का अभाव होने पर भी उसे आप अध्यवसाय का हेतुकल्पित करते हैं तब तो उस प्रत्यक्ष को ही व्यवसायात्मक क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हैं ?

यदि आप यों कहें कि जो प्रत्यक्ष है, वह स्वलक्षणंभूत एवं स्वयं अभिलाप से शून्य है तो भी अध्यवसाय का हेतु है और पुन: रूपादिक अध्यवसाय के प्रति हेतु नहीं है, यह कथन भी आपका समीचीन नहीं है ।

बौद्ध- निर्विकल्प प्रत्यक्ष से विकल्पात्मक अध्यवसाय की उत्पत्ति होती है, जैसे कि प्रदीप आदि से कज्जल आदि । अत: विजातीय कारण से भी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, अर्थात् दीपक भास्वर है, उससे विजातीय कज्जल उत्पन्न होता है तथैव स्वयं अविकल्पात्मक प्रत्यक्ष से नाम जात्यादि संश्रयात्मक विकल्प की उत्पत्ति हो जाती है ।

जैन- यदि ऐसी बात है तब तो उस प्रकार के विकल्पात्मक स्वलक्षण अर्थ से प्रत्यक्ष की भी उत्पत्ति हो जावे ।

बौद्ध- जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा इन पाँच कल्पनाओं से रहित स्वलक्षणभूत अर्थ से जात्यादि कल्पनात्मक प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

जैन- यदि ऐसी बात है, तब तो उन कल्पनाओं से रहित प्रत्यक्ष से जात्यादि कल्पनात्मक विकल्प कैसे हो सकता है ? इस प्रकार से प्रश्न तो समान ही होगा।

बौद्ध- विकल्प तो जात्यादि विषयरूप है, अत: यह कोई दोष नहीं है अर्थात् जात्यादि विषयरूप होने से ही विकल्प विकल्पात्मक है, न कि प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने से, इसलिए कोई दोष नहीं है ।

जैन- ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष के समान उस विकल्प में जात्यादि को विषय करने का विरोध है, क्योंकि जिस प्रकार से निर्विकल्प प्रत्यक्ष में शब्द के संसर्ग की योग्यता नहीं है, उसी प्रकार से उसके समनन्तरभावी विकल्प में भी नहीं है, क्योंकि उस विकल्प में भी शब्द और अभिलाप्यमान जात्यादि के संसर्ग का अभाव है । क्योंकि सविकल्प अपने उपादान का सजातीय है अर्थात् निर्विकल्प रूप उपादान से उत्पन्न हुआ विकल्प भी शब्द के संसर्ग से रहित ही होगा, क्योंकि वह अपने उपादान का सजातीय ही होगा ।[35]

बौद्धमत में निर्विकल्पदर्शन को व्यवसायात्मक न मानने से सकल प्रमाण प्रमेय का लोप हो जाता है- अव्यवसायात्मक निर्विकल्प दर्शन के द्वारा जाने गये पदार्थ भी नहीं जाने गए के सदृश ही हैं, अतएव सकल प्रमाणों का अभाव ही हो जायगा और प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव हो जाने से तो अनुमान की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी और उसी प्रकार से संपूर्ण प्रमेय-प्रमाण के द्वारा जानने योग्य पदार्थ का भी अभाव हो जायगा, क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय की व्यवस्था नहीं बन सकती है और इसीलिए यह जगत् अवश्य ही संपूर्ण प्रमाण और प्रमेय से रहित हो जायगा ।[36] न्यायविनिश्चय ग्रन्थ में कहा है-

"शब्द और उसके अंश- स्वर, व्यंजन के नाम से रहित होने से अवश्य ही यह जगत् प्रमाण और प्रमेय से शून्य हो जायगा[37] अर्थात् अभिलापविवेक्ता का अर्थ "अभिलाप से रहित होने से ऐसा करना चाहिए ।"

कल्पना के स्वरूप के विषय में प्रश्न - आचार्य विद्यानन्द प्रत्यक्ष का लक्षण कल्पनाओं से रहित और भ्रमभिन्न करने पर प्रश्न करते हैं कि बौद्धों के यहाँ कल्पना का क्या स्वरूप है ? क्या अस्पष्ट स्वरूप प्रतीति करना कल्पना है अथवा ज्ञान द्वारा अपना और अर्थ का निश्चय करना कल्पना है ? या शब्द योजना से सहित होकर ज्ञप्ति होना कल्पना है अथवा शब्दसंसर्ग योग्य प्रतिभास होना भी वह कल्पना मानी गयी है ?[38]

कल्पना के लक्षणों में आदि में कहा गया कल्पना से रहित यदि प्रत्यक्ष प्रमाण माना जायगा, तब तो बौद्धों के ऊपर सिद्ध साधन दोष लगता है, क्योंकि अस्पष्टरूप कल्पना से रहित विशद प्रत्यक्ष को वे सिद्ध कर रहे हैं। उस प्रत्यक्ष प्रमाण के स्पष्ट होने पर ही अवैशद्य से व्यवच्छेद की सिद्धि होती है। अविशद प्रतिभास वाली परोक्ष प्रतीति की यदि व्यावृत्ति न की जायगी तो प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुमान, आगम आदि से भेद किसके द्वारा समझा जायगा ?[39] अत: अविशद प्रतीति स्वरूप कल्पना से रहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पक को तो जैन भी प्रथम से मान रहे हैं, उस सिद्ध को ही साधने से क्या लाभ ? दूसरी कल्पना के अनुसार स्व और अर्थ के निर्णय को यदि कल्पना मानोगे तब तो यह कल्पना का लक्षण (निर्विकल्प करना) असम्भव दोष वाला ही है।[40]

जब सभी अर्थ बौद्धों के अनुसार अपना निश्चय कराने में अपने वाचक हो रहे विशिष्ट शब्दों की अपेक्षा करते हैं तो वह वाचक शब्द भी तो एक विशेष अर्थ है। उस शब्द रूप अर्थ का निश्चय करने के लिए भी अपने वाचक अन्य शब्दों की अपेक्षा की जायगी। इसी ढंग से उस शब्द के भी वाचक शब्दस्वरूप पदार्थों का निश्चय करना यदि अपने वाचक अन्य शब्दों की अपेक्षा करता होगा तब तो नियम से अनवस्था दोष क्यों नहीं होगा ? इस प्रकार बहुत दूर भी चलकर अपने वाचक शब्दों की अपेक्षा नहीं रखने वाले शब्दों का निर्णय माना जायगा, यानी कुछ दूर जाकर वाचक शब्दों का निर्णय उसके अभिधायक शब्दों के बिना भी हो जायगा ऐसा मानोगे तो हम कहते हैं कि इस प्रकार पहले से ही अर्थ का निश्चयवाचक शब्दों के बिना क्यों न हो जाय ?[41] जैसे कोई वाचक विशेष शब्द अपनी शक्ति से ही अपने में और अर्थ में निश्चय करता यदि देखा गया है वैसे ही उस शब्द के समान ही अपनी सामर्थ्य से हेतु आदिक अर्थ भी वाचक शब्दों के बिना उस प्रकार का निर्णय करा देंगे। शब्द सुनकर उत्पन्न हुआ अर्थों का निर्णय भले ही बाधा रहित होता हुआ शब्द की अपेक्षा रखने वाला मान लिया जाय, किन्तु ज्ञापक हेतु से उत्पन्न हुए निर्णय (अनुमान) और इन्द्रियों से उत्पन्न हुए निर्णय (प्रत्यक्ष) को तो उस शब्द की अपेक्षा रखने वाला नहीं कहा जा सकता है।[42]

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में आचार्य प्रभाचन्द्र के विचार- आचार्य प्रभाचन्द्र निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में विचार करते हुए प्रमेयकमल मार्तण्ड में कहते हैं कि सर्वप्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि निर्विकल्प दर्शन प्रमाण है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती? एक साथ अर्थात् निर्विकल्प के साथ ही विकल्प पैदा होता है, अत: दोनों में एकत्व दिखाई देता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों भिन्न- भिन्न मालूम पड़े तो एक का दूसरे में आरोप होकर एकत्व होता है, ऐसा माना जाय, किन्तु निर्विकल्प प्रतीत नहीं होता है। बौद्ध यह कहें कि निर्विकल्प के बाद ही अतिशीघ्र विकल्प उत्पन्न होता है, अत: वह पहला प्रतीति में नहीं आता मात्र एकत्व का प्रतिभास होता है तो यह भी ठीक नहीं। इस प्रकार तो गधे के बोलने में भी लघुवृत्ति शीघ्रता होती है, फिर उसमें एकत्व का प्रतिभास क्यों नहीं होगा ? अर्थात् गधा शब्द करता है, उसमें अव्यक्त शब्द रहते हैं और देरी तक चिल्लाता है, वे शब्द क्रम से सुनाई भी नहीं देते, अत: उन शब्दों में एकत्व मानना

होगा, किन्तु एकत्व किसी ने माना नहीं। सदृशता कौन सी है, विषय एक होना रूप या ज्ञानरूप ? विषय एक नहीं हो सकता, क्योंकि निर्विकल्प का विषय स्वलक्षण और विकल्प विषय सामान्य है अर्थात् दोनों का विषय एक नहीं। ज्ञानपने की अपेक्षा एकता मानें तो सारे ही नील पीतादि एकरूप मानो। अभिभव पक्ष भी नहीं बनता है। निर्विकल्प से विकल्प का अभिभव होता है या विकल्प से निर्विकल्प का ? दोनों के द्वारा भी अभिभव हो नहीं सकता। बौद्धों से पूछा जाता है कि निर्विकल्प और विकल्प में एकता है- यह निर्णय कौन करता है ? निर्विकल्प निर्णय रहित है, वह क्या निर्णय करेगा ? विकल्प भी निर्विकल्प के विषय को नहीं जानने से निर्णय कर नहीं सकता। बिना जाने कैसे निर्णय हो ? इसलिए दोनों में एकता है, इस बात को कोई भी जानने वाला न होने से उसका अभाव ही है, अर्थात् निर्विकल्प का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि वह प्रतीति में नहीं आता है, विकल्प की प्रतीति आती है, अतः प्रमाण है। बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्प के द्वारा विकल्प उत्पन्न होता है किन्तु यह बात घटित नहीं होती, क्योंकि जो स्वतः विकल्परहित है वह विकल्प को कैसे उत्पन्न करेगा ? बलात् ध्यान भी लिया जाय तो बौद्धों को सभी विषयों में विकल्प मानने पड़ेंगे, किन्तु उन्होंने तो केवल नीलादिविषय में ही निर्विकल्प को विकल्पोत्पादक माना है, क्षणादि विषय में नहीं।

बौद्ध- जहाँ पर विकल्प वासना का प्रबोधक है, वहीं पर निर्विकल्प दर्शन विकल्प को उत्पन्न करता है।

जैन- विकल्प वासना तो नीलादि की तरह क्षणक्षयादि में विद्यमान है।

बौद्ध- क्षणक्षयादि विषय में निर्विकल्प का अभ्यास नहीं, प्रकरण (प्रस्ताव) पाटव अर्थित्व ये भी नहीं। अतः उसमें कैसे विकल्प उत्पन्न करें।

जैन- इस पक्ष में विचार करने पर कोई सार नहीं निकलता है। अभ्यास नीलादि में तो है और क्षणादि में नहीं, ऐसा सिद्ध नहीं होता। प्रकरण नील और क्षणादि दोनों का चल रहा है। पाटव नीलादि में क्यों है और क्षण में क्यों नहीं, यह आप सिद्ध नहीं कर पाते हैं।

बौद्ध- दर्शन को हमने अभ्यास आदि के होने अथवा न होने के कारण विकल्पोत्पादक नहीं माना। विकल्प तो शब्द और अर्थ की वासना (संस्कार) के कारण उत्पन्न होता है न कि निर्विकल्प से।

जैन- इस कथन से बौद्ध का शास्त्र गलत ठहरता है। वहाँ लिखा है -"यत्रैव जनयेदेना तत्रैवास्य प्रमाणता"- जिस विषय में निर्विकल्प के द्वारा विकल्प बुद्धि की जाती है, उसी विषय में उस निर्विकल्प को प्रमाण माना है, सब जगह नहीं। इस प्रकार बौद्ध निर्विकल्प को विकल्पोत्पादक भी नहीं कह सकते और न विकल्प का अनुत्पादक ही। आचार्य प्रभाचन्द्र ने विकल्प में प्रमाणता क्यों नहीं ? इस विषय में ग्यारह प्रश्न उठाकर अच्छी तरह सिद्ध किया है कि सब प्रकार से विकल्प ही प्रमाण है, निर्विकल्प नहीं। विकल्प का स्वरूप यही है कि प्रतिबन्धक कर्म का अभाव अथवा क्षयोपशम होना। तात्पर्य यह कि आत्मा में ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो जाने से सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है और वह पदार्थ का निश्चय कराता है, ऐसा मान लेना चाहिए। निर्विकल्प के द्वारा न लौकिक कार्य की सिद्धि है, न पारमार्थिक कार्य की सिद्धि है, क्योंकि वह पदार्थ का निर्णय, दिग्दर्शन या प्रतीति नहीं कराता है।[43]

आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के पूर्वपक्ष की स्थापना[44] कर उत्तरपक्ष में बौद्धों से प्रश्न किया है कि यह कल्पना कौन है ? अभिलाप वाले का प्रतिभास, निश्चय,

जात्युल्लेख, अस्पष्टाकारता, अर्थसन्निधिनिरपेक्षता, अनक्षप्रभवता तथा धर्मान्तर का आरोप विकल्प उठाकर उन्होंने निर्विकल्प का निरसन करते हुए सविकल्पक के प्रामाण्य का विस्तृत रूप से व्यवस्थापन किया है।[45]

अभ्रान्तत्व का निराकरण- बौद्धों के प्रत्यक्ष के लक्षण का अभ्रान्तत्व विशेषण भी घटित नहीं होता है, क्योंकि उनके अभिप्राय से तो स्थिर और स्थूल अर्थ को जानने वाला संवेदन गलत है, परन्तु उन्हें यह जानना चाहिए कि क्षणिक और सूक्ष्म अर्थ का ग्राही ज्ञान स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। यदि बौद्ध अभ्रान्तत्व का अर्थ यह करे कि जो यथावस्थित अर्थ को ग्रहण करता हो, वह अभ्रान्त है, तो ऐसा अभ्रान्तत्व तो संभव नहीं होता है, क्योंकि यद्यपि परमाणुओं का वास्तविक अस्तित्व है, तथापि वे अपनी अलग-अलग सूक्ष्मावस्था में और क्षणिकरूप से कभी नहीं दिखाई देते। यदि व्यवहारिक प्रयोजन रूप से अभ्रान्तत्व का यह अर्थ अभीष्ट हो कि " अपने कार्य करने में समर्थ यह जो घटादिक स्वलक्षण है, उसमें जो भ्रान्त नहीं होता, वह अभ्रान्त है तो फिर "कल्पनापोढ़" पद लक्षण में से निकाल देना चाहिए, क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर अभ्रान्तत्व का कल्पना पोढ़ के साथ मेल नहीं खायेगा। व्यवहार में आने वाले घटादि-स्वलक्षण के निर्णय (निश्चय) से ही ज्ञान का होना कहा जाता है, नहीं तो व्यवहार नहीं हो सकेगा, दृष्ट पदार्थ भी अदृष्ट से कुछ विशेषता नहीं रखेगा, अर्थात् अदृष्ट पदार्थ का कोई निर्णय न होने से उसमें व्यवहार की प्रवृति नहीं हो सकती है, वैसे ही दृष्ट में भी निर्णत्ति न होने से व्यवहार नहीं बन सकेगा। अत: दोनों समान हो जाँयेगे। अत: प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक है, यह सिद्धान्त ही ठीक है।[46]

प्रत्यक्ष के भेद- प्रत्यक्ष स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस और योगिप्रत्यक्ष के भेद से चार प्रकार का होता है।[47]

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष - समग्र चित्त और चेत के स्वरूप का संवेदन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है। चित्त अर्थात् वस्तुमात्र को ग्रहण करने वाले ज्ञान, चित्त में होने वाले चैत अर्थात् वस्तु के विशेष रूप को ग्रहण करने वाले सुख दु:ख तथा उपेक्षात्मक ज्ञान इन दोनों के स्वरूप का संवेदन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है।[48]

इन्द्रिय प्रत्यक्ष- चक्षुरादि पाँच इन्द्रियो से उत्पन्न होने वाले रूपादि पाँच बाह्य-विषयों को विषय करने वाले ज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।[49]

मानस प्रत्यक्ष- जिस विषय क्षण से इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी विषय का द्वितीय क्षण जिसमें विषय रूप से सहकारी कारण है तथा स्वयं इन्द्रिय प्रत्यक्ष जिसमें उपादान कारण होता है उस इन्द्रियप्रत्यक्षानन्तरभावी (अनुव्यवसाय रूप) ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। स्वविषय-इन्द्रियज्ञान के विषयभूत घटादि विषय के अनन्तर द्वितीयक्षणरूप सहकारी की सहायता से इन्द्रियज्ञान रूप समनन्तर प्रत्यय- उपादान कारण जिस मनोविज्ञान को उत्पन्न करते हैं, वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है, इन्द्रियज्ञानके विषयभूत अर्थ का प्रथम क्षण तो इन्द्रियज्ञान में ही कारण होता है, अत: मानस ज्ञान की उत्पत्ति में उसी विषय का द्वितीय क्षण ही सहकारी हो सकता है। इन्द्रिय ज्ञानरूप समनन्तर प्रत्यय से उत्पन्न होता है इस विशेषण से योगिज्ञान में मानस प्रत्यक्षत्व का प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि योगिज्ञान में इन्द्रियप्रत्यक्ष उपादान कारण नहीं होता (वह तो भावनाप्रकर्ष से उत्पन्न होता है) समनन्तर प्रत्यय शब्द का प्रयोग अपनी ही सन्तान में होने वाले उपादानभूत पूर्व क्षण में रूढ़ि से होता है, अत: हम लोगों के ज्ञान का साक्षात्कार करने वाले योगिज्ञान में हमारे

ज्ञानभिन्न सन्तानवर्ती होने के कारण समनन्तर प्रत्यय - उपादान कारण नहीं होते[50], हमारे ज्ञान तो योगिज्ञान में विषय होते हैं अत: वे योगिज्ञान के प्रति आलम्बन प्रत्यय ही हो सकते हैं ।

योगिप्रत्यक्ष- भूतार्थ वास्तविक क्षणिक निरात्मक आदि अर्थों की प्रकृष्ट भावना से योगिप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। भूतार्थ -प्रमाणसिद्ध पदार्थों की भावना -चित्त में बार बार विचार जब प्रकृष्ट होता है तब उससे योगिज्ञान की समुत्पति होती है ।[51]

शंङ्का - यदि क्षणिक परमाणुरूप अर्थ ही तात्विक है, तब घट, पट, चटाई, गाड़ी, लाठी आदि स्थूल अर्थों का प्रतिभास कैसे होता है ?

समाधान- वस्तुत: घट पटादि स्थूल पदार्थ हैं ही नहीं ? यह तो हमारी अनादि कालीन मिथ्यावासना का ही विचित्र परिपाक हो रहा है, जो हम लोगों को किसी वास्तविक आलम्बन के बिना ही नाना प्रकार से स्थूल पदार्थों का प्रतिभास होता है। जिस प्रकार स्वच्छ आकाश में केश का प्रतिभास होता है अथवा स्वप्न में नाना प्रकार के अर्थों का विचित्र प्रतिभास होता है उसी प्रकार ये घट पटादि स्थूल प्रतिभास निरालम्बन निर्विषय तथा मिथ्या हैं । कहा भी है-[52]

"बाल अर्थात् मिथ्या वासना से कलुषित अज्ञानी लोग जिस-जिस स्थिर, स्थूल आदि रूप मे पदार्थो की कल्पना करते हैं, वस्तुत: अर्थ उस रूप से किसी भी तरह बाह्य में अपनी सत्ता नहीं रखता । सत्य तो यह है कि हमारी मिथ्यावासना के कारण चित्त ही उन-उन अर्थो के आकार मे प्रतिभासित होता है तथा बुद्धि के द्वारा अनुभाव्य- अनुभव करने योग्य कोई ग्राह्य पदार्थ नहीं है और न बुद्धि को ग्रहण करने वाला अन्य कोई ग्राहक अनुभव ही है । अत: यह बुद्धि ग्राहक भाव से रहित होकर स्वयं ही प्रकाशमान होती है ।[53]

प्रत्यक्ष के द्वारा परमाणुरूप स्वलक्षण का अनुभव- प्रत्यक्ष के द्वारा क्षणिक परमाणुरूप स्वलक्षण का अनुभव कैसे होता है ? इस विषय में बौद्धों का कहना है कि प्रत्यक्ष वस्तु के सन्निहित- सामने उपस्थित तथा वर्तमान रूप को ही जानता है । वह वस्तु के अतीत तथा भविष्यत् रूप को नहीं जान सकता, क्योंकि ये स्वरूप न तो सन्निहित ही हैं और न वर्तमान ही । पदार्थ के शुद्ध वर्तमान रूप का प्रतिभास ही उसकी क्षणिकता का प्रतिभास है ।

शंका- यदि प्रत्यक्ष से क्षणिकता का ज्ञान हो जाता है तब जिस प्रकार नील प्रत्यक्ष से नीलरूपता का निर्णय करने वाला नीलमिदम् यह विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है, उसी तरह प्रत्यक्ष के बाद ही उसकी क्षणिकता का निश्चय करने वाला. "क्षणिकमिदम्" यह विकल्प क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान- निर्विकल्पदर्शन के द्वारा जिस समय पदार्थ के क्षणिकत्व का अनुभव होता है

ठीक उसी समय उस पदार्थ की पूर्वदेश सम्बन्धिता, पूर्वकाल सम्बन्धिता तथा पूर्वदशा का स्मरण होता है और उससे यह मालूम होने लगता है कि "यह वही पदार्थ है, जो उस देश में था, यह वही पदार्थ है जो पहले भी विद्यमान था, वह वही पदार्थ है जो उस अवस्था में था, इत्यादि। यही स्थिरता का स्मरण "क्षणिकमिदम्" इस विकल्पज्ञान को नहीं होने देता । इसीलिए बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्पदर्शन के द्वारा तो क्षणिक और अक्षणिक उभयसाधारण वस्तुमात्र का ग्रहण होता है, अतएव बाद में किसी विभ्रम निमित्त से वस्तु में अक्षणिकत्व का आरोप हो जाय, तब भी निर्विकल्प को अक्षणिक अंश में प्रमाण नहीं माना जा सकता, बल्कि विपरीत अध्यवसाय से युक्त होने के कारण वह अक्षणिक अंश में अप्रमाण ही है । क्षणिक अंश में भी वह [illegible] नहीं है, क्योंकि उसमें "क्षणिकमिदम्" इस प्रकार के अनुकूल विकल्प को उत्पन्न नहीं [illegible] वह

तो केवल नीलांश में "यह नील है" इस प्रकार के अनुकूल विकल्प को उत्पन्न करने के कारण प्रमाण है। इसीलिए ठीक ही कहा है कि अभ्रान्त निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष है।[54]

प्रत्यक्ष के भेदों में अव्यवसायात्मकता का आरोप- बौद्धाभिमत चारों प्रत्यक्ष अपने विषय का दर्शन नहीं करते, क्योंकि वे अव्यवसायात्मक हैं, जो ज्ञान अव्यवसायात्मक होता है, वह अपने विषय का दर्शन नहीं करता, जैसे मार्ग में जाते हुए तृणादि का स्पर्श होने पर होने वाला तृणादि का अनध्यवसाय (अनिश्चयात्मक) ज्ञान (मिथ्याज्ञान) और बौद्धों द्वारा स्वीकृत उक्त चारों प्रत्यक्ष अव्यवसायात्मक हैं। यह व्यापकानुपलब्धि हेतु जनित सम्यक् अनुमान है। यहाँ व्यवसायात्मकता व्यापक है और स्वविषयदर्शन व्याप्त है।

व्यापक- व्यवसायात्मकता के अभाव में उसके व्याप्य स्वविषयदर्शन का सद्भाव किसी भी ज्ञान में प्रतीत नहीं होता। अत: व्यापक (व्यवसायात्मकता) की अनुपलब्धि से उक्त चारों प्रत्यक्षों में व्याप्य (स्वविषयदर्शन) का अभाव सिद्ध होता है।[55]

बौद्ध- व्यवसायात्मकता के साथ स्वविषयदर्शन की व्याप्ति (अविनाभाव) सिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वविषयदर्शन की व्याप्ति व्यवसायजनकता के साथ है। जो दर्शन व्यवसाय जनक है, वही स्वविषय का उपदर्शक है। नील, धवल, आदि स्वलक्षण वस्तु में दर्शन व्यवसाय का जनक है, अत: वह उन (नीलादि) का दर्शन करता है, किन्तु क्षणिकता, स्वर्गप्रापकता शक्ति आदि में वह व्यवसाय को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वह उनका दर्शन नहीं करता। मार्ग में जाते हुए होने वाला तृणादि का अनध्यवसाय ज्ञान भी इसी (तृणादि में व्यवसाय को उत्पन्न न करने के) कारण अपने (तृणादि) विषय का दर्शन नहीं करता, क्योंकि उसमें मिथ्याज्ञान का व्यवहार प्रसिद्ध है, अन्यथा उसे अनध्वसाय नहीं कहा जा सकता है।

जैन- यह कथन विचार करने पर युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि व्यवसाय को दर्शनजन्य मानने पर यह प्रश्न उठता है कि वह (व्यवसाय) दर्शन के विषय का उपदर्शक है या नहीं। यदि उपदर्शक है तो वही उन नील, धवल आदि में प्रवर्तक एवं प्रापक होगा, क्योंकि वह संवादी है, जैसे सम्यक् ज्ञान। व्यवसाय का जनक दर्शन न प्रवर्तक सम्भव है और न प्रापक जैसे- सन्निकर्ष आदि। यदि व्यवसाय दर्शन के विषय का उपदर्शक नहीं है तो दर्शन भी व्यवसाय को उत्पन्न करने से ही अपने विषय का उपदर्शक कैसे हो सकता? अन्यथा संशय एवं विपर्यय का जनक दर्शन भी अपने विषय का उपदर्शक होगा।

बौद्ध- विकल्प (व्यवसाय) सामान्य का निश्चय करता है, जो दर्शन का विषय है, अत: दर्शन विकल्प का जनक माना जाता है, जो दर्शन का विषय है, अत: दर्शन विकल्प का जनक माना जाता है और इसलिए वह (दर्शन) अपने विषय (नील, धवल आदि) का उपदर्शक है।

जैन- यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि जिस सामान्य को दर्शन का विषय कहा गया है, वह अन्यापोह रूप होने से अवस्तु है। उसे (अवस्तु को) विषय करने वाले विकल्प (व्यवसाय) के जनक दर्शन को वस्तु(नीलादि) का उपदर्शक मानना स्पष्टत: विरुद्ध है।[56]

प्रथम विकल्प का स्वसंवेदन प्रमाण नहीं हो सकता है- दर्शन के बाद जो विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से स्वीकार करने पर यह प्रश्न होता है कि उस विकल्पज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो कैसे? यदि कहा जाय कि वह स्वरूप का दर्शन करने से ही प्रमाण है तो स्वर्ग प्रापकता शक्ति आदि में भी उसे प्रमाण माना जाना चाहिए। यदि कहें कि विकल्पज्ञान के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का स्वसंवेदनाकार ही प्रमाण

है, क्योंकि वह उसी में विकल्प को उत्पन्न करता है, अन्य में नहीं तो उस विकल्प के स्वसंवेदन का भी अन्य विकल्प को उत्पन्न करने से स्वरूपदर्शन होना चाहिए और इस तरह विकल्प की उत्पत्ति तथा स्वरूपदर्शन की ओर कल्पना होने पर अनवस्था दोष आता है अत: प्रथम विकल्प का स्वसंवदेन प्रमाण नहीं हो सकता। यदि विकल्पज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है तो उसके प्रमाण न होने से उससे व्यवसाय सिद्ध नहीं हो सकता और उसके सिद्ध न होने पर "व्यवसाय को उत्पन्न करने से दर्शन अपने विषय का दर्शन कराता है" यह कथन असिद्ध हो जाता है। उसके असिद्ध हो जाने पर वह न प्रवर्तक हो सकता है और न अर्थप्रापक तथा अर्थप्रापक न होने पर वह अविसंवादी भी नहीं हो सकता। अविसंवादी न होने पर उक्त चारों स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस और योगिप्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते।[57]

योगिप्रत्यक्ष में प्रत्यक्षता नहीं बनती है – आचार्य पूज्यपाद का कहना है कि योगिज्ञान में प्रत्यक्षता नहीं बनती है, क्योंकि वह इन्द्रियों के निमित्त से नहीं होता है। जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक इन्द्रिय से होती है, वह प्रत्यक्ष है, ऐसा बौद्धमत में स्वीकार किया गया है। दूसरी बात यह है कि योगी के जो ज्ञान होता है वह प्रत्येक पदार्थ को क्रम से जानता है या अनेक अर्थो को युगपत् जानता है ? यदि प्रत्येक पदार्थ को क्रम से जानता है तो इस योगी से सर्वज्ञता का अभाव होता है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त है और यदि अनेक अर्थो को युगपत् जानता है तो जो यह प्रतिज्ञा है कि "जिस प्रकार एक विज्ञान दो अर्थो को नहीं जानता है, उसी प्रकार दो विज्ञान एक अर्थ को नहीं जानते हैं", वह नहीं रहती।[58] अथवा सब पदार्थ क्षणिक है, यह प्रतिज्ञा नहीं रहती, क्योंकि बौद्धमत में दो क्षण तक रहने वाला एक विज्ञान स्वीकृत किया गया है, अत: अनेक पदार्थों का ग्रहण क्रम से होता है।

शङ्का - अनेक पदार्थो का ग्रहण एक साथ हो जायगा।

समाधान - जो ज्ञान की उत्पत्ति का समय है, उस समय तो वह स्वरूप लाभ ही करता है, क्योंकि कोई भी पदार्थ स्वरूप लाभ करने के पश्चात् ही अपने काय के प्रति व्यापार करता है।

शङ्का- विज्ञान दीपक के समान है, अत: उसमें दोनों बातें एक साथ बन जायेगी।

समाधान - नहीं, क्योंकि उसके अनेक क्षण तक रहने पर ही प्रकाश्यभूत पदार्थो का प्रकाशन स्वीकार किया गया है। यदि ज्ञान को विकल्पातीत माना जाता है, तो शून्यता की प्राप्ति होती है।[59]

योगिप्रत्यक्ष ही कल्पना जाल से रहित मानने पर अव्याप्ति दोष – योगियों का प्रत्यक्ष ही कल्पनाओं के जाल से रहित है, ऐसा बौद्ध कहेंगे। तब तो सभी प्रकार से इस प्रत्यक्ष के लक्षण का दोष किससे निवारण किया जा सकता है ? अर्थात् प्रत्यक्ष का निर्विकल्पक लक्षण योगियों के प्रत्यक्ष में तो घट गया और इन्द्रियप्रत्यक्षों का मानस प्रत्यक्षों में नहीं गया, अत: अव्याप्त है।[60]

बौद्ध- लोकव्यवहार में की गयी कल्पनाओं से रहित जो प्रत्यक्षहोगा, वही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।

जैन-उस प्रत्यक्ष में वे शास्त्र सम्बन्धी कल्पनायें विद्यमान हैं। ऐसी दशा में एकान्त रूप से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हुआ, विकल्पसहित हो गया[61] और उस शास्त्रीय कल्पना के नहीं मानने पर बुद्ध के धर्म का उपदेश देना नहीं बन सकता है, जैसे कि झोंपड़ी, आदि के द्वारा धर्मोपदेश नहीं होता है। उसी प्रकार बुद्ध के द्वारा जो धर्मोपदेश होना आपने माना है, वह सर्वथा निर्विकल्पक बुद्ध ज्ञान से नहीं सम्भवता है।[62]

मानस प्रत्यक्ष का निराकरण- बौद्धों ने पाँच इन्द्रिय और मानस ज्ञान में एक क्षण पूर्व के ज्ञान को मन कहा है। ऐसे मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जब मन अतीत होने से असत् हो गया तब वह ज्ञान का कारण कैसे हो सकता है ? यदि पूर्व के नाश और उत्तर के उत्पादकों को एक साथ मानकर कार्यकारण भाव माना जाता है तो भिन्न सन्तानवर्ती पूर्वोत्तर क्षणों में भी कार्यकारण भाव मानना चाहिए। यदि एक सन्तानवर्ती क्षणों में किसी शक्ति या योग्यता का अनुगम माना जाता है तो क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा नष्ट होती है।[63]

बौद्धों के प्रत्यक्ष का लक्षण आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान में घटित नहीं होता है- बौद्धों के अनुसार जो ज्ञान इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है और जो इन्द्रियों के व्यापार से रहित है, वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष और परोक्ष का यह अविसंवादी लक्षण है। जैनों के अनुसार यह लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त लक्षण के मानने पर आप्त के प्रत्यक्षज्ञान का अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि आप्त के इन्द्रियपूर्वक पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। कदाचित् आप्त के भी इन्द्रियपूर्वक ही ज्ञान माना जाता है तो उसके सर्वज्ञता नहीं रहती।

शङ्का- आप्त के मानस प्रत्यक्ष होता है।

समाधान- मन के प्रयत्न से ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर सर्वज्ञत्व का अभाव ही होता है।

शङ्का- आगम से सब पदार्थों का ज्ञान हो जायगा।

समाधान- नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक प्राप्त होती है।[64]

फुटनोट

1. न्यायबिन्दु टीका पृ 10
2. वही पृ 12
3. सिद्धसेनदिवाकर : न्यायावतार (सिद्धर्षि टीका) पृ 24
4. आचार्यविद्यानन्द :अष्टसहस्री पृ 212-213
5. न्यायदीपिका पृ 18
6. प्रमाणसमुच्चय का 3 पृ21
7. प्रमाणसमुच्चय 1/10
8. तत्त्वसंग्रह का 1344
9.
10. वही पृ. 92
11. वही पृ 56
12. अआचार्य विद्यानन्द - तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक (तृ खण्ड) पृ. 57
13. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (तृ खण्ड) पृ 57-59
14. वही पृ. 60
15. वही पृ 61
16.
17. वही पृ. 62
18. षड्दर्शनसमुच्चय 9 पृ 55
19. षड्दर्शनसमुच्चय गुणरत्नटीका पृ 57
20. सिद्धसेन दिवाकर : न्यायावतार (सिद्धर्षि टीका) पृ 54
21. न्यायावतार सिद्धर्षि टीका पृ 35-37
22. प्रभाचन्द्र: प्रमेयकमल मार्तण्ड पृ 480-483
23. वही पृ 483(उद्धरण)
24. वही पृ. 484-486
25. न्यायबिन्दु 1/4
26. न्यायबिन्दु 1/5
27. सिद्धसेन दिवाकर : न्यायवतार (सिद्धर्षि टीका) पृ 43-44
28. अकलङ्कदेव : तत्त्वार्थवार्त्तिक 1/12/11
29. अभिधर्मकोश 1/32

30. अकलङ्कदेव : तत्वार्थवार्त्तिक 1/12/11
31. युकत्यनुशासन-33
32. युक्तयनुशासन टीका-33
33. न्यायावतार (सिद्धर्षि टीका) पृ 44
34 वही पृ 45-46
35 अष्टसहस्री(बम्बई संस्करण) पृ. 118-119
36 वही पृ. 120
37 न्यायविनिश्चय) अप्टसहस्री पृ 121
38 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (खण्ड-3) पृ 179
39 वही पृ 181
40 वही पृ 182
41 वही पृ 190
42 वही पृ 191
43 प्रभाचन्द्र : प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ 87-110
44 प्रमेयकमलमार्तण्ड (आर्यिका जिनमती कृत निर्विकल्प प्रत्यक्ष के खण्डन का सारांश) पृ 111-113 न्याय कुमुदचन्द्र प्र भाग 46-47
45 वही 47-51
46 सिद्धसेन दिवाकर : न्यायावतार (सिद्धर्षि टीका) पृ. 47
47. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 47
48 षडदर्शनसमुच्चय (गुणरत्न टीका) पृ. 63, न्यायबिन्दु ।
49. न्यायबिन्दुटीका पृ. 55
50. न्यायबिन्दुटीका पृ 56-58
51. न्यायबिन्दुटीका पृ 65
52 षडदर्शनसमुच्चय (गुणरत्नटीका) पृ.63-64
53 प्रमाणवार्त्तिक 2/327
54 षड्दर्शनसमुच्चय (गुणरत्नटीका) पृ 64-65
55. विद्यानन्द : प्रमाण परीक्षा पृ 6
56 वही पृ 6
57. वही पृ 7
58 वही पृ 73, सर्वार्थसिद्धि 1/12 पृ 73,
59 पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि 1/12 पृ. 73
60 तत्वार्थश्लोकवार्तिक तृ. खंड पृ. 192
61 वही पृ. 192
62 वही पृ 193
63 अकलङ्कदेव :तत्त्वार्थवार्त्तिक 1/12/11
64. सर्वार्थसिद्धि 1/12 पृ 72

❑❑❑

एकादश परिच्छेद

अनुमान तथा अन्य प्रमाण- एक समीक्षा

अनुमान का स्वरूप- पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन तीन रूप वाले लिङ्ग से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है ।[1] तात्पर्य यह कि पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व तथा विपक्षव्यवावृत्ति इन तीन स्वभाव वाले लिङ्ग के यथार्थज्ञान से परोक्ष साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं । लिंग जब अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है, तभी साध्य का ज्ञान करा सकता है । अनु अर्थात् लिङ्ग के पश्चात् परोक्षवस्तु का भान अर्थात् ज्ञान अनुमान कहलाता है ।[2]

अनुमान के भेद- अनुमान दो प्रकार का होता है- 1- स्वार्थ और 2- परार्थ त्रिरूप लिङ्ग को देखकर स्वयं लिंगि अर्थात् साध्य का ज्ञान करना स्वार्थानुमान है । जब पर को साध्य का ज्ञान कराने के लिए त्रिरूप हेतु का कथन किया जाता है तब उस हेतु से पर को होने वाला साध्य का ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है ।[3]

बौद्धमत में अनुमान की भ्रान्तता- बौद्ध परम्परा के अनुमार मामान्य का प्रतिभासी होने से अनुमान भ्रान्त है और सामान्य का बाह्य स्वलक्षण मेकोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सामान्य बाह्य स्वलक्षण से भिन्न है या अभिन्न ? ऐसा प्रश्न करने पर यदि कहा जाय कि वह भिन्न है तो दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं रहा और यदि अभिन्न है तो वह बाह्य स्वलक्षण ही हो गया, सामान्य नहीं रहा । इस तरह सामान्य का जो अनुमान का विषय है- बाह्य स्वलक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। दोनों में परस्पर में कोई सम्बन्ध न रहने पर भी केवल सामान्यरूपता मे अनुमान के द्वारा बाह्य स्वलक्षण का अध्यवसाय होता है और यही भ्रान्ति है, क्योंकि भ्रान्ति का लक्षण है कि जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा ग्रहण होना । यहाँ बाह्य स्वलक्षण सामान्यरूप नहीं है, लेकिन अनुमान से उसमें वही रूप नजर आता है । अतएव अनुमान भ्रान्त ही है । प्रश्न उठता है कि ऐसे भ्रान्त अनुमान को बौद्धों ने प्रमाण क्यों माना ? इसका उत्तर वे यह देते हैं कि अनुमान को प्रामाण्य एक प्रणाली (परम्परा) द्वारा बाह्य स्वलक्षण के बल मे आता है । वह प्रणाली यह है -बिना अर्थ के तादात्म्य और तदुत्पत्ति रूप सम्बन्ध से प्रतिबद्ध लिङ्ग का सद्भाव नहीं हो सकता, बिना लिङ्ग के सद्भाव के तद्विषयक ज्ञान नहीं हो सकता है, बिना लिङ्ग के ज्ञान के पहले निश्चय किए हुए सम्बन्ध व्याप्ति का स्मरण नहीं हो सकता और बिना उसका स्मरण हुए अनुमान नहीं हो सकता । इस प्रणाली से अर्थ के पकड़े जाने से भ्रान्त भी अनुमान को बौद्ध प्रमाण मानते हैं । उनके यहाँ कहा है-''जो जैसा नहीं है उसमें वैसा ग्रहण करने का नाम भ्रान्ति है, पर यह भ्रान्ति भी परम्परा सम्बन्ध से प्रमाण हो जाती है ।[4]

अनुमान के अभ्रान्तपने की सिद्धि- बौद्धों के उपर्युक्त मन्तव्य की ममीक्षा करते हुए सिद्धर्षि सूरि ने कहा है-'' अनुमान अभ्रान्त है, प्रमाण होने से, इस पृथ्वी पर जो- जो प्रमाण है, वह अभ्रान्त है, जैसे प्रत्यक्ष । अनुमान को आप प्रमाण स्वीकार करते हैं अत: प्रमाण होने से अभ्रान्त है ।'' इस अनुमान में अर्थवादी वैभाषिक और सौत्रान्तिक साध्यविकलता नहीं दिखला सकते हैं, क्योंकि

स्वयं उन्होंने ही प्रत्यक्ष को अभ्रान्त माना है । न्यायबिन्दु में कहा है- "प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो कल्पनारहित तथा निभ्रान्ति होता है ।[5]"

शून्यवादी समस्त पदार्थ का अपलापी है, अत: वह प्रमाण प्रमेयरूप व्यवहार के भी अयोग्य है। अत: उसको लक्ष्य करके अपने साधन (प्रमाणत्वात्) के दोषों का परिहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसकी प्रतिज्ञा (सर्व शून्य) स्ववचनबाधित है।[6]

अनुमान के अङ्ग- न्यायदर्शन के अनुसार प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण उपनय और निगमन ये पाँच अनुमान के अङ्ग अनुमेय ज्ञान में आवश्यक हैं। जैन परम्परा में प्रारम्भ में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण के प्रयोग का संकेत प्राप्त होता है ।[7] आचार्य गृद्धपिच्छरचित तत्त्वार्थ सूत्र के दशम् अध्याय के कुछ सूत्रों [8] द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है । अकलङ्कदेव ने पक्ष और हेतु इन दो ही अवयवों का समर्थन किया है । उनके अनुसार दृष्टान्त सर्वत्र आवश्यक नहीं है, अन्यथा सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं इस अनुमान में दृष्टान्त का अभाव होने से क्षणिकत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा ।[9] आचार्य माणिक्यनन्दि का कहना है कि दृष्टान्त, उपनय, निगमन इन तीन अवयवों का स्वीकार शास्त्र (वीतराग कथा) में ही है, वाद (विजिगीषुकथा) में नहीं, क्योंकि वाद करने वाले व्युत्पन्न होते हैं और व्युत्पन्नों को दृष्टान्तादिक की आवश्यकता ही नहीं ।[10]

बौद्ध- व्युत्पन्न पुरुष के लिए अनुमान के प्रयोग काल में केवल हेतु का ही प्रयोग आवश्यक मानते हैं पक्ष का प्रयोग आवश्यक नहीं मानते हैं। वे हेतु का प्रयोग करने के बाद उसका समर्थन भी करते हैं। जैन आचार्यों ने कहा है कि जब समर्थन के उपन्यास (प्रतिपादन) से ही हेतु सामर्थ्य-सिद्ध है तब फिर हेतु का प्रयोग करना अनर्थक है । यदि आप कहें कि हेतु का प्रयोग नहीं करने पर समर्थन किसका होगा ? तो हम कहेंगे कि पक्ष का प्रयोग नहीं करने पर हेतु कहाँ रहेगा ? इस विषय में प्रश्नोतर समान है । इसलिए कार्य, स्वभाव और अनुपलम्भ के भेद से तथा पक्षधर्मत्वादि के भेद से तीन प्रकार हेतु कहकर उसका समर्थन करने वाले बौद्धों को पक्ष का प्रयोग भी स्वीकार करना चाहिए ।[11]

त्रिरूप लिङ्ग - बौद्धों ने जिस त्रिरूप वाले लिङ्ग को साध्य का गमक कहा है वह लिङ्ग तीन प्रकार का है -1-अनुपलब्धि हेतु-2- स्वभाव हेतु तथा 3- कार्य हेतु ।

अनुपलब्धि हेतु[12]- अनुपलब्धि चार प्रकार की है-1- विरुद्धोपलब्धि 2- विरुद्ध कार्योपलब्धि 3- कारणानुपलब्धि 4- स्वभावानुपलब्धि ।

1- **विरुद्धोपलब्धि**- जैसे यहाँ शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि शीत स्पर्श की विरोधी अग्नि विद्यमान है ।

2- **विरुद्धकार्योपलब्धि**- जैसे- यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि शीतस्पर्श के विरोधी अग्नि का कार्य धूम उपलब्ध हो रहा है ।

3- **कारणनुपलब्धि**- जैसे यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि धूम का कारण अग्नि नहीं पायी जाती है ।

4- **स्वभावानुपलब्धि**- जैसे यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि उपलब्धिलक्षण प्राप्त होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है अथवा दृश्य होकर भी वह उपलब्ध नहीं हो रहा है । उपलब्धिक्षण प्राप्त का अर्थ है - धूम की उपलब्धि की यावत् सामग्री का समवधान होना ।

जैनाचार्यो के अनुसार अनुपलब्धि किसी क्षेत्र विशेष में भले ही अभाव सिद्ध कर सकती हो, वह सर्वत्र अभाव सिद्ध नहीं कर सकती । उदाहरण के रूप में विरुद्धोपलब्धि को ले लीजिए।

अग्नि जिस देश में है वहाँ उसका विरोधी शीतस्पर्श नहीं रहता है, अग्नि जहाँ नहीं है, वहाँ तो शीतस्पर्श रह सकता है। इस तरह विरुद्धोपलब्धि से शीतस्पर्श का अत्यन्त अभाव नहीं हुआ। विरुद्धोपलब्धि के खण्डन के विरुद्ध कार्योपलब्धि का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि वह भी प्रतिषेध्य के विरोधी (कार्य) के संनिधापन (संस्थापन) पूर्वक अभाव का साधक होता है, सर्वथा नहीं। कारणानुपलब्धि जिस देश में कारण की अनुपलब्धि है उसी में आशंकित कार्य के अभाव को सिद्ध कर सकती है। सब जगह नहीं। स्वभावनुपलब्धि या दृश्यानुपलब्धि भी जिस ज्ञान से पदार्थ का उपलम्भ (साक्षात्कार) होता है, उसी ज्ञान से संसर्ग रखती है।[13]

दृश्यानुपलब्धि ही निषेध साधन है- बौद्ध दृश्यानुपलब्धि को ही मानता है। उसके एकान्त का निराकरण करने के लिए श्रीमद् महाकलङ्कदेव ने कहा कि अन्य के चैतन्य आदि अदृश्य हैं, उनका अभाव लौकिक जन भी मानते हैं, उसके श्वास आदि को देखकर कह देते हैं कि इसमें से जीव निकल गया है, अन्यथा उसको जलाने वाले को पापी, मनुष्य घाती कहना पड़ेगा, परन्तु ऐसा तो है नहीं, इसलिए अदृश्यानुपलब्धि भी सिद्ध है।[14]

त्रिरूपलिङ्ग की मान्यता का निराकरण- अकलङ्कदेव ने लघीयस्त्रय ग्रन्थ में पूर्वचर और उत्तरचर आदि हेतुओं को सिद्धकर बौद्धसम्मत अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्य से भिन्न हेतुओं की सत्ता भी बतलाई है। अत: बौद्ध सम्मत हेतु के तीन भेद तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। अकलङ्कदेव ने कहा है- कृत्तिकोदय हेतु से भविष्य में होने वाला रोहिणी नक्षत्र जाना जाता है आगे कल सूर्य उदित होगा अथवा सूर्य का ग्रहण होगा, इस प्रकार ज्ञान होता है।[15] यहाँ कृत्तिकोदय हेतु रोहिणी के उदय का कार्य अथवा स्वभाव नहीं है। केवल अविनाभाव के बल से अपने उत्तरचर का ज्ञान कराता ही है, इस प्रकार से सभी लोग मानते हैं। उसी प्रकार कल प्रात: आदित्य सूर्य उदित होगा, क्योंकि आज सूर्य का उदय हो रहा है, यह जाना जाता है अथवा कल ग्रहण राहु स्पर्श होगा, क्योंकि ज्योतिर्विद के गणित के नियम से जाना जाता है, ऐसा ज्ञान होता है। इन सभी में व्यभिचार दोष नहीं है। अविनाभाव कार्य कारण के समान पूर्वचर और उत्तरचर में भी अविरुद्ध है।[16]

हेतु के तीन रूप- हेतु के पक्षधर्मत्व अर्थात् पक्ष में रहना, सपक्ष में विद्यमान होना तथा विपक्ष से व्यावृत्ति ये तीन रूप समझना चाहिए।[17] साध्यधर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहते हैं, पक्ष के धर्म को पक्षधर्म कहते हैं, अर्थात् हेतु का पक्ष में रहना। पक्ष शब्द यद्यपि साध्य धर्म से युक्त धर्मी में रुढ़ है, फिर भी यहाँ पक्ष शब्द से केवल धर्मी का ही ग्रहण करना चाहिए। यहाँ अवयवभूत शुद्धधर्मी में समुदायवाची पक्ष का उपचार करके पक्ष शब्द से शुद्ध धर्मी का कथन किया गया है। यदि साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी ही मुख्यरूप से पक्ष शब्द के द्वारा विवक्षित किया जाय तब अनुमान ही व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि पक्ष के ग्रहण करते समय धर्मी की तरह धर्म साध्य भी सिद्ध ही हो जायगा। अत: पक्षधर्मत्व का अर्थ है- पक्ष में अर्थात् धर्मी में हेतु का सद्भाव होना। हेतु की पक्षधर्मता का ज्ञान कहीं तो प्रत्यक्ष से और कहीं अनुमान से होता है। प्रत्यक्ष से ही किसी प्रदेश में जहाँ अग्निसिद्ध करना इष्ट होता है, धूम का दर्शन होकर पक्षधर्मता का ग्रहण हो जाता है। अनित्यत्व सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त कृतकत्व हेतु का शब्दरूप पक्ष में रहना अनुमान के द्वारा जाना जाता है। यह हेतु का पहला रूप है तथा पक्ष के समान धर्मवाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं। उस सपक्ष अर्थात् दृष्टान्तधर्मा में हेतु की सामान्यरूप से मौजूदगी को सपक्षसत्व कहते हैं। यह हेतु का द्वितीय रूप है। इसका दूसरा नाम अन्वय है तथा पक्ष से विपरीत धर्म वाले धर्मी को जिसमें

साध्य और साधन दोनों का ही सद्भाव नहीं है, विपक्ष कहते हैं। इस विपक्ष में हेतु का सर्वथा नहीं रहना विपक्षनास्तिता कहलाती है। यह हेतु का तीसरा रूप है। इसको व्यतिरेक भी कहते हैं।[18]

यदि पक्ष धर्मत्व हेतु का स्वरूप न माना जायगा तो रसोई घर आदि में देखे गए धूम से पर्वत में भी अग्नि का अनुमान होना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं है। इसलिए नियतधर्मी में ही साध्य के अनुमान की व्यवस्था के लिए पक्ष धर्मत्व को हेतु का स्वरूप अवश्य मानना चाहिए। इसी तरह यदि सपक्षसत्व हेतु का स्वरूप न हो, तब जिस आदमी ने साध्य और साधन के अविनाभाव रूप सम्बन्ध को ग्रहण नहीं किया है, उसे पहली बार ही धुआँ के देखते ही अग्नि का अनुमान हो जाना चाहिए। पर जिस पुरुष ने व्याप्ति को नहीं जाना है, उसे धूम अग्नि का अनुमान नहीं कराता। इसलिए सपक्षसत्व को भी हेतु का स्वरूप मानना चाहिए। यदि विपक्षासत्त्व को हेतु का स्वरूप न माना जाय तब धूमहेतु को साध्य से शून्य अर्थात् विपक्षभूत जलादि में भी अग्नि का अनुमान करा देना चाहिए। पर धूम कभी भी जलाशय आदि विपक्ष में अग्नि का अनुमापक नहीं होता। अत: विपक्षासत्त्व भी हेतु का स्वरूप है अथवा शब्द अनित्य है, क्योंकि कौआ काला है। इस हेतु में पक्षधर्मता नहीं है। शब्द अनित्य है, क्योंकि श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है। यहाँ सपक्ष और विपक्ष का अभाव ही है अत: सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व ये दो रूप नहीं हैं। शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे कि पट। वज्र लोहे के द्वारा काटा जाता है, क्योंकि वह पार्थिव है, जैसे कि वृक्ष। मेंढ़क के लोम होते हैं, क्योंकि वह हरिण की तरह उछल उछलकर चलता है। हरिण के लोम नहीं होते हैं, क्योंकि वह मण्डूक की तरह उछल उछलकर चलता है। इत्यादि हेतु अनित्यत्व आदि साध्य के अभाव में भी रहते हैं, अत: इनमें विपक्षासत्त्व नहीं है। अत: पक्षधर्मत्व आदि तीनों रूप समुदित अर्थात् एक साथ मिलकर ही हेतु के स्वरूप होते हैं।

जिसमें ये तीनों रूप एक साथ पाए जाते हैं। वही हेतु अपने साध्य का गमक होता है, वही सद्धेतु है, अन्य नहीं।[19]

त्रैरुप्य हेतु का निराकरण - जैनाचार्य अनन्तकीर्ति का कहना है कि असाधारण स्वरूप ही लक्षण होता है। निश्चित ही उपर्युक्त तीनों रूप असाधारण नहीं है। वह श्याम है, क्योंकि उसका पुत्र है, इत्यादि हेत्वाभास में भी ये तीन रूप देखे जाते हैं। विवाद की कोटि में आए हुए उसके पुत्र में और अन्यत्र श्याम में उसका पुत्र होना रूप हेतु पाया जाता है और कहीं अश्याम में उसके पुत्रत्व का अभाव है।

बौद्ध- यहाँ पर विपक्ष मे व्यावृत्ति होने रूप नियम का अभाव है, अत: यह हेतु के लक्षण नहीं है।

जैन- ऐसा नहीं कहना, क्योंकि वही अविनाभाव उस हेतु का लक्षण हो जावे, पुन: अन्य अन्तर्गडु (व्यर्थ के अन्तार्विकल्पों) से क्या प्रयोजन है ? उसी को कहा भी है -

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् "

अर्थात् जहाँ अन्यथानुपपत्ति अन्य प्रकार से न होना यह अविनाभाव विद्यमान है, वहाँ इन तीनों के क्या प्रयोजन है।[20]

त्रैरूप्य हेतु का खण्डन करते हुए आचार्य सिद्धर्षि का कथन है- जलचन्द्र से नभश्चन्द्र का, वृत्तिका के उदय से शकट के उदय का, बौर आए हुए एक आम के पेड़ से शेष बौर आए हुए सम्पूर्ण आम के पेड़ों का. चन्द्र के उदय से कुमुदसमूह के विकास का, वृक्ष से छाया का इत्यादि अन्य-अन्य साधन से अन्य-अन्य साध्य का पक्षधर्मत्व न रहने पर भी हम अनुमान करते हैं।

प्रश्न- कालादिक धर्मी इन सब अनुमानों में है ही और उनमें लिङ्ग की पक्षधर्मता देखी जाती है।

उत्तर- यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह अति प्रसङ्ग दोष आ जायगा, क्योंकि यहाँ भी लोक आदि के धर्मी होने की कल्पना की जा सकती है। तथा अनित्य शब्द: श्रावणत्वात् - शब्द अनित्य है, कान से सुना जाने से, यह कान से सुना जाना लिङ्ग अन्वय से विकल है, फिर भी यह सम्यक् है ऐसा समर्थन किया जा सकता है इसलिए अन्वय भी हेतु का लक्षण नहीं बन सकता। व्यतिरेक हेतु गमक है, क्योंकि साध्यार्थान्यथानुपपन्नत्व -साध्य के बिना नहीं होना यहाँ विद्यमान है।[21]

त्रैरुप्य द्वारा बुद्ध के असर्वज्ञपने की सिद्धि - बुद्ध (पक्ष) असर्वज्ञ है (साध्य) वक्ता होने से पुरुष होने से आदि (हेतु) जैसे कि गली में चलने वाला असर्वज्ञ है (दृष्टान्त)। इस प्रकार के अनुमान में हेतु का पक्षवृत्तित्व रूप है अर्थात् 1-वक्तापना हेतु बुद्ध में विद्यमान है। बुद्ध में पुरुषपना भी है और समक्ष में भी हेतु विद्यमान है। 2- निश्चित रूप से असर्वज्ञ हो रहे वर्तमान काल के उपदेशकों में वक्तापन, पुरुषपन विद्यमान है तथा निश्चित सध्याभाव वाले सर्वज्ञ में वक्तापन पुरुषपन विद्यमान नहीं है। 3- सर्वज्ञ जीव परमात्मा तो वक्ता अथवा पुरुष होते हुए नहीं देखे गए हैं। इस प्रकार वक्तापन और पुरुषपन हेतु में त्रैरुप्य वर्त रहा है।[22] अत: त्रैरुप्य लक्षण ठीक नहीं है। कहा भी है- ''बुद्ध को असर्वज्ञपना साधने पर वक्तापन पुरुषपन आदि हेतुओं में वे तीनों रूप देखे जा रहे हैं किन्तु साध्य के न रहने पर हेतु का नहीं होना रूप अन्यथानुपपत्ति के बिना वक्तृत्व आदि में हेतुपना नहीं है। जिस कारण कि हेतु के त्रैरुप्य लक्षण का वक्तृत्व आदि में व्यभिचार है। अत: त्रैरुप्य हेतु का असाधारण धर्म न होता हुआ लक्षण नहीं बन सकता है।[23]

त्रैरुप्य हेतु द्वारा असिद्धादि दोषों के परिहार पर विचार- बौद्धों अनुसार पक्षधर्मत्व असिद्ध हेत्वाभास के व्यच्छेद के लिए, सपक्षसत्त्व विरुद्ध हेत्वभास के निराकरण के लिए और विपक्षाद् व्यावृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास के निषेध के लिए कहे गए हैं।[24]

आचार्य लघु अनन्तवीर्य का कहना है कि अविनाभाव नियम से असिद्धादि तीनों दोषों का परिहार हो जाता है। अविनाभाव नाम अन्यथानुपपत्ति का है। साध्य के बिना साधन के नहीं होने को अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। यह अन्यथानुपपत्ति असिद्ध हेतु में सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्यथानुपपनन्तव असिद्ध हेतु के सिद्ध नहीं होता है, ऐसा कहा गया है। विरुद्ध हेतु के भी अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु का लक्षण सम्भव नहीं है, क्योंकि साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ निश्चित अविनाभावी हेतु में यथोक्त साध्यविनाभावी निश्चित लक्षण के पाये जाने का विरोध है। व्यभिचारी हेतु में भी अन्यथानुपपत्तिरूप प्रकृत लक्षण के रहने का अवकाश नहीं है, क्योंकि साध्यविनाभावी हेतु का व्यभिचारी होने में विरोध नहीं है, अर्थात् व्यभिचारी हेतु में साध्याविनाभावित्व संभव नहीं है। इसलिए अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का श्रेष्ठ लक्षण है, त्रिरुपा नहीं, क्योंकि उस त्रिरुपता के होने पर भी यथोक्त अन्यथानुपपत्ति रूप लक्षण के अभाव में हेतु के गमकपना नहीं देखा जाता है।[25]

बौद्धाभिमत हेतु के लक्षण में अव्याप्ति दोष- बौद्धों के त्रैरुप्य लक्षण को अभिनव धर्मभूषणयति असङ्गत ठहराते हैं, क्योंकि पक्षधर्मत्व के बिना भी कृत्तिकोदयादि हेतु शकटोदयादि साध्य के ज्ञापक देखे जाते हैं। वह इस प्रकार से-''शकट नक्षत्र का एक मुहूर्त के बाद उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है। इस अनुमान में शकट नक्षत्र धर्मी (पक्ष) है, एक मुहर्त के बाद उदय साध्य है और कृत्तिका नक्षत्र का उदय हेतु है। किन्तु कृत्तिका नक्षत्र

का उदय रूप हेतु पक्षभूत शकट नक्षत्र में नहीं रहता, इसलिए वह पक्षधर्म नहीं है अर्थात् ''कृतिका नक्षत्र का उदय रूप हेतु पक्षधर्म से रहित है । फिर भी वह अन्यथानुपपत्ति के होने से शकट के उदयरूप साध्य का ज्ञान कराता ही है ।'' अत: बौद्धों के द्वारा माना गया हेतु का त्रैरुप्य लक्षण अव्याप्ति दोष सहित है ।[26]

प्रत्यभिज्ञान विचार- बौद्धों के अनुसार प्रत्यभिज्ञान एक प्रमाण नहीं है, क्योंकि तत् वह इस प्रकार का ज्ञान स्मरण है और इदं- यह इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष है। इस प्रकार से अतीत एवं वर्तमान विशेषमात्र को विषय करने वाले स्मरण और प्रत्यक्ष प्रत्यय विशेष से भिन्न कोई एकत्व परामर्शी (जोड़रूप) ज्ञान अनुभव में नहीं आता है, जिससे कि प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण नित्यत्व को सिद्ध करने वाला हो सके।

जैन- इस प्रकार कहने वाले बौद्ध प्रतीति का अपलाप करने वाले हैं, क्योंकि पूर्व पर्याय का स्मरण एवं उत्तरपर्याय के उदर्शन से उत्पन्न हुआ एकत्व परामर्शी जोड़रूप ज्ञान पाया जाता है, जो कि प्रत्यभिज्ञान रूप से संवेद्यमान है और प्रतीति में आ रहा है, क्योंकि अकेला स्मरण ही पूर्वोत्तर रूप दोनों पर्यायों के एकत्व का संकलन करने में समर्थ नहीं है और न दर्शन ही समर्थ है ।

बौद्ध- उन दोनों के संस्कार से उत्पन्न हुआ विकल्पज्ञान उसे एकत्व को संकलित कर लेता है ।

जैन- यदि ऐसा कहो तो वही ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान नाम से सिद्ध है और अकस्मात् ही होता है, इसलिए निर्विषयक है, ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, अन्यथा प्रत्यभिज्ञान रूप बुद्धि के असंचर दोष का प्रसङ्ग आ जायेगा अर्थात् यह प्रत्यभिज्ञान रूप बुद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकेगी । अविच्छिन्न पूर्वोत्तर पर्याय में व्यापी प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत नित्यपदार्थ का अभाव होने पर प्रत्यभिज्ञान रूप बुद्धि का संचरण नहीं हो सकता है[27], क्योंकि क्षणिक विषय को तो निरन्वय विनाश हो जाता है, पुन: बुद्ध्यन्तर की उत्पत्ति ही असम्भव है अर्थात क्षणिकमत में पूर्व में उत्पन्न हुआ प्रत्येक ज्ञान निरन्वय नष्ट हो जाता है अतएव स्मरण और दर्शन में जोड़ ज्ञानरूप प्रत्यभिज्ञान नामक बुद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकती ।

बौद्ध- तदेवेदनम् इस प्रकार की एकत्व की वासना के निमित्त मे ही बुद्धि का संचरण (व्यापार) होता है, किन्तु कथंचित् नित्य होने मे नहीं होता है ।

जैन- नहीं । कथंचित नित्यत्व के अभाव में स्मरण दर्शन रूप दो ज्ञान में वास्य वासक भाव ही असम्भव है, पुन: वासना कैसे हो सकेगी ? क्योंकि उनमें कार्य-कारणभाव का विरोध है अर्थात् दोनों ज्ञान तो वास्य है और वासना वासक है, ऐसा वास्य वासक भाव नहीं है, क्योंकि कथंचित् नित्य का अभाव मानने पर कार्यकारणभाव भी असम्भव है ।[28]

स्मृति प्रमाण विचार- बौद्ध स्मृति को प्रमाण नहीं मानते हैं । उनका कहना है कि स्मृति को प्रमाण स्वीकार करने पर निश्चित अर्थमात्र की स्मृति भी प्रमाण हो जायगी ।

जैन- नहीं इस विषय में प्रश्न हो सकते हैं कि वह निश्चितार्थस्मृति प्रमिति विशेष को उत्पन्न करने वाली है या नहीं ? प्रथम पक्ष में तो कहीं पर किसी प्रमाण से निश्चित अग्नि के अनुमान के समान निर्णीतार्थमात्र की स्मृति अधिगत अर्थ को ही जानने वाली होने से प्रमाण नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रमितिविशेष का उसमें अभाव है, अर्थात् प्रत्यक्ष से निश्चित अग्नि में उस सम्बन्धी जो अनुमान स्मृति है वह विशेषज्ञान को उत्पन्न करने वाली न होने से प्रमाणरूप नहीं है ।

द्वितीय पक्ष में अनुस्मृति को प्रमाण मानना इष्ट ही है, क्योंकि वह ज्ञान विशेष को उत्पन्न करने वाली ही है, इस प्रकृत निर्णय को प्रमाण मानने पर तो कोई भी अति प्रसङ्ग दोष नहीं आता है, क्योंकि इष्ट भी यदि अनिश्चित है तो उसे ही यह स्मृति निश्चत करती है। "दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्" ऐसा सूत्र पाया जाता है। प्रत्यक्ष से निश्चित अग्नि में ज्वालादिविशेष से अग्नि के अनुमान से स्मृति के होने पर तो विशेषज्ञान का अभाव होने से वह अप्रमाण है किन्तु आप ज्ञान विशेष के होने पर भी सम्पूर्णतया उस स्मृति को अप्रमाण मानोगे तब तो अनुमान ही उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि इस तरह से तो आपके यहाँ अविनाभाव की स्मृति भी अप्रमाण ही रहेगी एवं उस स्मृति को भी अनुमान रूप से प्रमाण स्वीकार कर लेने पर परापर सम्बन्ध की स्मृतियों को अनुमानरूप कल्पित करने से अनवस्था आ जायगी, क्योंकि अविनाभाव की स्मृति के बिना अनुमान उत्पन्न हो ही नहीं सकता है बहुत दूर जाकर भी कहीं न कहीं तो आप अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति को यदि अनुमान नहीं कहेंगे तब तो वह स्मृति एक स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध ही हो जायेगी। इसलिए स्मृति का उपयोग विशेष होने से वह प्रमाण है, क्योंकि अनुमान ज्ञान के समान वह भी अविसंवादिनी है और जिस प्रकार से यह स्मृति प्रमाण "प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं" इस प्रकार की वैशेषिक और बौद्ध की- प्रमाण संख्या का विघटन कर देती है तथैव सांख्याभिमत प्रमाण तीन ही हैं, नैयायिक मान्य प्रमाण चार ही हैं, प्राभाकर मान्य पाँच ही हैं, जैमिनीय के द्वारा इष्ट प्रमाण छह ही हैं, उन सबके अवधारण-निश्चय को यह स्मृति प्रमाण समाप्त कर देती है, क्योंकि यह स्मृति प्रमाण आगम , उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन किसी भी प्रमाणों में अन्तर्भूत नहीं होता है। यदि इन प्रमाणों में बलात् स्मृति को अन्तर्भूत करोगे तब तो अनुमान भी इन्हीं में अन्तर्भूत हो जावेगा, पुन: अनवस्था हो जाने से अर्थात् कुछ भी व्यवस्था न होने से आगम आदि प्रमाण भी उदित नहीं हो सकेंगे। क्योंकि शब्दादिकों की स्मृति के बिना वे आगम आदि प्रमाण भी नहीं हो सकते हैं। पुन: यदि आप कहें कि आगम आदि की उत्थापक सामग्री के होने से शब्दादिकों की स्मृति से आगम आदि प्रमाण भी स्वीकृत किए गए हैं तब तो शब्दादि प्रत्यक्ष भी उसकी सामग्री रूप होने से आगमादि रूप हो जायेंगे और उस प्रकार से स्मृति के समान प्रत्यक्ष भी भिन्न प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि उस प्रत्यक्ष प्रमाण को आप भिन्न प्रमाण स्वीकार करेंगे तब तो स्मृति को भी भिन्न प्रमाण मानना होगा। जैसे दर्शन के अनन्तर होने वाले अध्यवसाय रूप सविकल्प ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षादि से निर्णीत में कथञ्चित् अतिशय देखा जाता है अनुमान के समान। अर्थात् जैसे व्याप्ति से जाने गए में भी अनुमान से विशेष रूप से ग्रहण होता है तथैव प्रत्यक्षादि से निश्चित में भी स्मृति से विशेष का ग्रहण होता ही है। अत: स्मृति भी एक पृथक् प्रमाण है।[29]

स्मृति के न मानने पर दत्तग्रहादिविलोप- प्रमेयरत्नमाला में कहा गया है कि विसंवाद पाये जाने से स्मृति अप्रमाणता है, बौद्धों का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि स्मृति को प्रमाण न माना जायगा तो लेने देने आदि समस्त व्यवहार के विलोप की आपत्ति आती है।[30]

स्मरण सालम्ब है- बौद्धों का कहना है कि अनुभूयमान विषय (पदार्थ) के अभाव होने से स्मृति की अप्रमाणता है अर्थात् बौद्ध मतानुसार प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, स्थायी नहीं, अत: जिस पदार्थ का अनुभव किया था, वह स्मरणकाल तक विद्यमान ही नहीं रहता तब उसकी स्मृति को प्रमाण कैसे माना जा सकता है ? बौद्धों का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभूयमान पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी अनुभूत पदार्थ के सालम्बनता बन जाती है। अर्थात् स्मृतिकाल में अनुभूत

वस्तु के अविद्यमान रहने पर भी यत: उस वस्तु का उसकी विद्यमानता में ही अनुभव हुआ था, अत: उसका स्मरण निरालम्ब तो नहीं है, सालम्ब ही है। स्मरण को निरालम्ब तो तब माना जाय जब वह बिना किसी वस्तु के पूर्व में अनुभव किये ही अकस्मात् उत्पन्न हो। सो ऐसा है नहीं। यदि उक्त प्रकार के अनुभूत वस्तु के स्मरण होने पर भी उसे निरालम्ब कहा जायगा तो प्रत्यक्ष के भी अनुभूत अर्थ का विषय होने से अप्रमाणता अनिवार्य हो जायगी।[31]

तर्क प्रमाण विचार- बौद्धों के यहाँ तर्कज्ञान अप्रमाण ही है, क्योंकि यह प्रत्यज्ञानुपलम्भ के अनन्तर होने वाला होने से विकल्प रूप है और ग्रहीत को ग्रहण करने वाला है। इस सम्बन्ध का ज्ञान कराने में पुन: प्रवर्तमान प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ ही प्रमाण हैं।

जैन- ऐसा कहने वाले आप भी बिना विचारे ही वचन बोलने वाले हैं। कथंचित् अपूर्वार्थ को विषय करने वाला होने से यह उह- तर्कज्ञान भी प्रमाण ही है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ-अनुमान सन्निहित विषय के बल से उत्पन्न होते हैं, एवं ये अविचारक हैं। इसलिए इनकी व्याप्ति को ग्रहण करने में प्रवृत्ति असम्भव है अर्थात् बौद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दोनों ही एक विषय को ग्रहण करते हैं अत: विचार करने में अयोग्य हैं, विचार तो अनेक ज्ञानविषयक अनेक ज्ञान की उपस्थिति होने पर ही संभव है, अतएव विचार तर्क से साध्य है। यदि आप व्याप्तिज्ञान को अथवा अविनाभाव को अप्रमाण ही व्यवस्थापित करेंगे तब तो प्रत्यक्ष और अनुमान भी अप्रमाण ही अपने विषय को व्यवस्थापित करेंगे। पुन: उनको प्रमाणरूप सिद्ध करने के प्रयास से क्या प्रयोजन है ? अत: तर्क प्रमाण को भी पृथक् मानना पड़ेगा।[32]

व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्पज्ञान से सम्भव नहीं - बौद्धों का कहना है कि प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले विकल्प के द्वारा सामस्त्य रूप से साध्यसाधन भाव का ज्ञान हो जायगा, अत: व्याप्ति के ग्रहण के लिए तर्क नामक एक अन्य प्रमाण का अन्वेषण नहीं करना चाहिए। बौद्धों के इस कथन पर प्रमेयरत्नमालाकार लघु अनन्तवीर्य का कथन है कि ऐसा करने वाले बौद्ध भी युक्तिवादी नहीं है, हम पूछते हैं कि प्रत्यक्ष से जिसका विषय गृहीत है ऐसे विकल्प को आप व्याप्ति का व्यवस्थापक मानते हैं अथवा जिसका विषय गृहीत नहीं है ऐसे विकल्प को व्याप्ति का व्यवस्थापक मानते हैं। आद्यपक्ष के मानने पर तो दर्शनस्वरूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के समान उसके पीछे होने वाले विकल्प रूप निर्णय के भी विशिष्ट देश- कालरूप से नियत (सीमित) विषयपना ठहरता है, अत: उसके द्वारा अनियत देशकालवाली व्याप्ति विषय नहीं की जा सकती है। द्वितीय पक्ष के मानने पर पुनरपि दो विकल्प उपस्थित होते हैं- निर्विकल्प प्रत्यक्ष के पीछे होने वाला विकल्पज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है ? यदि प्रमाण है तो उसे प्रत्यक्ष- अनुमान के अतिरिक्त एक तीसरा प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि उसका उक्त दोनों प्रमाणों में अन्तर्भाव नहीं होता।[33]

यदि उत्तरपक्ष मानते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष पृष्ठभावी उस विकल्प ज्ञान को आप अप्रमाण मानते हैं तो अप्रमाणभूत उस विकल्पज्ञान से अनुमान की भी व्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि व्याप्ति के ज्ञान को अप्रमाण मानने पर व्याप्तिपूर्वक उत्पन्न होने वाला अनुमान भी प्रमाणता को नहीं प्राप्त हो सकता। अन्यथा सन्दिग्ध, विपर्यस्त आदि लिङ्ग से उत्पन्न होने वाले अनुमान को भी प्रमाण मानने का प्रसङ्ग आता है। यत: व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्पज्ञान से सम्भव नहीं, अत: व्याप्तिज्ञानरूप तर्कप्रमाण को सविकल्पक, अविसंवादक और प्रत्यक्ष-अनुमान इन दोनों से भिन्न एक पृथक ही प्रमाण मानना चाहिए। इसी उपर्युक्त कथन के द्वारा अनुपलम्भ से अर्थात् किसी

वस्तु के सद्भाव का निषेध करने वाले स्वभावानुपलम्भ से, कारणानुपलम्भ से और व्यापकानुलम्भ से कार्यकारण भाव और व्याप्य व्यापकभाव का ज्ञान होता है, ऐसा कहने वाले बौद्धों का भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि स्वभावानुपलम्भ तो प्रत्यक्ष का ही विषय है और कारणानुपलम्भ तथा व्यापकानुपलम्भ लिङ्गरुप है और उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान ही है, अत: प्रत्यक्ष और अनुमान से व्याप्ति के ग्रहण करने के पक्ष में जो दोष प्राप्त होते थे, वे ही यहाँ पर भी प्राप्त होंगे ।[34]

शब्द का अर्थवाकत्व

शब्द विकल्पवासनामात्र से जन्य होने के कारण अर्थ का असंस्पर्शी है- बौद्धों का कहना है कि शब्द अनुमान स्वभाव वाला नहीं है, क्योंकि अप्रमाण है ।[35] यदि वह प्रमाण हो तो उसका अनुमान में अन्तर्भाव करने का प्रयास फलवान् होता है । शब्द और अर्थ के बीच में रहता हुआ सम्बन्ध या तो तादात्म्यलक्षण होता है या तदुत्पत्तिस्वभाव तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि शब्द अर्थ विभिन्न स्थान पर प्रतीत होते हैं, मुख में शब्द प्रतीत होता है, भूमि पर अर्थ । यदि तादात्मय सम्बंध मानों तो क्षुरा, लडडू इत्यादि शब्द के उच्चारण करने पर मुख के फटने पूरण होने इत्यादि का प्रसङ्ग आ जायगा । तदुत्पत्ति स्वभाव भी नहीं माना जा सकता, ''अंगुली के अगले भाग में एक सौ हाथियों का झुण्ड है'' इत्यादि शब्दों को अर्थाभाव होने पर भी उनकी उत्पत्ति की प्रतीति होती है । अत: अर्थ से असंस्पर्शी शब्द बाह्य अर्थ में प्रतीति उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, अत: कैसे प्रमाण्य के भागी हो विकल्पमात्र के अधीन जन्म लेने वाले वे अपनी महिमा से तिरस्कृत बाह्य अर्थ वाले प्रत्ययों को उत्पन्न करते हैं- जैसे ''अंगुली के अगले भाग में एक सौ हाथियों का झुण्ड है'' इत्यादि ।[36]

यदि कहो कि यह पुरुष के दोषों की महिमा है, शब्दों की नहीं तो यह कहना भी अयुक्त है । दोषवान् भी गूँगे आदि पुरुष जो शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकते हैं, उनमें इस प्रकार के असत्य प्रत्यय के उत्पादन की सामर्थ्य असम्भव है । पुरुष के हृदय में कालुष्य न रहने पर भी आप्तप्रयुक्त अङ्गुल्यादि वाक्य बाह्यार्थ शून्य मिथ्याप्रत्ययों को उत्पन्न करते ही हैं । अत: यह शब्दों का ही स्वभाव है, वक्ता के दोषों का स्वभाव नहीं है ।

शंका- आप्त[37] इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग नहीं करते हैं, यदि प्रयोग करते हैं तो आप्त नहीं ।

समाधान- यह भी ठीक नहीं । इस प्रकार की वक्ता के दोष अयथार्थ ज्ञान के उदय के कारण हैं, यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि व्यतिरेक की सिद्धि नहीं होती । यदि वक्ता दोषों के अभाव में ''अंगुली के अग्रभाग में एक सौ हाथियों का झुण्ड है'' ये वाक्य प्रयुक्त किए जाने पर अयथार्थ अर्थ का ज्ञान न करायें तब अन्वय-व्यतिरेक से शब्दज्ञान का वक्ता के दोष से जन्यपना हो जायगा। आप्त यदि उनका प्रयोग नहीं करते हैं तो शब्द के अभाव से अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती या दोषों के अभाव से ? इस प्रकार व्यतिरेक संदिग्ध हैं क्योंकि शब्द में निश्चित रूप से दोष होने पर शब्दों का उच्चारण न करने पर मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है । इस प्रकार के वाक्यों के प्रयोग से आप्तपना में कोई विरोध नहीं होता है, क्योंकि उस प्रकार के शब्दों का उच्चारण करने पर भी अभिप्राय में किसी प्रकार का दोष न होने के कारण अनाप्तपने का अयोग रहता है । आप्त किसी-किसी को उपदेश देता है[38] -''तुम्हें अननुभूत अर्थ वाले वाक्यों का प्रयोग नहीं करना

चाहिए- जैसे -"अंगुली के अग्रभाग में एक सौ हाथियों का समूह है" दूसरी बात यह है कि बाधक प्रत्यय की उत्पत्ति में भी शब्द मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करता ही है। अत: अर्थ का संस्पर्श न करने वाले शब्द विकल्प मात्र के अधीन जन्म लेने वाले सिद्ध हो गए। कहा भी है-

"शब्दों की योनि विकल्प है और विकल्पों को योनि शब्द है, इस प्रकार इन दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध है। ये शब्द अर्थ का स्पर्श नहीं करते हैं।[39]

समीक्षा

वस्तु में शब्द का सम्बन्धाभाव असम्भव है - वस्तु में शब्द का सम्बन्धाभाव असम्भव है। शब्द अर्थ से सम्बद्ध होकर ही अर्थ का प्रकाशन करता है, क्योंकि वह प्रतिनियत अर्थज्ञान का कारण है, जैसे चक्षु। अथवा शब्द ज्ञान सम्बद्ध शब्द और अर्थ से उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रतिनियत ज्ञान है, दण्डी इत्यादि ज्ञान के समान।

शङ्का- शब्द और अर्थ में तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध का हम निराकरण कर आए हैं अत: सम्बन्धपना कैसे बनता है ?

समाधान- यह कहना ठीक नहीं है। तादात्म्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अभाव में भी शब्द और अर्थ में योग्यता लक्षण सम्बन्ध सम्भव है।

शङ्का - तादात्मय और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अभाव में योग्यता लक्षण सम्बन्ध कैसे संभव है ?

समाधान- यह भी नहीं कहना चाहिए। चक्षु और रूप में योग्यता लक्षण सम्बन्ध तादात्मय और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अभाव में भी देखा जाता है। चक्षु का घटादिरूप के साथ तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति संयोग सौगतों ने नहीं माना है, क्योंकि प्रतीति से विरोध होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है तथा चक्षु और रूप का संयोग मान लेने पर चक्षु के अप्राप्यकारीपने की क्षति का प्रसङ्ग भी उपस्थित होता है। चक्षु का तादात्म्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अभाव में रूप प्रकाशन योग्यता स्वभाव सम्बन्ध भी असम्भव है, श्रोत्रादि के समान चक्षु का भी रूप के अप्रकाशकपने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

शंङ्का- योग्यता से शब्द का अर्थवाचकत्व मानने पर अर्थ का शब्दवाचकपना क्यों नहीं होगा ?

समाधान- यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थों की शक्ति प्रतिनियत है। शब्द और अर्थ में प्रतिपाद्य प्रतिपादक शक्ति का नाम योग्यता है, जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञाप्य-ज्ञापक शक्ति पायी जाती है।

शङ्का- ज्ञान और ज्ञेय में कार्य कारण भाव होने से ज्ञाप्य ज्ञापक प्रतिनियम योग्यता से नहीं होता है।

समाधान- यह भी नहीं कहना चाहिए। ज्ञान और अर्थ में कार्य-कारण भाव का अकलङ्कदेव ने लघीयस्त्रय में निराकरण किया है।[40] इस प्रकार कैसे चक्षु और रूप में तथा घड़ा और दीपक में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव का प्रतिनियम होगा ? योग्यता से भिन्न कार्यकारणभावादिप्रतिबन्ध का चक्षु और रूप तथा घट और प्रदीप में प्रकाश्य प्रकाशक के प्रतिनियम का हेतु असम्भव है।

शङ्का- योग्यता के वश शब्द यदि अर्थ का प्रतिपादन करता है तो पृथ्वी, भवन आदि में वृद्धि को प्राप्त होकर उठे हुए शब्द का भी प्रतिपादन करे, दोनों में विशेष पने का अभाव है।

समाधान- यह भी ठीक नहीं है। सङ्केत रूपी मन्त्री की योग्यता के वश शब्द का अर्थ प्रतिपादकपना स्वीकार किया गया है। पृथ्वी, भवन आदि में वृद्धि को प्राप्त होकर उठे हुए शब्द का वैसा प्रकार न होने से उसमें प्रतिपादकपने का प्रसङ्ग प्राप्त नहीं होता है। "यह इसका वाच्य है, यह वाचक है" इस प्रकार वाच्यवाचक का विनियोग संकेत है[41]। वह जिस पुरुष के है, उसका ही शब्द अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है, अन्य का नहीं, अन्यथा धूमादि साधन भी भू, भवन से वृद्धि को प्राप्त होकर उठे हुए शब्द के अग्न्यादि साध्य की जानकारी करायेंगे, क्योंकि दोनों में कोई भेद नहीं है। साधन का साध्य की जानकारी कराने में अङ्ग अविनाभाव है, वह सदैव इसका सभी के प्रति है। जिस पुरुष ने साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण किया, उसी के प्रति ही साधन को साध्य का गमक मानने पर जिसने शब्द और अर्थ का सङ्केत ग्रहण किया, उसी के प्रति ही शब्द अर्थ का वाचक है, ऐसा सामान्य रूप से मानना चाहिए।

सङ्केत का कारण सहज योग्यता है- बौद्धों का कहना है कि सङ्केत पुरुष की इच्छा के द्वारा किया हुआ होता है, अत: पुरुष की इच्छा से वस्तु की व्यवस्था करना युक्त नहीं है, यदि ऐसा नहीं मानोगे तो अति प्रसङ्ग दोष आ जायगा। अत: चूंकि इच्छा निरङ्कुश है अत: अर्थ भी वाचक हो जाय और शब्द भी वाच्य हो जाय आचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि बौद्धों का ऐसा कहना ठीक नहीं है। सङ्केत [42] का कारण सहज योग्यता है धूम और अग्नि के समान। जैसे - धूम और अग्नि में नैसर्गिक ही अविनाभाव सम्बन्ध है, अविनाभाव के ग्रहण की व्युत्पत्ति के लिए भूयोदर्शन तथा तर्क रूप कारणों का आश्रय लिया जाता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ में स्वाभाविक ही प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध है, उसी की व्युत्पत्ति के लिए सङ्केत का आश्रय लिया जाता है। सांसिद्धिक अर्थशक्ति के व्यतिक्रम में सूक्ष्मदर्शनादि का भी प्रकाश्य प्रकाशक शक्ति के कारण व्यतिक्रम होगा। वैसा होने पर चक्षुप्रदीपादि का प्रकाश्यपना और घटादि का प्रकाशपना हो जाता है।

शब्द की स्वाभाविक शक्ति एक अर्थ का ज्ञान कराने में है या अनेकार्थ का ज्ञान कराने में है- शङ्का यदि एक अर्थ का ज्ञान कराने में शब्द की शक्ति है तो सैकड़ों सङ्केत करने पर भी उससे दूसरे पदार्थ के विषय में प्रतीति नहीं होगी, जैसे धूम से अग्नि से भिन्न पदार्थों की प्रतीति नहीं होती है। यदि अनेक अर्थ का ज्ञान कराने में शब्द की शक्ति है तो उससे एक साथ अनेक अर्थ की प्रतीति का प्रसङ्ग आने से प्रतिनियत अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होगी।

समाधान- यह भी असमीक्षित कथन है क्योंकि ऐसा मानने पर तो समस्त शब्दों में समस्त पदार्थों का ज्ञान कराने वाली शक्ति हो जायगी, फिर जिसका सम्बन्ध नहीं जाना गया है, ऐसे शब्द के प्रयुक्त होने पर संदेह कैसे होगा[43], फिर शंकाकार ने अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए शब्द का प्रयोग कैसे किया ? ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि एक बार सभी पदार्थों के ज्ञान का प्रसङ्ग उपस्थित होने के कारण शब्द से प्रतिनियत अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रतिनियत सङ्केत के वश शब्दों में प्रतिनियत पदार्थों का प्रतिपादकपना प्राप्त होता है। एक भी शब्द का देशादि के भेद से प्रतिनियत[44] सङ्केत अनुभूत होता है जैसे मालव में कर्कटिका शब्द का फल विशेष में गुर्जरादि में योनि के अर्थ में सङ्केत होता है। जिस प्रकार अनेक रूप का प्रकाशन करने के योग्य भी चक्षु दूरवर्ती अन्धकारादि प्रतिनियत सहकारी के वश प्रतिनियत दूरवर्ती रूपदिज्ञान की जनक होती हैं, उसी प्रकार शब्द अनेक अर्थों की जानकारी कराने के योग्य है, फिर भी प्रतिनियत सङ्केत के वश में होने के कारण उसका प्रतिनियत अर्थ का प्रतिपाद करना अविरुद्ध है।[45]

शब्दादि ही प्राप्त हुए सम्बन्ध का अपने अर्थ में ज्ञान कराते हैं- चक्षुरादि के समान शब्द का अर्थ में योग्यता लक्षण सम्बन्ध सम्भव होने पर चक्षु के समान ही शब्द से सङ्केत की अपेक्षा न करती हुई अर्थप्रतीति हो जायगी, बौद्धों का यह कहना असङ्गत है। शब्द ज्ञापक है अत: शब्द सापेक्ष ही अर्थप्रतीति स्वीकृत होती है जो ज्ञापक होता है वह ज्ञाप्य में प्राप्त हुए सम्बन्ध को ही प्रतीति में उत्पन्न करता है, जैसे-धूमादि। इसी प्रकार शब्द भी ज्ञापक है। चक्षुरादि चूँकि कारक है अत: उनका अपने सम्बन्ध को ग्रहण करने की अपेक्षा न रखते हुए उत्पादकपना ठीक है। स्वयं प्रतीत होते हुए जो अप्रतीत अर्थ की प्रतीति में कारण होता है, उसे ज्ञापक कहते हैं। ज्ञापकरूपता चक्षुरादि की नहीं, अपितु शब्दादि की ही होती है। अत: शब्दादि ही प्राप्त हुए सम्बन्ध का अपने अर्थ में ज्ञान कराते हैं। शक्ति स्वाभाविक होती है- जैसे रूपप्रकाशन में शब्दादि की और अर्थप्रकाशन में शब्द की शक्ति स्वाभाविक होती है।[46]

शब्द अर्थ के संस्पर्शी है- शब्द अर्थ के असंस्पर्शी है, यह कथन असमीक्षित है, क्योंकि हमारा प्रश्न है कि आप्तप्रणीत शब्द के अर्थ का असंस्पर्शीपना प्रसाधित किया जा रहा है या अनाप्त प्रणीत शब्द का अथवा शब्द मात्र का ? आदि का पक्षमान लेने पर प्रत्यक्ष से बाधा आती है। तिरस्कृत नहीं किया है बाह्यार्थ के ज्ञान की प्रतीति को जिसने ऐसे आप्तप्रणीत "नदी के तीर पर फल है" इस वाक्य के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले पुरुष को अपने इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है। यदि अनाप्त प्रणीत कहो तो अनाप्त प्रणीत वाक्य का ही अर्थसंस्पर्शीपना युक्त है, अन्य का नहीं, अन्यथा, कदाचित दोष से दूषित चाक्षुष प्रत्यक्ष का अर्थ से असंस्पर्शीपना प्राप्त होने पर गुणवान् चाक्षुषप्रत्यक्ष का भी मिथ्यापना हो जायगा। इसी कथन से तीसरे विकल्प का भी निराकरण हो गया, क्योंकि आप्तप्रणीत और अनाप्तप्रणीत शब्द से भिन्न शब्द मात्र असम्भव है।

प्रश्न- आप्तप्रणीत "अंगुली के अग्रभाग में एक सौ हाथियों का समूह है" इत्यादि वाक्य से विपर्यय ज्ञान की प्रतीति होती है। अत: शब्द की ही यह महिमा (तिरस्कृतबाह्यार्थप्रत्ययोत्पादकत्व) माननी चाहिए, वक्ता के दोषों की नहीं।

उत्तर- यह कथन भी असमीक्षित है, क्योंकि आप्त इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग नहीं करते हैं।[47]

एकान्तत: शब्द का अर्थ का असंस्पर्शी होना सिद्ध नहीं है- आप्त इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग नहीं करते हैं, फिर भी व्यतिरेक संदिग्ध हो गया, "क्या शब्द के अभाव से अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है या वक्ता के दोषों के अभाव से"? बौद्धों का यह कहना भी अविचारित रमणीय है। जिसने शब्द का उच्चारण नहीं किया है ऐसा दोषवान् पुरुष भी हाथ आदि के इशारे से ठगता हुआ प्रतीत होता है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि हाथ के इशारे आदि से शब्दानुमान होता है और उससे मिथ्याज्ञान, क्योंकि उस प्रकार की प्रतीति का अभाव है।[48] "नदी के तीर पर फल है" इत्यादि वाक्य से उत्पन्न किसी ज्ञान के होने पर नदी के तीर का अनुसरण करता हुआ फल को प्राप्त न करता हुआ पुरुष उस पुरुष को ही निन्दा करता है-"दुरात्मा इसके द्वारा मैं ठगा गया", शब्दों की निन्दा नहीं करता है।

शङ्का- पुरुष चाहे गुणवाला हो या दोष वाला, उसका कार्य शब्द का उच्चारण करना ही है, अर्थ का ज्ञान तो शब्दकारणक है, अर्थप्रतीति का विपर्यय शब्द का ही कार्य है, वक्ता के दोषों का कार्य नहीं है।

समाधान- यह भी अयुक्त है, क्योंकि गुणवान् वक्ता के द्वारा प्रणीत-"नदी के तीर पर फल हैं" इस वाक्य से सत्प्रत्यय का उदय होने पर भी इस प्रकार शब्द का ही व्यापार होगा, क्योंकि उसका वक्ता उस आचरण मात्र से ही चरितार्थ हो जाता है। अत: एकान्त से शब्द अर्थ का संस्पर्शी है या असंस्पर्शी है यह कैसे कहा जा सकता है ?[49]

शब्द का स्वरूप अर्थ का प्रकाशकपना है- शब्द का स्वरूप चक्षुरादि के समान अर्थ का प्रकाशकपना है, यथार्थ प्रकाशकपना या अयथार्थप्रकाशकपना शब्द का स्वरूप नहीं है, क्योंकि यथार्थ और अयथार्थ प्रकाशकपने का कारण गुणदोषपना है। नैर्मल्यादि गुण होने पर चक्षु यथावत् वस्तु का प्रकाशन करती है और काचादि दोष होने पर अयथावत् प्रकाशन करती है , इसी प्रकार शब्द भी वक्ता के गुण और दोष की अपेक्षा वस्तु के सत्य और असत्य रूप का प्रकाशन करता है। अतएव अंगुलि के शिखर पर सैकड़ों हथनियाँ हैं इत्यादि वचन बाधित होने पर भी पुन: उच्चारण करने पर भ्रान्ति होती है। शब्द का स्वरूप प्रकाशकपना होना सैकड़ों बाधायें आने पर भी निर्दोष सिद्ध होता है। शब्द की योनि विकल्प है या विकल्प की योनि शब्द है, इत्यादि का समाधान सविकल्पक की सिद्धि से हो जाता है।[50]

इस प्रकार शब्द प्रमाण है, क्योंकि अर्थ की उपलब्धि का कारण है, जैसे- प्रत्यक्ष, शब्द सम्यग्ज्ञान के समान स्वपक्ष के साधन और परपक्ष के दूषण में समर्थ है एवम् योगिज्ञान के समान तत्त्व के विषय में समस्त विवादों की निवृत्ति का कारण भी है अत: प्रमाण है। देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट-मेरुपर्वत, राम-रावण, परमाणु आदि समस्त अर्थों के विषय में विवाद की निवृत्ति शब्द के अतिरिक्त अन्य से सम्भव नहीं है, क्योंकि उसका दूसरा उपाय असम्भव है। यदि कहो कि विप्रकृष्ट अर्थ के ज्ञान का दूसरा उपाय लिङ्ग है तो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि देश काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट से अर्थ से सम्बन्धित लिङ्ग का ज्ञान किसी को भी नहीं होता है। अत: योग्यता लक्षण सम्बन्ध से विप्रकृष्ट अर्थ के विषय में शब्द का ही प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए।[51]

फुटनोट

1. षड्दर्शनसमुच्चय सूत्र-10
2. षड्दर्शनसमुच्चय टीका पृ. 66
3. वही पृ. 67
4. न्यायावतार (सिद्धर्षि टीका) पृ. 53
5 धर्मकीर्ति न्यायबिन्दु-4
6. न्यायावतार (सिद्धर्षि टीका) पृ. 53-54
7 डॉ. दरबारीलाल जैन कोठिया : जैन तर्क शास्त्र में अनुमान विचार पृ. 159
8. गृद्धपिच्छ : तत्वार्थसूत्र 5-7
9. न्यायविनिश्चय कारिका-381
10 जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार पृ. 165
11. लघुअनन्तवीर्य : प्रमेयरत्नमाला पृ. 162-163
12. षड्दर्शनसमुच्चय (गुणरत्नटीका) पृ. 67
13. न्यायावतार (सिद्धर्षि टीका) पृ. 34-35
14. लघीयस्त्रय-6
15. वही 3/5 पृ. 33
16. लघीयस्त्रय (अनन्तकीर्तिरचित तात्पर्यवृत्ति)पृ 33
17. हरिभद्र : षड्दर्शनसमुच्चय-11
18. षड्दर्शनसमुच्चय (गुणरत्न टीका) पृ. 69-70
19. वही पृ. 70-71
20. लघीयस्त्रय (अनन्तकीर्ति टीका) पृ. 31-32
21. न्यायावतार (सिद्धर्षि टीका) पृ. 51-52

22. विद्यानन्द : श्लोकवार्तिक (भाग-3) पृ. 273
23. वही पृ. 273
24. वही पृ. 142
25. लघुअनन्तवीर्य : प्रमेयरत्नमाला पृ. 142-143
26. अभिनवधर्मभूषणयति : न्यायदीपिका पृ 84
27. विद्यानन्द : अष्टसहस्री (बम्बई संस्करण) पृ. 203
28. अष्टसहस्री (बम्बई संस्करण) पृ. 204
29. विद्यानन्द : अष्टसहस्री (बम्बई सं.) पृ. 279
30. लघुअनन्तवीर्य : प्रमेयरत्माला पृ. 49
31 प्रमेयरत्नमाला पृ 49-50
32 अष्टसहस्री (बम्बई सं.) पृ. 280
33 प्रमेयरत्नमाला पृ. 59
34. प्रमेयरत्नमाला पृ 60-61
35. तत्त्वसं पृ. 440
36. न्या. कु. च. (द्वि. भाग) पृ. 537
37. स्या. र. पृ. 701
38. न्या. कु. च. पृ. (द्वि. भाग)
39. न्या. कु. च. (द्वि. भाग) पृ. 537
40. वही पृ. 538
41 न्या, कु. च. (द्वि. भाग) पृ. 538-539
42. न्याय म. पृ. 241
43. अष्टसहस्री पृ 143
44 न्यावा. ता. पृ. 420
45. न्या. कु च. (द्वि. भाग) पृ. 539-40
46. वही पृ. 540-541
47 वही पृ. 541-542
48. न्यायमंजरी पृ 158
49 न्याय मं. पृ. 159
50. न्याय कु. च. (द्वि. भाग) पृ. 542-543
51 वही पृ. 543

❑❑❑

द्वादश परिच्छेद

प्रमाण का विषय और उसका फल

प्रमाण का विषय- बौद्धों का कहना है कि विशेष ही तत्त्व है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रमाणता उसी विशेष तत्त्व के मार्ग पर चलने के कारण ही है। द्रव्यत्व सामान्य प्रमाण से सिद्ध नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय न होने के कारण शशविषाण की तरह द्रव्य नहीं है। प्रत्यक्ष उस द्रव्य का साधक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय रूपादिनियतगोचर पदार्थ ही है तथा वह सम्बद्ध तथा वर्तमानकालीन विषय को ग्रहण करता है। चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा सम्बद्ध और वर्तमान रूप को ही ग्रहण किया जाता है। स्पार्शन प्रत्यक्ष से स्पर्श, घ्राणज से गन्ध, रासन से रस तथा श्रावण प्रत्यक्ष से शब्द ग्रहण किया जाता है, चाक्षुशादि प्रत्यक्ष से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द के परस्पर परिहाररूप से अवस्थित विशेषरूपों का व्यापक द्रव्य ग्रहण नहीं किया जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष से उस द्रव्य का सद्भाव कैसे हो सकता है ? अनुमान भी द्रव्य का साधक नहीं है, क्योंकि अनुमान सम्बन्ध ग्रहणपूर्वक होता है। सम्बन्ध का ग्राहक कोई प्रमाण है नहीं। प्रत्यक्ष उस सम्बन्ध का ग्राहक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा उस प्रकार के साध्य साधन सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता है। सम्बन्ध दो में रहता है। एक का ग्रहण करने पर भी अन्य का ग्रहण न करने पर वह सम्बन्ध असम्भव है। कहा भी है।

दिष्ठसम्बन्ध संवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनाम् ।।

प्रमाणवार्तिक 1-2।।

प्रत्यक्ष के द्वारा उस सम्बन्ध का ग्रहण क्यों नहीं होता है, ऐसा प्रश्न होने पर हमारा उत्तर है कि हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्यक्ष रूपादि नियत विषय को ही ग्रहण करता है। प्रत्यक्ष का पर्यवसान पर्याय मात्र के ग्रहण में होता है, अतः स्वप्न में भी उसकी प्रवृत्ति द्रव्य में नहीं होती है। अनुमान से भी सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता है। उस अनुमान का ग्रहण दूसरे अनुमान से मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। द्रव्य के सिद्ध होने पर उसके लिङ्ग की सम्बन्धसिद्धि हो और उसके सिद्ध होने पर अनुमान की सिद्धि हो। अन्य अनुमान से सिद्धि मानने पर अनवस्था दोष होगा। अतः अनुमान से भी द्रव्य की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार पर्याय ही तत्त्व है वही प्रमाण का विषय सिद्ध होता है।[1]

जैन- उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। बौद्ध द्रव्य सामान्य का निराकरण नहीं कर सकते। प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय न होने से द्रव्य नहीं हैं, यह आपका कहना व्यर्थ है। द्रव्य की सिद्धि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से होती है। प्रत्यभिमान अप्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वह भी प्रत्यक्षादि के समान विसंवादरहित है। जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान अर्थ की जानकारी कराने, वस्तुपदर्शक होने तथा प्रापक और अविसंवादक होने के कारण प्रमाण हैं उसी प्रकार एकत्व निबन्धन प्रत्यभिज्ञान की भी घटादि पर्यायों में मिट्टी द्रव्य की अनुभूति का साधक होने से आबालगोपाल प्रतीतिसिद्ध होने के कारण

प्रमाण ही है। निराश्रय पर्यायादि की स्वप्न में भी प्रतीति न होने के कारण द्रव्य सिद्ध है। अनुमान से भी द्रव्य की सिद्धि होती है- द्रव्य है, क्योंकि उसके बिना पर्यायों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जहाँ द्रव्य पदार्थ नहीं है वहाँ विशेष नहीं हैं। जैसे - मिट्टी द्रव्य के अभाव में घटादिक नहीं है क्योंकि द्रव्य के अभाव में विशेष हो नहीं सकते। अत: पारमार्थिक पर्यायों के सद्भाव में द्रव्य को भी पारमार्थिक स्वीकार करना चाहिए।[2]

रूपादि से भिन्न अवयवी नहीं है- बौद्धों का कहना है कि रूपादि से भिन्न कोई अवयवी नहीं है, क्योंकि प्रमाण से उसकी प्रतीति नहीं होती है। वे पूछते हैं कि रूपादि से भिन्न अवयवी की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है या अनुमान से ! प्रत्यक्ष से हो नहीं सकती है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय से जन्य ज्ञान में रूपादिक ही अवभासित होता है, कोई दूसरा अवयवी अवभासित नहीं होता है, यदि उसी को अवयवी मानो तो हमारा कुछ अनिष्ट नहीं है, क्योंकि नाममात्र का भेद है। अनुमान से भी भिन्न अवयवी की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, उसमें अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि कदाचित् प्रत्यक्ष से अवयवी का ज्ञान हो तो उससे अविनाभूत कुछ लिङ्ग होगा, तब कहीं धूम से अग्नि के समान उसके दर्शन से इसका अनुमान होगा, किन्तु रुपादि से रहित स्वप्न में भी यह प्रत्यक्ष में प्रतिभासित नहीं होता है, अत: अवयवी के ग्राहक प्रमाण के अभाव में अवयवी का अभाव ही श्रेष्ठ है। जिसका ग्राहक प्रमाण नहीं है। वह असत् है, जैसे गधे के सींग। अवयवी का ग्राहक भी कोई प्रमाण नहीं है। अवयवी की उत्पत्ति में कारण प्राप्त नहीं होता है जिसकी उत्पत्ति में कारण प्राप्त नहीं होता है, वह नहीं है, जैसे बन्ध्या का पुत्र। इसी प्रकार अवयवी की उत्पत्ति में किञ्चित् कारण प्राप्त नहीं होता है। यह बात असिद्ध भी नहीं है। द्व्यणुकादि अवयवी की उत्पत्ति में कारण परमाणु का संयोग है। वह संयोग परमाणुओं के एकदेश अथवा सर्वात्मना प्राप्त नहीं होता है। परमाणु का सर्वात्मना संयोग मानने पर पिण्ड के अणुमात्र का प्रसङ्ग आ जाने पर अवयवी को जलाञ्जलि देनी पड़ेगी। परमाणुओं का संयोग एकदेश से भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अणुओं में खण्ड असम्भव है। यदि उसके खण्ड मानोगे तो वह परमाणु ही नहीं रहेगा। दिशाओं के भाग के भेद से परमाणु षटक् के साथ युगपत् मेल मानने पर परमाणुओं में छह अंश मानने पड़ेंगे। इसलिए लोहे की शलाका के तुल्य परमाणु ही परमार्थत: मानना चाहिए।[3] अवयवी द्रव्य को न मानने पर एक दूसरे असम्बद्ध लोहे की शलाका के तुल्य अणुओं में स्थूल एकाकार का ज्ञान नहीं होगा ऐसा नहीं कहना चाहिए। जिस प्रकार केशों में तैमरिक की उपलब्धि होती है उसी प्रकार से वहाँ स्थूल एकाकार का ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रकार तैमरिक के स्थूल एकाकार से रहित भी केशों में तदाकार प्रतीति होती है, इसी प्रकार हम लोगों को परमाणुओं में भी प्रतीति होती है। तैमरिक एक-एक करके केश कभी भी प्रतीत नहीं करता है। अत: स्थूलादि की प्रतीति भ्रान्त है, क्योंकि जो जैसा नहीं है उसमें वैसा ग्रहण होता है, जिस प्रकार स्थाणु में पुरुष की प्रतीति होती है।[4]

अवयवी अपने समस्त अवयवों के ग्रहण होने पर ही ग्रहण हो सकता है - दूसरी बात यह है कि अवयवी को आप लोग अनेक अवयवों में व्याप्त और रूप रसाद्यात्मक मानते हैं, ऐसा अवयवी इसके समस्त अवयवों के ग्रहण होने पर ही ग्रहण किया जा सकता है अन्य प्रकार से नहीं। और वह ग्रहण नीचे के भाग होने योग्य अवयवग्राही प्रत्यक्ष से होगा या उभयप्रत्यक्ष से? नीचे के भाग होने योग्य अवयवग्राही प्रत्यक्ष से तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह ऊपर के भाग होने योग्य अवयव की वार्ता से अनभिज्ञ है। व्याप्य का ग्रहण न होने पर उसका व्यापीपना ग्रहण करना

सम्भव नहीं है, नहीं तो अति प्रसङ्ग दोष उपस्थित हो जायगा, जो जिस रूप से प्रतिभासितहोता है, वह उसी प्रकार सद्व्यवहार का विषय होता है जैसे नील नीलरूप से अवभासित होता हुआ उसी प्रकार से सद्व्यवहार का विषय है। अवयवी नीचे के भाग होने योग्य अवयव से सम्बन्धित होता हुआ प्रतिभासित होता है। नीचे के भाग होने योग्य अवयव सम्बंधी अवयवी के स्वरूप से ऊपर के भाग होने योग्य अवयव से सम्बन्धित स्वरूप का विरूद्ध धर्म का ज्ञान होने के कारण भेद असंभव होने के कैसे समस्त अवयवों की अवयवी के साथ व्याप्ति सिद्ध होगी तत्सम्बन्धीपना जिसका लक्षण है ऐसे विरुद्ध धर्म का ज्ञान होने पर भी इसके अभेद होने पर भेद की बात नष्ट हो जायगी। जिसके प्रतिभास होने पर जो नहीं प्रतिभासित होता है वह उसमें भिन्न है जैसे घट के प्रतिभासित होने पर प्रतिभासित न होता हुआ पट। नीचे के भाग होने योग्य अवयव से सम्बन्धित अवयवी स्वरूप में प्रतिभास्ति होने पर ऊपर के भाग होने योग्य अवयव से सम्बन्धित अवयवी का स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता है, इस प्रकार प्रतिभास के भेद से भी इसका भेद है। इस प्रकार ऊपर भाग होने योग्य अवयव ग्राही प्रत्यक्ष से उसके व्यापित्वग्रहण का निराकरण हो गया। उभय प्रत्यक्ष असंभव है। किसी को भी नीचे, ऊपर, मध्य भाग होने योग्य अवयव ग्राही एक प्रत्यक्ष कभी प्रतीत नहीं होता है।[5]

उपर्युक्त कथन से अवयवी का रूपरसद्यात्मकपना भी खण्डित हो गया। अवयवी की प्राप्ति रूपग्राही, रसग्रही तथा उभयग्राही प्रत्यक्ष से नहीं होती है। रूपग्राही चाक्षुष प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति रस में नहीं होती है। इसको ग्रहण करने वाले रासन प्रत्यक्ष की रूप में प्रवृत्ति नहीं होती है। उभयग्राही प्रत्यक्ष स्वप्न में भी प्रतिभासित नहीं होता है।[6]

अवयवों से कथञ्चित्अभिन्न एकानेकात्मक अवयवी की सिद्धि

पदार्थों का अवभासन एकत्वाद्यात्मक होता है- बौद्धों से जैनों का प्रश्न है कि चक्षुरादि इन्द्रियजन्य ज्ञान में घटादि नाम के योग्य रूप एकत्व परिणति विशिष्ट, उर्ध्व अधो मध्य भागात्मक, विशिष्ट आकार से युक्त प्रतिभासित होता है या एक दूसरे से भिन्न अनंश परमाणुप्रचय रूप। पहला पक्ष मानने पर अवयवी द्रव्य का चक्षुरादिइन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान में अप्रतिभास्ति कैसे होता है, क्योंकि तद्भागात्मक, विशिष्ट आकार से अन्वित तत्परिणति ही अवयवी है। रूपादि से अतिरिक्त अवयवी के प्रतिभास का अभाव होने से असत्व मानने लगोगे तो रूपादि के भी असत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, क्योंकि रूपादि के बिना अवयवी का प्रतिभास नहीं होता है। बेल, आँवला आदि अवयवी द्रव्य से रहित उनके रूप आदि स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होते हैं। जो जिस रूप से निर्बाधज्ञान में प्रतिभासित होता है, वह उस रूप ही मानना चाहिए जैसे नील को नील रूप से माना जाता है। एकत्व परिणति आदि लक्षण वाले अवयवी रूप से बेल, आँवला आदि का रूप प्रतिभासित होता है। उस प्रतिभासित ज्ञान का निर्बाधपना विशेषण असिद्ध नहीं है, क्योंकि उसका बाधक कोई भी प्रमाण असंभव है। प्रत्याक्षादि प्रमाण उसका बाधक नहीं है क्योंकि सैकड़ो बार विचार करने पर भी पदार्थों को अवभासन एकत्वाद्यात्मक ही होता है।[7]

स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से बन्ध होता है- एकत्वादि की परिणति अवयव संयोग पूर्वक होती है। अवयवों का संयोग सर्वात्मना या एकदेश से घटित नहीं होता है। बौद्धों का यह कहना भी अयुक्त है। इस प्रकार कहने वाले आपका वहाँ का सम्बन्धभाव अभीष्ट है या सम्पूर्ण अथवा एक देश को छोड़कर प्रकारान्तर से सम्बन्ध अभिप्रेत है? आदि का विकल्प मानने पर प्रत्यक्ष से विरोध होता है, क्योंकि पदार्थों में अवयव सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है। यदि

अवयव सम्बन्ध न हो तो रस्सी, बाँस,[8] दण्ड इत्यादि के एक भाग को खींचने पर दूसरे भाग का आकर्षण न हो। जो जिससे असम्बद्ध है उसके आकर्षण करने पर अन्य का आकर्षण नहीं देखा गया है जैसे घड़े को खींचने पर दीवाल का आकर्षण नहीं होता है। आपके मत में रस्सी, बाँस, दण्ड आदि का निचला भाग ऊपरी भाग से असम्बद्ध है। यदि सम्पूर्ण अथवा एकदेश को छोड़कर प्रकारान्तर से अवयवों में एक दूसरे में समबन्ध इष्ट हो तो वह ठीक है, क्योंकि पदार्थों के सम्बन्ध की उपलब्धि स्निग्ध और रुक्षपने लक्षण रूप दूसरे ही प्रकार से होती है,[9] जल आदि में इस प्रकार को छोड़कर अन्यत्र कोई सम्बन्ध का कारण प्रतीत नहीं होता है।

अवयवी को न मानने पर देशप्रत्यासत्ति भी नहीं मानी जा सकती – अणुओं में आपने (बौद्धों ने) जो षंडशतापत्ति कही है, वह आरम्भदेश की अपेक्षा से कही है या संयोग के हेतुभूत स्वभाव की अपेक्षा से ? प्रथम पक्ष में परमाणु और षंडशपने का विरोध है।

षंड़शपना मानने पर परमाणु अपने अवयव की अपेक्षा से अधिक परिणाम वाले हो जायेंगे, ऐसी स्थिति में उनका परमाणुपना कैसे रहेगा। जिसका निरतिशय अल्प परिमाण होता है, वह परमाणु है। द्वितीय पक्ष भी दोष के लिए नहीं है। दिग्भाग के भेद से अणु संयोग के हेतुभूत स्वभाव लक्षण परमाणु में इष्ट है, यदि ऐसा न माने तो जल को धारण करना, ले जाना आदि अर्थक्रिया को करने वाले घटादि की निष्पत्ति कैसे होगी ? लोहे की शलाका के तुल्य परमाणु उक्त निष्पत्ति को निश्चित रूप से नहीं कर सकते, क्योंकि वे परस्पर असम्बद्ध हैं। जो परस्पर असम्बद्ध हैं, वे जल धारण आदि अर्थक्रिया को करने वाले नहीं होते हैं। जैसे विभिन्न देश वाले परमाणु। आपके (बौद्धों के) मत में परस्पर असम्बद्ध होते हुए घटादि नाम के योग्य होते हैं। यदि कहो कि देशप्रत्यासत्ति से विशिष्ट वे परमाणु उस निष्पत्ति को करते हैं, अन्य नहीं तो यह बात भी ठीक नहीं। यदि अवयवी को नहीं मानोगे तो देशप्रत्यासित्त भी नहीं बनती है, क्योंकि देश भी अवयवी है। उपर्युक्त कथन से "इन्द्रियजन्य ज्ञान में एक दूसरे से भिन्न अंश परमाणु प्रचय रूप घटादि का स्वरूप प्रतिभासित होता है," यह बौद्धों का कथन खण्डित हो गया। इस प्रकार के वर्णित स्वभाव वाले परमाणु इन्द्रियजन्य ज्ञान में निश्चित रूप से किसी को भी अवभासित नहीं होते हैं, क्योंकि समस्त प्राणियों को स्थिर-स्थूल साधारण स्वरूप वाले अर्थ का ही प्रतिभास होता है।[10]

अवयवी के प्रतिषेध के लिए केस का दृष्टान्त ठीक नहीं है– तैमरिक की उपलब्धि के समान अवयवी का प्रतिभास होता है- यह कहना भी समीचीन नहीं है। तैमरिक को भी एक दूसरे से असम्बद्ध केश कभी भी उपलब्धि के विषय नहीं होते हैं। अवयवी के निषेध में केश का दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि केश भी अवयवी हैं।[11]

घटादि प्रत्यय निर्विषय हैं या सविषय – अवयवी को न मानने पर घटादि प्रत्यय निर्विषय होगा या सविषय ? निर्विषय तो हो नहीं सकता "मैं घटको जानता हूँ" इत्यादि उल्लेख से घटादि प्रत्यय के विषय की अनुभूति होती है। घटादि प्रत्यय को निर्विषय मानने में प्रमाण का अभाव है। घटादि प्रत्यय यदि सविषय है तो इसका विषय क्या है ? यदि परमाणु समूह को मानो तो परमाणु समूह से बौद्धों का क्या तात्पर्य है- परमाणु या उसका धर्म ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, परमाणु अत्यन्त छोटा होता है, अतीन्द्रियपने के कारण वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में समस्त पदार्थों के ग्रहण न करने का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर कहीं प्रत्यक्ष का व्यवहार ही नहीं होगा। यदि संयोग परमाणु का धर्म उसके समूह का वाच्य है, यदि ऐसा कहो तो यह भी ठीक नहीं, अणुओं में संयोग मानोगे तो अवयवी का खण्डन नहीं हो सकता, दोनों जगह समान न्याय

है। दूसरी बात यह है कि यह संयोग वास्तविक है या अवास्तविक? यदि अवास्तविक है तो प्रत्यक्ष का विषय कैसे है ? जो अवास्तविक होता है, वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है जैसे आकाश कमल । आपके द्वारा इष्ट अणुसंयोग अवास्तविक है । वास्तवपना भी माना जाय तो इसका हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय होना अयुक्त है, क्योंकि निरतिशय परिमाण वाले द्रव्य का संयोग जो निरतिशय परिमाणद्रव्य संयोग है, वह हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है जैसे आकाश और परमाणु का संयोग । अणुओं का एक दूसरे से संयोग निरतिशय परिमाण द्रव्य संयोग है ।

बौद्ध- वह संयोग हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है ।

जैन- तो हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय क्या है ?

बौद्ध- सञ्चित परमाणु ही हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय हैं ।

जैन- यह कहना भी अयुक्त है । परमाणु की प्रत्यक्षता पक्ष का हम उत्तर दे आए हैं ।[12]

परमाणुओं का संचितपना देशप्रत्यासत्ति या संयोग विशिष्टत्व होगा ।[13] दोनों प्रकार के अवयवी की सिद्धि होगी, क्योंकि देश स्वयं अवयवी है । संयोग की स्थिति में न्याय समान है। यदि परमाणु प्रत्यक्ष के विषय हैं तो "एक घड़ा बड़ा है" इत्यादि ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि बड़ेपने का अभाव है, बहुपना है ।

बौद्ध- सेना, वन इत्यादि के ज्ञान के समान "एक घड़ा महान है" यह घटित होता है । [14] जैसे सेना के अङ्गों में अथवा वन के अङ्गों में दूर से पृथकपना ग्रहण न होने पर "एक वन, एक सेना," इस प्रकार एक ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, इसी प्रकार अत्यन्त समीपवर्ती परमाणुओं में पृथकपने का ग्रहण न होने से "एक घड़ा महान है" इस प्रकार का ज्ञान प्रकट होता है ।

जैन- यह ठीक नहीं । परमाणु चूँकि अतीन्द्रिय है अत: उसकी उपलब्धि न होने पर उसके ज्ञान के विषयपने की प्राप्ति नहीं होती है । प्राप्त होने योग्यरथ और सेना के अङ्गों और धव आदि के वनों के अङ्गों की "एक सेना" इत्यादि अभेद ज्ञान का विषयपना देखा गया है, जो अनुपलभ्य है, उनका अभेदज्ञान नहीं देखा गया। अवयवी को न मानने पर "सेना और वन के समान" यह दृष्टान्त घटित नहीं होता है । सेना और वन की अवयवी के रूप में प्राप्ति न होने पर उनका ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता है ।[15]

मुख्य के अस्तित्व बिना मिथ्याज्ञान नहीं होता है- जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा ग्रहण होने के कारण स्थूलादि की प्रतीति भ्रान्त है- बौद्धों का यह कथन भी असमीक्षित है जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा ग्रहण होना मुख्य की प्राप्ति के बिना नहीं बनता। यदि मुख्य पुरुष अप्रसिद्ध हो तो स्थाणु में पुरुष का ज्ञान नहीं हो सकता । स्थूलादि मुख्य होते हुए कहीं प्रसिद्ध नहीं है । प्रसिद्ध मानो तो अवयवी का प्रसङ्ग उपस्थित होगा ।[16] प्रत्यक्ष स्मरणादि के सहारे से स्वत: नीचे और ऊपर के भाग होने योग्य, अवयव का जिसमें व्यापकपना है ऐसे अवयवी का ग्रहण होता है । (जैन) लोगों ने प्रत्यक्षादि ज्ञान की पर्याय को पदार्थ का ग्राहक न मानकर प्रत्यक्षादि ज्ञान परिणत आत्मा को पदार्थ का ग्राहक माना है, अत: किसी प्रकार का दोष उपस्थित नहीं होता है ।[17]

अवयवी का रूपरसाद्यात्मकपना -"जो मैंने देखा, उसी का स्पर्श कर रहा हूँ" इस प्रकार के सूक्ष्म परीक्षणपूर्वक ज्ञान से अवयवी का रूपाद्यात्मकपना प्रसिद्ध है । रूप और स्पर्श की आधार दो इन्द्रियों के द्वारा एक अर्थ के ग्रहण के बिना इस प्रकार का सूक्ष्म परीक्षण घटित नहीं होता है। रूप और स्पर्श चूँकि प्रतिनियत इन्द्रिय से ग्राहय होते हैं अत: यह संभव नहीं होता है । अत: प्रसिद्ध है सद्भाव जिसका ऐसे अवयवी का लोप करना ठीक नहीं । अवयवी का लोप करने पर परमाणुमात्र

का भी लोप करने का प्रसङ्ग आयेगा। अवयवी को माने बिना अन्य कोई व्यवस्थापक उपाय नहीं है।[18]

अभाव स्वरूप विचार

भावस्वरूप के भिन्न कोई अभाव प्रत्यक्ष तथा अनुमान से ग्राह्य नहीं है - बौद्धमत के अनुयायी कहते हैं।[19] कि भाव स्वरूप से भिन्न कोई अभाव प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से प्रतीत नहीं होता है। प्रत्यक्ष का विषय वह होता है जो जनकपना होने पर आकार का समर्पक होता है, अभाव का जनकपना होने पर आकार समर्पक होता है, अभाव का जनकपना और आकारसमर्पकपना अत्यन्त दुर्घट है। जो अभाव रूप होता है, वह न तो किसी का जनक होता है और न अपने आकार का समर्पक होता है- जैसे -आकाशकुसुम। आप लोगों (प्रतिपक्षियों) का इष्ट अभाव भी अभाव रूप है। ज्ञान का जनक होने पर जब यह अपने आकार का अर्पण करता है तो यह भावरूप ही होता है। जो अपने आकार का अर्पण करता हुआ ज्ञान को उत्पन्न करता है, वह भाव स्वभाव ही होता है। जैसे -घटादि। अभाव भी अपने आकार का अर्पण करता हुआ ज्ञान को उत्पन्न करता है। जो कहीं से उत्पन्न होता हुआ, किसी रूप से प्रतिभासित होता हुआ किसी अर्थक्रिया को करता है, वह भावस्वरूप कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि अभावाकार के ज्ञान में प्रवेश करने पर ज्ञान के भी अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होने से किससे क्या प्रतीति होगी ? इस भूतल पर घड़ा नहीं है" यह प्रत्यक्ष उसके सदभाव में प्रमाण है, यह भी नहीं कहना चाहिए। शब्द के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष के विकल्परूप होने से प्रत्यक्षपने की प्राप्ति नहीं होती है। अर्थ में विकल्पों का प्रामाण्य प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि विकल्प अर्थ का स्पर्श नहीं करते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष से अभाव सिद्धि नहीं होती है, अनुमान से भी अभाव की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि अनुमान साध्य मे सम्बन्धयुक्त लिङ्ग के बल से उदय को प्राप्त करता है। साध्य-साधन का अविनाभाव प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष से प्रतीत नहीं होता है, उक्त प्रकार से अभाव के प्रत्यक्ष से अगोचर होने पर प्रत्यक्ष से अभाव की किसी लिङ्ग के साथ बन्धन का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। अनुमान से प्रतीति मानने पर अनवस्था दोष आता है, क्योंकि द्वितीय अनुमान में भी दुसरे अनुमान से अविनाभाव की प्रतीति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। अत: किसी प्रकार से सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होती है। जिसका सम्बन्ध सिद्ध नहीं है ऐसा लिङ्ग साध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होता है, क्योंकि अतिप्रसङ्ग दोष आ जाता है।[20]

समीक्षा-

प्रतिनियत प्रतियोगी के स्मरण की अन्यथानुपपति से प्रत्यक्ष में प्रतिनियत अभाव का ज्ञान मानना चाहिए- भावस्वरूप से भिन्न अभाव की प्रतीतिभेद से, स्वरूप भेद से, सामग्री के भेद से तथा अर्थक्रिया के भेद से भेद सिद्धि होती है। जिसका जिससे प्रतीति आदि का भेद होता है, वह उससे भिन्न होता है जैसे- घड़े से वस्त्र भिन्न होता है। भाव से अभाव का प्रतीति आदि की अपेक्षा भेद है। यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि भाव और अभाव में "यह यहां है, यह यहाँ नहीं है" इस प्रकार प्रतीतिभेद सुप्रसिद्ध है।[21] इस प्रकार भेद की प्रतीति होते हुए भी अभाव की प्रतीति का अपलाप करना युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो भाव की प्रतीति का भी अपलाप होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा।

बौद्ध- निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सामर्थ्य से "यह यहाँ है, यह यहाँ नहीं है" इस प्रकार दो विकल्प उत्पन्न होते हैं, विकल्प के वश से अर्थ की व्यवस्था नहीं होती है, क्योंकि अर्थ में विकल्पों का प्रामाण्य नहीं है।

जैन- यह भी श्रद्धामात्र है । निर्विकल्प प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का निषेध करने के कारण सविकल्पक की सिद्धि होने पर सविकल्प ही आन्तरिक और वाह्य वस्तु का व्यवस्थापक होने के कारण, सविकल्पक को ही प्रामाण्य की प्राप्ति होती है । निर्विकल्पक की सामर्थ्य[22] से उत्पन्न अभाव से विकल्प से अभाव की असिद्धि होने पर भाव के विकल्प से भावसिद्धि भी अत्यन्त दुर्लभ हो जायगी । यदि प्रत्यक्ष से ही भाव की सिद्धि मानते हो तो अभाव की सिद्धि में क्या उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को कौओं ने भक्षण कर डाला । इन्द्रियादि सामग्री से उत्पन्न प्रत्यक्ष प्रथम अनेक भाव और अभाव रूप विशेषणों से चित्रित विशेष्यभूत अर्थ को प्राप्त होता है । अनन्तर शब्द और अर्थ के सङ्केत को जिसने ग्रहण किया है ऐसे सम्बन्ध का ज्ञान अर्थ दर्शन के उत्तरकाल में 'जिस जिसकी विवक्षा होती है, उस उसके वाचक शब्द को स्मरण कर "यह यहाँ है, यह यहाँ नहीं है" इस प्रकार के विकल्प व्यापार को दर्शाता है । यदि वे अभाव विशेष प्रत्यक्ष से ज्ञात न हों तो प्रतियोगी (यस्या भाव: सप्रतियोगी) का स्मरण भी प्राप्त नहीं होगा । घटाभाव की प्राप्ति न होने पर घट की प्रतियोगी होने के कारण स्मृति ठीक नहीं है, क्योंकि अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित होगा। अत: प्रतिनियत प्रतियोगी के स्मरण की अल्यथानुपत्ति से प्रत्यक्ष में प्रतिनियत अभाव का ज्ञान मानना चाहिए ।[23]

भाव की प्रतीति अभाव की प्रतीति से भिन्न है- "इस भूतल पर घड़ा नहीं है, इस प्रकार की विशिष्ट प्रतीति की विशेषण के बिना सिद्धि युक्त नहीं है । जो विशिष्ट प्रतीति होती है, वह विशेषण के बिना सिद्ध नहीं होती है, जैसे- दण्डी इत्यादि की प्रतीति । "इस भूतल पर घड़ा नहीं है इत्यादि प्रतीति विशिष्ट है ।

बौद्ध- भाव अभाव की प्रतीति का कारण है अत:भाव ही अभाव की प्रतीति का विशेषण हो जायगा । इस प्रकार आपके किसी इष्ट की सिद्धि नहीं होती है ।

जैन- यह भी ठीक नहीं, क्योंकि क्या निषिध्यमान घटादि का भाव "इस भूतल पर घड़ा नहीं है" इस अभाव प्रतीति का कारण माना जाता है या घटाभाव का आश्रय भूतलादि प्रथम पक्ष ठीक नहीं है । बिना किसी बाधा के प्रतीत होने वाली भाव और अभाव की प्रतीति की विलक्षणता का विषय के वैलक्षण्य के बिना प्राप्ति नहीं होती है । भाव और अभाव रूप प्रतीतियां की भिन्नता विषय की भिन्नतापूर्वक है, जैसे रूपादि की प्रतीति की भिन्नता इसी प्रकार निर्बाध रूप प्रतीत होने वाली भाव और अभाव प्रतीतियों का भिन्नता भी मानना चाहिए । भाव और अभाव की प्रतीतियों की भिन्नता भी मानना चाहिए । भाव और अभाव की प्रतीतियों की निर्बाधता तथा भिन्न रूप से प्रतीत होना असिद्ध नहीं है, क्योंकि उसका बाधक कोई प्रमाण नहीं है । दोनों की अनुभूति परस्पर भिन्न स्वभाव के रूप में होती है । कोई भी अनुभूति परस्पर भिन्न स्वभाव के रूप में होती है । कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति भाव को ही अभाव रूप से ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि भाव की प्रतीति अन्य है, अभाव की प्रतीति अन्य है। यदि भाव ही अभाव हो जायगा, तो भाव के सत्ताक्षण में भाव के देश में अभाव की प्रतीति हो जायगी - किन्तु ऐसा नहीं है । अपने देश और काल से नियत भाव की सत्ता को ही कोई अभाव रूप में सिद्ध करने के योग्य नहीं है ।[24]

निषिध्यमान घट के आश्रयरूप से अभिप्रेत भूतलादिभाव भी घट के अभाव की प्रतीति का कारण नहीं है - निषिध्यमान घट के आश्रयरूप से अभिप्रेत भूतलादि भाव को घट के अभाव की प्रतीति का कारण मानोगे तो वहाँ भी[25] क्या भूतलमात्र घटाभाव की प्रतीति का कारण है, या विशिष्ट भूतल प्रथम विकल्प में घट सहित भी भूतल का व्यवहार होगा, क्योंकि दोनों में कोई भेद ही नहीं

रहा। द्वितीय पक्ष मानने पर भी भूतल का किस प्रकार का वैशिष्ट्य घटाभाव की प्रतीति का कारण है- स्वरूपकृत अथवा घटसंसर्ग के रहितत्वकृत स्वरूपकृत तो कह नहीं सकते, घट सहित भी भूतल में अभाव की प्रतीति का प्रसंग उपस्थित होने से स्वरूपसत्व की सघट भूतल में भी कोई विशेषता नहीं रही। घटसंसर्ग से रहितपना कारण मानने पर तो नाम में विवाद है, क्योंकि घटाभाव का ही घट संसर्ग से रहित शब्द से कथन हो गया।[26]

"नास्ति" यह व्यवहार काल्पनिक ही नहीं है- सत् इस व्यवहार का उदय न होने पर ही "नास्ति" नहीं है, यह व्यवहार होता है, अत: यह नहीं कहना चाहिए कि "नास्ति" यह व्यवहार अभिमानमात्र ही है, क्योंकि प्रतीत होने वाले बाधा रहित "नास्ति" को काल्पनिक मानने पर "अस्ति" -है, इत्यादि व्यवहार को भी काल्पनिक मानने का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि "सत्" इस व्यवहार का अनुदय ही "नास्ति" इस व्यवहार का अङ्ग है तो सुषुप्तावस्था में भी "नास्ति" इस प्रकार का व्यवहार होगा, क्योंकि सदव्यवहार का अनुदय वहाँ भी सामान्य रूप से है। अत: निर्बाध भाव और अभाव रूप दो प्रतीतियों का भिन्नपना सिद्ध होने पर भाव और अभाव में वास्तविक भेद सिद्ध हो गया।[27]

स्वरूप भेद से भाव और अभाव में भेद है- अभाव का ही भाव प्रतिषेधकपना स्वरूप है, भाव का नहीं। स्वरूप भेद होने पर भी भाव और अभाव में अभेद स्वीकार करने पर भेद की वार्ता ही नष्ट हो जायगी। सर्वत्र घट पटादि का स्वरूप से भेद है, स्वरूप भेद से भिन्न कोई भेद प्रसिद्ध नहीं है।[28]

सामग्री भेद से भाव और अभाव में भेद है- सामग्री भेद से भाव और अभाव में भेद सुप्रसिद्ध है। घटादि भाव के उत्पादन की जिसकी इच्छा है वह घटादि भाव के उत्पादन के अनुकूल ही मिट्टी के पिण्ड इत्यादि सामग्री को ग्रहण करता है। जो घटादि भाव का विनाश चाहता है वह उत्पाद सामग्री से भिन्न मुद्गरादि सामग्री ग्रहण करता है।

बौद्ध- मुद्गरादि सामग्री[29] परस्पर न मिले हुए कपाल के उत्पाद में ही नियोजित होती है, अभाव में नही, अत: उत्पति के समान अभाव भी मुद्गरादि व्यापार से ही होगा, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि समस्त कार्यभेद कारणभेद से व्याप्त है।

जैन- यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतीति से विरोध आता है। मुद्गरादि के व्यापार में लौकिक जन तथा दूसरे व्यक्तियों को "इस मुदगर के द्वारा घट का विनाश किया गया" इस प्रकार की प्रतीति होती है, कपालों की उत्पत्ति हुई ऐसी प्रतीति नहीं होती है। घट का जो विनाश करता है उसे भी "कपालों का उत्पादन कर रहा हूँ" इस प्रकार के प्रयत्न की स्वप्न में भी अनुभूति नहीं होती है। जो विष आदि के द्वारा शत्रुवध में प्रवृत है और अग्नि आदि के द्वारा वस्त्र को जलाने में प्रवृत है ऐसे पुरुष की शत्रु और वस्त्र के विनाश के अतिरिक्त "अन्य कुछ उत्पन्न कर रहा हूँ" इस प्रकार की चेष्टा नहीं होती है। जो समीपवर्ती प्रेक्षक जन हैं, उनको भी यह प्रतीति नहीं होती है "इसने कुछ अन्य उत्पादन किया है" किन्तु इसके द्वारा उस वस्तु का इसने विनाश किया है, इस प्रकार समस्त लोगों की प्रतीति होती है। वह व्यक्ति भी विनाश में ही सन्तुष्ट होता है, अवयव की निष्पत्ति से उसका कुछ प्रयोजन नहीं है।

बौद्ध- भाव स्वभाव से ही विनाश स्वभाव वाले हैं और विनाश अहेतुक है, अत: मुद्गरादि विनाश में कारण नहीं है।

जैन- पदार्थों का स्वभाव नियत रूप से विनाश स्वभाव वाला ही है, इसका निराकरण अक्षणिकपने की सिद्धि के द्वारा हो जाता है। जो कहा है कि कार्यभेद कारणभेद से व्याप्त है, यह कथन भी युक्तिमात्र है, क्योंकि एक कारण एक ही कार्य का उत्पादन करेगा तो अविनाभाव का अभाव हो जायगा। प्रदीपादि एक हैं तथापि उनसे अनेक कार्यों की उत्पत्ति की प्रतीति होती है। अत: सहेतुक विनाश सिद्ध हो गया। घटाभाव की उत्पादक मुद्गर के अभिघात आदिरूप

सामग्री से घटोत्पादक मिट्टी के पिण्डादि रूप भावोत्पादक सामग्री का भेद सिद्ध होने से भाव और अभाव में भेद सिद्ध है ।[30]

अर्थक्रिया के भेद से भाव और अभाव भिन्न भिन्न है- यह सुप्रसिद्ध है कि भाव और अभाव में प्रवृति और निवृत्तिलक्षण रूप अर्थक्रिया भेद है । जल के इच्छुक जल के सद्भाव में प्रवृति और उसके अभाव में निवृत्ति करते हैं । प्रमोदादि[31] अर्थ क्रियाकारीपने से भी भाव और अभाव में भेद है, क्योंकि यदि शत्रुविनाश किया या सुना तो अत्यधिक प्रमोद होता है और शत्रु का सद्भाव हो तो विषाद होता है । भाव और अभाव से भिन्न यहाँ हर्ष और विषाद के कारण प्रतीत नहीं होते हैं ।

बौद्ध- अभाव भी यदि किसी से उत्पन्न होकर अर्थक्रिया को करे तो वह भाव ही हो जायगा।

जैन- यह ठीक नहीं । भाव की प्रतीति का विषय भावपना है, अर्थक्रियाकारीपना नहीं है। अभाव स्वकारणकलाप से भाव से विलक्षण रूप में उत्पन्न होकर अर्थक्रिया को करता हुआ पदार्थ रूप में प्रतीत होता है, भावरूप में नहीं ।

बौद्ध- अभाव यदि अपने आकार को ज्ञान में समर्पित करे तो ज्ञान भी अभावरूप हो जाय।

जैन- यह भी ठीक नहीं है । अर्थाकाररूप से ज्ञान का अर्थ प्रकाशकपना निराकृत किया है । निराकार ही ज्ञान स्वावरणक्षयोपशमलक्षणा योग्यता से योग्य देश में स्थित योग्य पदार्थ का प्रकाश करना है । यह बात प्रत्यक्ष के प्ररुपण के प्रस्ताव में (न्यायकुमुदचन्द्र में प्रभाचन्द्र ने (कही है[32])

अभाव वस्तु है- अभाव अवस्तु है अत: उसको प्रसाधन करने का प्रयास व्यर्थ है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रमाण से उसकी प्रतीति होने के कारण उस अभाव का वस्तुपना सिद्ध होता है । जैसे- अभाव वस्तु है, क्योंकि प्रमाण से उसकी प्रतीति होती है । जो प्रमाण से प्रतीत होता है, वह सत् होता है जैसे- भाव । इसी प्रकार अभाव भी प्रमाण प्रतीत होता है । दूसरी बात यह है कि जो कारण से उत्पन्न होती है, वह वस्तु होती है जैसे- घटादि । इसी प्रकार घटादि भी कारण से उत्पन्न होता है । जो अर्थक्रियाकारी होती है, वह वस्तु होती है, जैसे दीपक । इसी प्रकार अभाव भी अर्थक्रियाकारी है । जो अवान्तरभेद से भिन्न होती है, वह वस्तु है, जैसे रूपरसादि। इसी प्रकार अभाव भी प्राग्भाव आदि अवान्तर भेद से भिन्न होता है । इस प्रकार भाव के समान अभाव वस्तु का वास्तविक धर्म या प्रमेय सिद्ध होता है ।[33]

अभाव की जानकारी अभाव नामक प्रमाण से नहीं होती है- अभाव की जानकारी कराने वाला अभाव नाम का प्रमाण वास्तव में प्रत्यक्षादि से भिन्न सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अभाव के ज्ञान की सिद्धि प्रत्यक्ष से भी होती है । जो दूसरे प्रमाण से भी जाना जाता है, उसे पृथक प्रमाण होने का नियम नहीं है जैसे अग्नि आदि में । इसी प्रकार अभाव भी दूसरे प्रमाणों से जाना जाता है । जो जिस प्रकार के प्रमाण से भिन्न किसी प्रमाण के द्वारा नहीं जाना जाता है, उसमें उस प्रकार के प्रमाण का नियम है जैसे रूप रसादि में । तात्पर्य यह है कि जैसे रस रूप ग्राही चाक्षुष प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता है । अत: उसके ग्रहण के लिए रासन प्रत्यक्ष का नियम होता है, ऐसा नियम अभाव के विषय में नहीं । अभाव चूंकि प्रत्यक्षादि से जाना जाता है अत:उसके विषय में किसी दूसरे प्रमाण का नियम नहीं है ।[34]

प्रमाण के विषयभूत पदार्थ की जानकारी- बौद्धों की मान्यता है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उसी अर्थ के आकार का होता है, और उसी का ग्राहक होता है अर्थात् उसे जानता है, क्योंकि तदुत्पत्ति के बिना विषय के प्रति कोई नियम नहीं बन सकता अर्थात् यदि घटविषयक ज्ञान को घट से उत्पन्न न माना जाय तो घटज्ञान घट को ही विषय करे और पट को न करे, इसका कोई नियम नहीं ठहरेगा । यदि केवल तदुत्पत्ति को ही विषय के जानने में नियामक माना जाय तो वह आलोक आदि में भी समान है अर्थात् आलोक के होने पर ज्ञान की उत्पत्ति दे[illegible] ी वह ज्ञान तदाकारता के अभाव से आलोक को ग्रहण नहीं करता है, अत:

तादुप्य सहित तदुत्पत्ति को ही विषय के प्रति नियामक कारण माना गया है । यदि कहा जाय कि ज्ञान और ज्ञेय भिन्न कालवर्ती हैं अर्थात् जिस पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह तो पूर्वक्षण में नष्ट हो गया और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान अब वर्तमान समय में प्रवृत हो रहा है ऐसी दशा में ज्ञान और ज्ञेय में ग्राह्य और ग्राहकपना कैसे बन सकेगा ? सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ नष्ट होते हुए भी अपना आकार उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अर्पण करके नष्ट होता है, अत: ग्राह्य ग्राहक भाव में कोई विरोध नहीं आता है । जैसा कि कहा है-

"यदि कोई पूछे कि भिन्न कालवर्ती पदार्थ ग्राहय कैसे हो सकता है तो युक्ति के जानने वाले आचार्य ज्ञान में तादाकार के अर्पण करने की क्षमता वाले हेतुत्व को ही ग्राह्यता कहते हैं ।[35]

जैनाचार्यों के अनुसार अर्थ से नहीं उत्पन्न होकर भी ज्ञान दीपक के समान अर्थ का प्रकाशक होता है ।[36] इस पर बौद्ध शंका करते हैं कि तब तो नियत दिशावर्ती, नियतदेशवर्ती और नियतकालवर्ती पदार्थो के जानने के प्रतिनियम में तदुत्पत्ति- तादूप्य हेतु के अभाव से सभी ज्ञान अप्रतिनियत विषय वाले हो जायेंगे । अर्थात् किसी भी व्यक्ति का कोई एक भी ज्ञान विभिन्न दिग्देशवर्ती त्रैकालिक पदार्थों का जानने वाला हो जायगा, क्योंकि तदुत्पत्ति- तादूप्य के बिना अमुक ज्ञान अमुक पदार्थ को ही जाने, इसका कोई नियामक कारण नहीं रहता । फिर तो प्रत्येक ज्ञान विश्व के त्रिकालवर्ती और त्रिजगद्व्यापी पदार्थों को जानने वाला हो जायगा ।[37] बौद्धों को ऐसी आशंका होने पर जैन आचार्य कहते हैं- "अपने आवरण कर्म के क्षयोपशमलक्षण वाली योग्यता से प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिनियत पदार्थों के जानने की व्यवस्था करता है ।"[38] जैनों के उक्त कथन से अर्थरूपता और तदाकारता को छोड़कर अन्य कोई भी वस्तु इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बुद्धि का अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करती है, अतएव प्रमाण के विषयभुत पदार्थ को जानने के लिए मेयरूपता अर्थात् पदार्थ के आकार रूप तदाकारता ही प्रमाण है- बौद्धों का यह कथन निरस्त हो जाता है, क्योंकि समान अर्थाकार वाले नाना ज्ञानों में मेयरूपता यानी तदाकारता पाई जाती है। फिर भी एक ज्ञान के द्वारा एक ही पदार्थ जाना जाता है । तत्सदृश अन्य नहीं । बौद्धों के यहाँ सदृश परिणाम लक्षण वाला योगाभिमत सामान्य पदार्थ जैसा कोई सारूप्यय वास्तविक है नहीं । अत: यही सिद्ध हुआ कि आवरणकर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता ही विषय के प्रतिनियम का कारण है ।[39]

प्रमाण और प्रमाणफल- बौद्धदर्शन के अनुसार प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कल्पित ही है, वास्तविक नहीं तथा प्रमाता या आत्मा नाम की कोई अलग वस्तु भी नहीं अतएव यहाँ प्रमाता आदि का वास्तविक भेद कैसे हो सकता है ? यहाँ इन्द्रिय की साधनता और अर्थ की ग्राह्यता भी वास्तविक नहीं, अपितु अर्थ और इन्द्रियक्षण का क्षणिक समवधान या सहवर्तन मात्र ही होता है । उसके कारण ही प्रमाण और फल का व्यवहार हो जाता है । यह प्रमाण और फल का व्यवहार साधन-साध्य भाव के कारण नहीं होता, अपितु व्यवस्थापक और व्यवस्थाप्य भाव के कारण हुआ करता है । विज्ञान में अर्थ का सारूप्य ही नील आदि ज्ञान का व्यवस्थापक है और नील आदि ज्ञान व्यवस्थाप्य हैं । यह व्यवस्थापक तथा व्यवस्थाप्य भाव एक ही वस्तु (विज्ञान) में भी सम्भव है, इसलिए प्रमाण तथा प्रमाणफल में कोई भेद नहीं ।[40]

आचार्य विद्यानन्द का कथन है कि सौगत के मत में सर्वथा प्रमाण और फल में अभेद मानने पर तो यह प्रमाण है, यह उसका फल है, यह व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि सर्वथा अभेद में तदभाव का विरोध है । इस निर्विकल्प प्रमाण का यह सारुप्य- तादुप्य मेयरूप प्रमाण है और अधिगति इसका फल है, यह बात सर्वथा तादात्म्य में सिद्ध नहीं होती है ।

सौगत- निर्विकल्पदर्शन में असारुप्य से व्यावृत्ति सारूप्य है, अनाधिगत से व्यावृति अधिगति है, इस प्रकार से व्यावृति के भेद से एक में भी प्रमाण और फल की व्यवस्था बन जाती है ।

जैन- ऐसा नहीं कहना, क्योंकि स्वभाव में भेद को माने बिना अन्य से व्यावृत्ति का भेद भी नहीं बन सकता है। इसलिए ग्राहय और संविदाकार में प्रमाण और फल की व्यवस्था करने पर भी अज्ञान के नाश को मानने पर विसंवाद का निराकरण नहीं हो सकता है, क्योंकि आपका मान्य वह निर्विकल्पदर्शन अज्ञानी के समान ही है। विष के विषय में यह विष है, इस प्रकार से न जानता हुआ विष का प्रत्यक्ष भी प्रमाणता वास्तविकता को जानने में समर्थ नहीं हो सकेगा अर्थात् किसी को विष का इन्द्रिय प्रत्यक्ष हुआ, किन्तु वह ज्ञान अपने विषय में अज्ञान की निवृत्तिरूप फल को नहीं करता है, अत: उसे विष में "यह विष है" ऐसा ज्ञान नहीं होगा, पुन: वह उसका प्रयोग भी कर बैठेगा, क्योंकि अज्ञान का अभाव हुए बिना भी उतने प्रत्यक्षमात्र को ही प्रमाण मान लेने पर तो दर्शनके अनन्तर होने वाले क्षणिकादि अनुमान भी निर्विकल्प के द्वारा अधिगत अर्थ को ही जानने वाले होने से प्रमाण नहीं हो सकेंगे।

फुटनोट

1. नरेन्द्रसेन: प्रमाणप्रमेयकलिका पृ. 27-29
2. वही पृ. 30
3. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 231
4. न्या.कु.च.(प्रथम भाग) पृ.231-232
5. न्या. कु. च. (प्रथम भाग) पृ. 232
6. वही पृ. 232
7. वहीपृ. 232-233
8. वही पृ. 233 धारणाकर्षणोपपतेश्च- न्याय स. 2/1/35
9. न्या. कु. च. (प्रथम भाग) पृ. 233
10. न्या. कु. च. (प्रथम भाग) पृ. 233
11 न्या. कु. च. पृ. 233
12. वही पृ. 234
13. सन्निवेशस्तेषों देशप्रत्यासत्ति संयोगविशेषों वा स्या, रत्ना
14. सेनावनवद् ग्रहणमिति चैत्र, अतीन्द्रियत्वादणूनाम्: न्या. सू. 2/1/36
15. न्या कु. च. (प्रथम भाग) पृ. 235
16. वही पृ. 235
17. वही पृ 235
18. वही पृ. 236
19. प्रमाणवा. मनोरथ 2/3
20. न्या कु. च. (द्वितीय भाग)पृ. 477
21. वही पृ. 477
22. न्यायमं. पृ. 58, न्यायकुमुदचन्द्र (द्वितिय भाग) पृ. 477-478
23. न्या. कु. च (द्वि. भाग)पृ. 478
24 वही पृ. 478
25. प्रश. कन्द. पृ. 229
26 न्या. कु. च. (द्वि भाग) पृ 479
27. वही पृ. 479-480
28. वही पृ. 480
29 प्रमाणवा. स्ववृ टी 1/196-197
30 न्या. कु. च. (द्वि भाग) पृ. 480-481
31. न्यायमंजरीपृ. 59
32. न्या. कु. च (द्वि. भाग) पृ. 481
33. वही पृ. 482
34. न्या. कु. च (द्वि भाग) पृ. 482
35. वही पृ. पृ. 77
36 माणिकयनन्दि: परीक्षांमुख सूत्र 2/8
37. प्रमेयरत्न माला पृ. 78
38 परीक्षामुखसूत्र 2/9
39. प्रमेयरत्नमाला पृ. 82
40. न्यायबिन्दुटीका पृ. 19

त्रयोदश परिच्छेद

बौद्धदर्शन के अध्ययन में जैनाचार्यों का योग

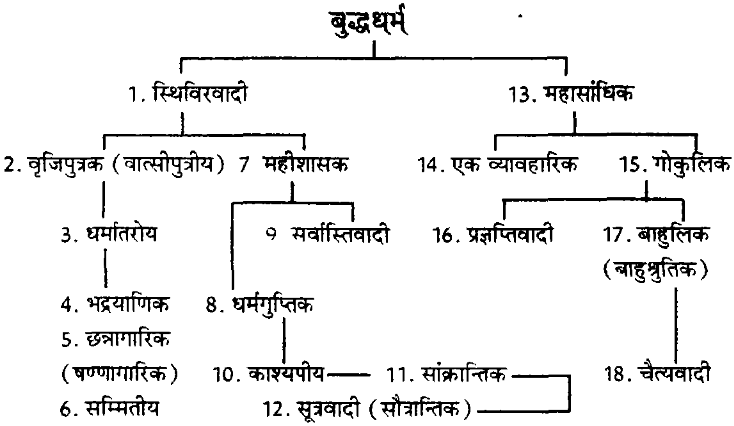
उपसंहार

बौद्धदर्शन के अध्ययन में जैनाचार्यों का योग - भारतीय दर्शन में जैनदर्शन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि भारतीय दर्शन को समग्र रूप में समझना है तो जैनदर्शन का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जैनदर्शन के अनैकान्तिक मंच पर संसार के सारे नयवाद (दृष्टियाँ) सापेक्षिक रूप में उपस्थित होते हैं और उनकी निरपेक्ष स्थिति को जैनदर्शन तर्क की कसौटी पर कसकर उनका मूल्याङ्कन करता है और उनकी ऐकान्तिकता का निराकरण करने का प्रयत्न करता है। जैनदर्शन के ग्रन्थों में अन्य दर्शनों की भाँति बौद्धदर्शन का भी विशद विवेचन मिलता है। शायद ही जैनदर्शन का कोई ग्रन्थ हो, जिसमें बौद्धदर्शन के किसी सिद्धान्त का पर्यालोचन न किया गया हो। जैनाचार्यों ने बौद्धदर्शन पर कलम चलाने से पूर्व बौद्धदर्शन का निष्ठा के साथ अध्ययन किया था। इस कार्य में उन्हें अनेक बाधाओं का भी सामना करना पड़ा। अकलङ्क जैसे प्रखर तार्किक ने अपने प्राण हथेली पर रखकर प्रच्छन्न रूप से बौद्धमठों में जाकर बौद्धदर्शन का गहन अध्ययन किया और प्राय: बौद्धों के प्रत्येक सिद्धान्त को तर्क की कसौटी पर तौलकर अनेकान्त की दुन्दुभि बजाई। प्रमाणवार्तिक आदि धर्मकीर्ती के ग्रन्थों के प्रकाशन के पूर्व अकलंक तथा विद्यानन्द जैसे आचार्यों का आधार लेकर ही दिङनाग सम्प्रदाय के मन्तव्यों पर प्रकाश डाला जा सकता था। इन आचार्यों ने प्रमाणवार्तिक की अनेक कारिकाओं को अविकल रूप में उदाहृत किया है और उनके स्वरूप को विस्तृत और प्रभावक रूप में सबके सामने रखा है। जैन आचार्य जब पूर्वपक्ष का प्रतिपादन करते हैं तो ऐसा लगता है कि पूर्वपक्ष के माध्यम से तत्तत् दर्शनों के आचार्यों की आत्मा बोल रही हो। पूर्वपक्ष को तोड़ मरोड़कर रखने का प्रयास जैनाचार्यों ने नहीं किया। अत: स्पष्ट है कि बौद्धदर्शन के अध्ययन की दृष्टि से जैनाचार्यों के कार्यों का अनूठा महत्त्व है।

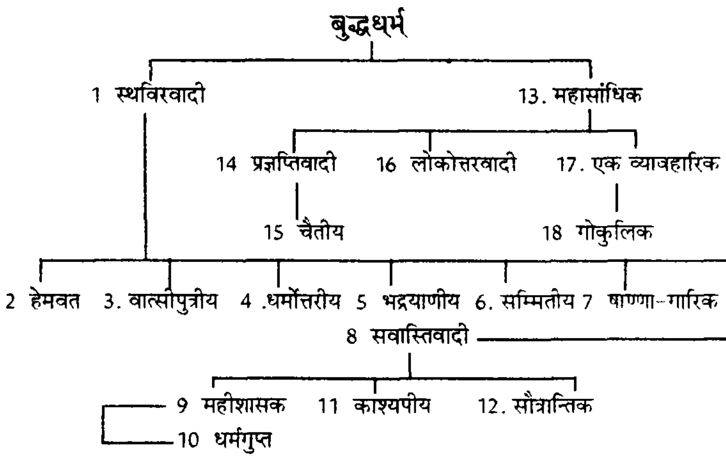
जैन आचार्यों द्वारा विविध मन्तव्यों की समीक्षा -

1. **बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदाय** - षड्दर्शन समुच्चय की टाका में बौद्धों के अष्टादश निकाओं का उल्लेख मिलता है[1]। चुल्लवग के सप्तशतिका स्कन्ध (पृ 549) से ज्ञात होता है कि निर्वाण के 100 वर्ष बाद बौद्धभिक्षु दो निकाओं में विभक्त हो गये। प्राचीन बातों के दृढ़ पक्षपाती स्थावर कहलाते थे और विनय विरूद्ध कुछ नयी बातों का प्रचार करने वाले महासांधिक। पाली की कथावस्तु अट्ठकथा, दीपवंश, महावंस तथा कुछ और ग्रन्थों के अनुसार बुद्धनिर्वाण के 220 वर्षों बाद सम्राट अशोक के समय महासांधिकों और स्थविरों में कितने ही छोटे-बोटे मतभेद होकर 18 निकाय हो गये[2]।

कथा-वत्थु अट्ठकथा के अनुसार यह शाखा भेद इस प्रकार है -



चीनी भाषा में अनूदित भदन्त वसुमित्र प्रणीत अष्टादशनिकाय ग्रन्थ के अनुसार यह शाखाभेद इस प्रकार है[3] -



इसके अतिरिक्त वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक रूप में बौद्धदर्शन की शाखाओं का एक अन्य वर्गीकरण भी प्राप्त होता है[4]। जैनाचार्यों ने प्राय: द्वितीय वर्गीकरण को ही प्रधानता देकर बौद्धदर्शन का विवेचन अथवा निराकरण किया है जिससे उसके मन्तव्यों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

2 चतुरार्य सत्य - जो सभी हेयधर्मों से दूर हो गए हैं, उन्हें आर्य कहते हैं। जिसके द्वारा साधुओं को मुक्ति की प्राप्ति होती है अथवा जिसके द्वारा समस्त पदार्थ के स्वरूप का यथार्थचिन्तन होता है अथवा जो सत्पुरुषों को हितकारक है, वह सत्य है।

आर्यों के चार सत्य होते हैं, - 1. दु:ख 2. समुदय 3. निरोध 4. मार्ग। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच विपाक रूप उपादास्कन्ध ही दु:ख है। जिससे पंचस्कन्ध रूप उत्पन्न होता है, उसे समुदय कहते हैं। अतएव ये ही पाँच स्कन्ध तृष्णा के सहकार से जब नवीन स्कन्धों की उत्पत्ति में हेतु होते हैं तब समुदय कहलाते हैं। निरोध-निर्वाण के इच्छुक मुमुक्षु जिसे ढूँढते हैं, जिसकी याचना करते हैं, वह मार्ग है। निरोध में हेतुभूत नैरात्म्यादि भावना रूप से परिणत चितविशेष ही मार्ग कहलाता है[4]।[3]

उपयुर्क्त आर्यसत्यों का निराकरण जैनाचार्यों ने निम्नलिखित युक्तियों से किया है -

1. आस्त्रव रहित चितसन्तान को मोक्ष कहना युक्ति और आगम से बाधित है।
2. अविधा और तृष्णा के द्वारा एकान्त रूप बन्ध कहना सम्यक् नहीं है।
3. एकान्त पक्ष में अष्टाङ्गिक मार्ग नहीं बनता है।
4. मर्वथा अनित्य अनात्मकत्वादि भावना निर्विषय है, अत: वह मुक्ति का हेतु नहीं बन सकती है।
5. आत्मा को न मानने पर उस प्रकार के चितक्षणों में एकत्व का अध्यारोप नहीं बनता है।
6. चित सन्तति का सान्वय पक्ष ही युक्त है, निरन्वय नहीं।

3. अनात्मवाद - न्यायचार्य पं. महेन्द्रकुमार जी के अनुसार बुद्ध ने निर्वाण के लिए जिन चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया है, उनमें दु:ख बन्धस्थानीय है, समुदय आस्त्रव स्थानीय, निरोध मोक्ष स्थानीय और मार्ग संवर और निर्जरा स्थानीय है। इन चार आर्यसत्यों में बुद्ध ने आस्त्रव, बन्ध, मंवर, निर्जरा और मोक्ष का प्रतिपादन तो किया है, पर उस मुख्य आत्मतत्व के विषय में मौन ही रखा है, जिसे बन्धन और मोक्ष होता है[5]। उन्होंने लोक नित्य है, अनित्य है, नित्य - अनित्य है, न नित्य न अनित्य है, लोक अन्तवान है, नहीं है, है, नहीं है, न है न नहीं है, निर्वाण के बाद तथा गत होते हैं, नहीं होते, होते, नहीं होते, न होते न नहीं होते, जीव शरीर से भिन्न है, जीव शरीर से भिन्न नहीं है इन चौदह प्रश्नों को अव्याकृत कहा है[6]। उनके अनुसार इनके बारे में कहना सार्थक नहीं है और भिक्षुचर्या के लिए उपयोगी नहीं है और न निर्वेर, निरोध, शान्ति, परमज्ञान या निर्वाण के लिए ही आवश्यक है। कौन ऐमा मुमुक्षु होगा जो अपनी चित सन्तति के उच्छेद के लिए प्रयत्न करेगा। चार्वाक की आत्मा गर्भ से मरणपर्यन्त और बुद्ध की चितसन्तति निर्वाण पर्यन्त। यदि निर्वाण में उसका समूलोच्छेद हो जाता है तो चार्वाक के सिद्धान्त से कोई विशेषता नहीं रहती। बुद्ध ने अपने को अशाश्वत अनुच्छेदवादी कहा है। वे उपनिषद्वादियों की तरह आत्मा को शाश्वत नहीं मानना चाहते थे और न भौतिकवादियों की तरह सर्वथा उच्छिन्न ही। जो बुद्ध को अनुच्छेदवादी कहते हैं, उन्होंने कैसे प्रदीपनिर्वाण की तरह चित सन्तति के उच्छेदरूप से कहा होगा[7] ?

दार्शनिक क्षेत्र में निरास्त्रव चित सन्तति रूप निर्वाण मानने का भी एक पक्ष मिलता है और यही युक्ति युक्त भी है। तत्त्व संग्रह पंजिका में कहा है -

"चित्त जब रागादि दोष और क्लेश संस्कार से संयुक्त रहता है तब संसार कहा जाता है और वही चित जब रागादि क्लेश वासनाओं से रहित होकर निरास्त्रव बन जाता है तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं[8]।"

शान्तरक्षित[9] चित की निर्मलता को मुक्ति कहते हैं। माध्यमिक वृत्ति[10] में निर्वाण परीक्षा के पूर्वपक्ष में सोपधिशेष और निरुपधिशेष निर्वाणों का वर्णन है। सोपधिशेषनिर्वाण में रागादि का नाश होकर 5 स्कन्ध, जिन्हें जीव कहते हैं, निरास्त्रव दशा में रहते हैं, जबकि निरुपधिशेष निर्वाण

में वे भी नष्ट हो जाते हैं। बौद्ध परम्परा में निर्वाण की इन धाराओं के बीच बुद्ध के निर्वाण को अव्याकृत कहने में ही निहित हैं। ऐसा लगता है कि बौद्ध परम्परा में चित सन्तति के समूलोच्छेद रूप निर्वाण पर अधिक जोर दिया गया, अत: प्राय: जैनाचार्यों ने बौद्ध निर्वाण के इसी पक्ष की आलोचना की है। उनकी आलोचना के आधार निम्नलिखित है -

1 जीव शब्द अपने बाह्य अर्थ सहित है।

2. क्षणिकेकान्त में कार्य-कारण भाव नहीं बनता है। बौद्धों के मत में सन्तान असत् है, अत: वह कर्मफल सम्बन्ध की व्यवस्था में हेतु नहीं हो सकती है।

3 सत्, असत्, अभय और अनुभय - ये विकल्प अवक्तव्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर जीवादि पदार्थ सभी धर्मों से रहित होने से विशेषण विशेष्य भाव से रहित होते हुए अवस्तु रूप ही हो जायेंगे।

4. अवक्तव्य का कथन नहीं हो सकता।

5. संवृति से अवक्तव्य मानने पर विकल्प नहीं बनते हैं।

6. बौद्धों की सन्तानधारा में प्रतिसन्धान नहीं बन सकता।

4. क्षणभङ्गवाद - जो सत् है वह सब क्षणिक है जैसे - घड़ा। इसी प्रकार पदार्थ भी क्षणिक हैं। सत्व अर्थक्रियाकारीपने को कहते हैं। अर्थक्रिया क्रम और युगपत् रूप से व्याप्त रहती है, वह अक्षणिक में संभव नहीं है। पदार्थ यदि एक रूप में रहे तो उसमें अर्थक्रिया असम्भव है। अर्थक्रिया भी सदैव होना चाहिए, कदाचित् नहीं। पदार्थ में क्रम से अर्थ - क्रियाकारिता मानने पर क्या जिस रूप से एक कार्य को करता है, क्या उसी से दूसरे कार्य को करता है अथवा दूसरे रूप के द्वारा ? यदि उसी रूप से कार्य करता है तो जो कार्य द्वितीयादिक्षण में साध्य हैं, उनकी प्रथम क्षण में ही उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जायेगा, क्योंकि वह उत्पादक स्वरूप तो पहले भी था यदि दूसरे रूप के द्वारा कार्य करना कहो तो पूर्वरूप की निवृत्ति होने से क्षणिकपने का प्रसङ्ग आ जायेगा[11]।

वस्तु को अक्षणिक मानने पर युगपत् भी अर्थक्रियाकारिता नहीं हो सकती। एक बार ही समस्त कार्यों की उत्पत्ति का स्वभाव होने से प्रथम क्षण में ही समस्त कार्यों की उत्पत्ति हो जाने से दूसरे क्षण उस उत्पाद्य कार्य का अभाव होने से अनर्थक्रियाकारिता के द्वारा वस्तु के घोड़े के सींग की तरह असत्पने का प्रसङ्ग आ जायेगा[12]।

उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त क्षणभङ्गवाद के समर्थन में कुछ अन्य तर्क भी बौद्धों ने दिए हैं, जिनमें से प्रमुख[13] निम्नलिखित हैं -

1. पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि कृतक हैं। कृतकपने और अनित्यपने का तादात्म्य है।

2 जो नश्वर है, उसका प्रतिक्षण विनाश न मानने पर कलान्तर में भी नाश का अभाव मानना चाहिए। पदार्थों के विनाश का कारण उनकी जाति अर्थात् उत्पत्ति या स्वभाव है।

3 विनाश के प्रति अन्य की अपेक्षा न रखने से पदार्थ विनश्वर ही हैं।

4. प्रत्यक्ष से क्षणिकता का ही ग्रहण होता है।

उपर्युक्त तर्कों का खण्डन जैनाचार्यों ने निम्नलिखित रूप से किया है -

1. अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्व असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक तथा कालात्ययापदिष्ट दोष से दूषित है।

2 क्षणिक पदार्थ क्रम से कार्यकारी नहीं हो सकता, क्योंकि देशकृत और कालकृत क्रम संभव नहीं है ।

3 युगपत् अनेक शकत्यात्मकपने के अभाव के कारण पदार्थ युगपत् कार्यकारी भी नहीं हो सकता है ।

4 सामग्री के भेद से द्वितीयादिक्षणभावि कार्य का प्रथम क्षण में उत्पाद नहीं होता है ।

5 क्षणिक पक्ष में प्रत्यक्ष से बाधा आती है ।

6 प्रत्यभिज्ञान से भी क्षणिक पक्ष में प्रत्यक्ष से बाधा है ।

7. जो कृतक होता है उसका स्वसत्ता के क्षण के अनन्तर नाश होता ही है, इस प्रकार के नियम का अभाव है ।

8. विचित्र कारण सामग्री उदय के अनन्तर विनश्वर और अविनश्वर पदार्थ का उत्पाद करती है। अन्त में विनाश की प्राप्ति होने पर आदि में उसका सद्भाव मान लेना ठीक नहीं है ।

9 क्षणिकपना होने पर पदार्थों का अवभास नहीं होगा ।

10 क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया न होने से असत्पने का प्रसङ्ग आता है ।

11 पदार्थ की दो क्षण तक स्थिति माने बिना उन्हें ज्ञान का विषय नहीं बना सकते ।

12 क्षणिकपक्ष में कृतनाश और अकृत अभ्यागम का प्रसङ्ग आता है ।

13 क्षणिकपक्ष में हेतु फलभाव नहीं बनता है ।

5. **प्रमाण विचार** – जैनाचार्यों ने बौद्धसम्मत निम्नलिखित तीन प्रमाणों की समालोचना की है

1. अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है ।
2 अज्ञातार्थ का प्रकाशक प्रमाण है ।
3 ज्ञान का अर्थ के आकार हो जाना प्रमाण है ।

बौद्धदर्शन में दो प्रमाण होते हैं - (1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान। क्षणिक परमाणु रूप स्वलक्षण तो प्रत्यक्ष का विषय होता है तथा बुद्धि प्रतिबिम्बित अन्यापोहात्मक सामान्य अनुमान का विषय होता है। इस तरह विषय की द्विविधता से प्रमाण के द्वैविध्य का अनुमान किया जाता है। जैनाचार्यो का कहना है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा जानने का कोई उपाय नहीं है। प्रत्यक्ष तो स्वलक्षण को ही विषय करता है अत: अभाव को वह ग्रहण नहीं कर सकता और न स्वभावानुमान और कार्यानुमान से ही प्रमाणान्तर का अभाव जान सकते हैं, क्योंकि वे तो वस्तु के साधक हैं, उसके अभाव के साधक नहीं ।

बौद्धों ने कल्पनापोढ़ तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा। इसका निराकरण जैनाचार्यो ने प्राय: निम्नलिखित रूप से किया है -

1. कल्पनापोढ़ अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष यदि सर्वथा कल्पनापोढ़ है तो प्रमाण ज्ञान है, प्रत्यक्ष कल्पनापोढ़ है, इत्यादि कल्पनायें उसमें नहीं बनती है ।

2 निश्चयरूप कल्पना रहितपना प्रत्यक्ष से असिद्ध है ।

3 अनुमान प्रमाण के द्वारा निर्विकल्पका का ज्ञापन नहीं बनता है ।

4 निर्विकल्प दर्शन को व्यसायात्मक न मानने से सकल प्रमाण, प्रमेय का लोप हो जाता है ।

5 यदि निर्विकल्पदर्शन प्रमाण है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ?

6. अनुमान विचार - बौद्ध त्रिरूप (पक्षधर्मत्व, सपाक्षसत्व तथा विपक्षासत्व) लिङ्ग से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। उनके अनुसार सामान्य का प्रतिभासी होने से अनुमान भ्रान्त है। अनुमान के इस लक्षण की समीक्षा करते हुए सिद्धर्षि सूरि ने कहा है - *"अनुमान अभ्रान्त है, जैसे - प्रत्यक्ष।" अनुमान को बौद्ध प्रमाण मानते हैं अत: वह अभ्रान्त है।*

बौद्ध विद्वानों के लिए केवल एक हेतु का प्रयोग मानकर भी उसके स्वरूप में उदाहरण और उपनय को अन्तर्भूत कर लेते हैं। उनके हेतु का प्रयोग इस प्रकार होता है - "जो जो धूम वाला है, वह वह अग्निवाला है, जैसे रसोईधर, उसी तरह पर्वत भी धूमवाला है इस प्रयोग में हेतु के त्रैरुप्य को समझाने के लिए अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त आवश्यक होता है और हेतु के समर्थन के लिए दृष्टान्त के साथ उपनय भी आवश्यक है। हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध करके उसका अपने धर्मी में सद्भाव सिद्ध करना समर्थन कहलाता है। इस तरह बौद्धमत में हेतु, उदाहरण और उपनय ये तीन अवयव अनुमान के लिए आवश्यक हैं। वे प्रतिज्ञा को आवश्यक नहीं मानते, क्योंकि केवल प्रतिज्ञा के प्रयोग से साध्य की सिद्धि नहीं होती और प्रस्ताव आदि मे उसका विषय ज्ञात हो जाता है। किन्तु यदि प्रतिज्ञा का शब्दों से निर्देश नहीं किया जाता है तो हेतु किसमें साध्य की सिद्धि करेगा ? तथा उसके पक्ष धर्मत्व का स्वरूप कैसे समर्थित होगा, "तथा चायं धूमवान्" इस उपनय - उपसंहार वाक्य में "अयं" शब्द के द्वारा किसका बोध होगा ? यदि हेतु को कहकर उसका समर्थन किया जाता है तो प्रतिज्ञा के प्रयोग करने में क्यों हिचक होती है ? अत: साध्यधर्म के आधार विषयक संदेह को हटाने के लिए पक्ष का प्रयोग आवश्यक है[14]।

जैनाचार्यों ने प्रारम्भ से ही साधन का एकमात्र लक्षण माना है - अन्यथानुपपन्नत्व[15] या अविनाभाव[16]। अन्यथा - साध्य के अभाव में अनुपपन्तत्व - नहीं होना, यही अन्यथानुपपन्नत्व है जो अविनाभाव का पर्याय है। बौद्धपरम्परा में यद्यपि अविनाभाव को हेतु का स्वरूप कहा है पर वे उसकी परिसमाप्ति त्रैरुप्य में मानते हैं। पक्षधर्मत्व, सपक्षतत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति हेतु के ये तीन रूप असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचार इन तीनों दोषों का वारण करने के लिए है। त्रैरुप्य का विवरण देते हुए आचार्य धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में लिखा है - 1. लिङ्ग की अनुमेय में सता ही होनी चाहिए 2. समक्ष में ही मत्ता और 3 विपक्ष में असत्ता ही होनी चाहिए[17]। अकलङ्क देव के अनुसार "अविनाभाव" यह समान्यलक्षण तो सही है, पर इसके स्वरूप के लिए केवल विपक्ष व्यावृत्ति ही अनिवार्य है, पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्व नहीं। "एक मुहूर्त[18] के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृतिका का उदय है, इस पूर्वचर अनुमान में कृतिकोदय हेतु रोहिणी नामक पक्ष में नहीं रहता, अत: पक्षधर्मत्व न रहने पर भी मात्र अविनाभाव के कारण यह सद्धेतु है।" सर्व क्षणिकं सत्वात्" बौद्धों के इस प्रसिद्ध अनुमान में सबको पक्ष कर लेने के कारण सपक्ष का अभाव होने से "सपक्षसत्व" नहीं है, फिर भी उनके मत में यह सद्धेतु माना ही जाता है। अत: अविनाभाव को ऐसे नियमों में नहीं जकड़ना चाहिए, जिससे उसका स्वरूप अव्याप्त, अतिव्याप्त या असंभव बन जाय[19]।

7. अन्यापोहवाद - अपोह का मतलब है निषेध। उसके दो भेद हैं - पर्युदास[20] और प्रसज्य। पर्युदास के भी दो भेद हैं - 1. बुद्धिरूप 2. अर्थरूप। जैसे एक सामान्य के बिना भी हर्रे आदि औषधियाँ ज्वर आदि के शमनरूप कार्य को करती हैं, वैसे ही शाबलेय आदि अर्थ भी परस्पर में भेद के होते हुए भी स्वभाव से ही एकाकार प्रत्यवमर्श के कारण होते हैं। इन अर्थों के अनुभव के बल से जो सविकल्पज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान में अर्थाकार रूप से जो अर्थ का आभास

होता है, उसे अपोह कहते हैं । अब प्रश्न होता है कि उसे अपोह क्यों कहते हैं ? चार कारणों से उसे अपोह कहते हैं । प्रथम विकल्पान्तरवर्ती आकारों से भिन्न होकर वह स्वयं प्रतिभासमान होता है अथवा स्वाकार से इतर आकारों का उन्मूलन करता है, जिसके द्वारा अन्य का अपोह (व्यावृत्ति) किया जावे, या जो अन्य से अपोहित हो, उसे अन्यापोह कहते हैं । यह अन्यापोह शब्द का मुख्य रूप से अर्थ है । शेष तीन कारणों से औपचारिक अन्यापोह इस प्रकार है -

1. कारण में कार्य का आरोप करने से, जैसे उक्त अन्यापोह का कार्य इतर से व्यावृत (भिन्न) वस्तु की प्राप्ति है । अत: उसका कारण होने से कार्यधर्म अन्य व्यावृत्ति का अपोहरूप कारण में आरोप किया जाता है । दूसरा, कार्य में कारण धर्म का आरोप - एक प्रत्यवमर्श अन्यापोह का कारण अन्य से असंसृष्ट स्वलक्षण रूप अर्थ है । क्योंकि उसके निर्विकल्प प्रत्यक्ष से ही उक्त अन्यापोह का जन्म हुआ है। और कारणरूप स्वलक्षण में अन्य व्यावृत्ति है ही, अत: उस अन्य व्यावृत्ति का कार्य भूत एक प्रत्यवमर्श रूप अन्यापोह में उपचार किया जाता है । तीसरे, विजातीय से व्यावृत्त स्वलक्षण के साथ सविकल्प में प्रतिभासमान रूप का एकत्वाध्यवसाय होने से उसे अन्यापोह कहा जाता है । यह बुद्धिरूप अन्यापोह का स्वरूप है, और उस बुद्धिरूप अन्यापोह की कारण जो स्वलक्षण है वह अर्थरूप अन्यापोह है क्योंकि उसमें अन्य विजातीयों से व्यावृत है । यह पर्युदासरूप अपोह का कथन हुआ ।

"यह गौ अगौ नहीं है" इस प्रकार केवल इतर व्यावृत्ति ही जो करता है, वह प्रसज्य[21] रूप अन्यापोह है । शब्द केवल ऊपर कहे हुए अन्यापोह का हीवाचक है। सारांश यह है कि शाब्दज्ञान में जो प्रतिभासित हो उसे ही शब्दार्थ मानना उचित है। शाब्दज्ञान में न तो प्रसज्यप्रतिषेध (तुच्छाभावरूप) का ही अध्यवसाय होता है और न स्वलक्षण का ही प्रतिभास होता है, किन्तु बाह्य अर्थ की निश्चायक एक शाब्दी बुद्धि उत्पन्न होती है । अत: उसे ही शब्दार्थ मानना चाहिए। यह बौद्ध का कहना है तथा जो लोग शब्द का अर्थ के साथ वाच्य-वाचक भावरूप सम्बन्ध मानते हैं, वह भी वास्तव में कार्य-कारण भाव से भिन्न नहीं है, क्योंकि बुद्धि में जो अर्थ का प्रतिबिम्भ होता है, वह शब्दजन्य है, इससे उसे वाच्य कहते हैं और शब्द को उसका जनक होने से वाचक कहते हैं ।

जैनों का कहना[22] है कि सविकल्प बुद्धि में जो अर्थाकार प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, उसे अन्यापोह मानते हैं । अब प्रश्न यह है कि वह प्रतिबिम्ब किसका है ? स्वलक्षण का अथवा सामान्य का वह स्वलक्षण का प्रतिबिम्ब तो हो नहीं सकता, क्योंकि स्वलक्षण तो व्यावृत्तकार है और प्रतिबिम्ब अनुगत एक रूप है । यदि वह प्रतिबिम्ब स्वलक्षण का है तो स्वलक्षण को भी अनुगत एकाकार ही होना चाहिए । यदि वह प्रतिबिम्ब सामान्य का है तो आप बौद्ध है तो सामान्य को असत् मानते हैं, अत: असत् का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? यदि शब्दजन्य विकल्प केवल अपने प्रतिबिम्ब का निश्चायक है तो उससे बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी[23] ?

8. प्रमाण का विषय और उसका फल – बौद्धों का कहना है कि विशेष ही तत्त्व है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रमाणता उसी विशेष तत्त्व के मार्ग पर चलने के कारण ही है । जैनों का कहना है कि द्रव्य सामान्य का निराकरण नहीं किया जा सकता । द्रव्य की सिद्धि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से होती है । निराश्रय पर्यायादि की स्वप्न में भी प्रतीति नहीं होती है । अनुमान प्रमाण भी द्रव्य को सिद्ध करता है, क्योंकि द्रव्य के बिना पर्यायों की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

बौद्ध रुपादि से भिन्न कोई अवयवी नहीं मानते । इसके लिए वे प्राय: निम्नलिखित तर्क देते हैं -

1. रुपादि से भिन्न अवयवी की प्रत्यक्ष या अनुमान से प्रतीति नहीं होती है ।

2. अवयवी की उत्पत्ति का कोई कारण प्राप्त नहीं होता है ।

3 अणु का संयोग सर्वात्मना अथवा एकदेशेन नहीं माना जा सकता ।

4. अयः शलाकाकल्प अणुओं में स्थूलादि की प्रतीति भ्रान्तिवश होती है ।

5. समस्त अवयवों को ग्रहण किए बिना अनेकावयव व्यापीपना अथवा रुपरसाद्यात्मकपना ग्रहण करना संभव नहीं है ।

जैन अवयवों से कथञ्चित् भिन्न एकानेकात्मक अवयवी की सिद्धि करते हैं । इसके लिए वे प्राय: निम्नलिखित तर्क देते हैं -

1 पदार्थों का अवभासन एकात्वाद्यात्मक होता है ।

2. अवयवी के अभाव में घटादि का ज्ञान निर्विषय होता है या सविषय ?

3 अवयवी को न मानने पर संचित अणुओं को प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना जा सकता।

4 स्थूलादि की प्रतीति भ्रान्त नहीं है ।

बौद्ध प्रमाण तथा प्रमाणफल में कोई भेद नहीं मानते हैं । इनके विरुद्ध आचार्य विद्यानन्द का कहना है कि प्रमाण और फल में अभेद मानने पर तो यह प्रमाण है, यह उसका फल है, यह व्यवस्था ही नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वथा अभेद में तद्भाव का विरोध है ।

इस प्रकार बौद्धों के प्राय: प्रत्येक सिद्धान्त पर विचार कर जैन आचार्यो ने उसकी समीक्षा की है, बौद्ध दर्शन का परीक्षण करने और जैन दृष्टिकोण को जानने की अपेक्षा इसका अत्यधिक महत्त्व है ।

यं बुद्धं बोधयन्तः जननजलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा ।
पौर्यापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलङ्कं यदीयं ॥
तं वन्दे साधु वन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोष द्विशन्तं ।
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥

फुटनोट

1 तथा बौद्धानामष्टादर्शानिकायभेदा : षड्द स पृ 33
2 षड्दर्शन समुच्चय (पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य द्वारा लिखित पाद टिप्पणी) पृ 32
3 वही पृ 33
4 षड् स पृ 33
4 अ षड्द स. (गुणरत्नटीका) पृ 38-39
5 न्यायविनिश्चयविवरण (प्रस्तावना) पृ.37-38
6 माध्यमिकवृत्ति पृ. 466
7 पं महेन्द्रकुमार जी - न्या वि वि (प्रस्तावना) पृ. 38
8 तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ 104
9 तत्त्वसंग्रह पृ. 184
10 माध्यमिकवृत्ति पृ. 519
11 न्या कु च (प्रथम भाग) पृ 275
12 न्या कु. च (पृ. भाग) पृ 375
13 वही पृ 376-378
14 न्यायविनिश्चयविवरण भाग - 2 (प्रस्तावना) पृ. 15
15. न्यायावतार श्लो. - 5
16. प्रमाणवार्तिक 3/11
17. न्यायबिन्दु 2/5-7
18 सिद्धिविनिश्चय 6/17, लघीयस्त्रय श्लो. 13-14
19. पं महेन्द्रकुमार जी : सिद्धिविनिश्चय (प्रस्तावना) पृ. 115-116
20 तत्त्व संग्रह पंजिका पृ, 316
21 तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ 318
22 न्या. कु. च. पृ. 557-566 प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. 432-450
23. पं कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन न्याय पृ. 246

❑❑❑

बौदद्धर्शन की शास्त्रीय समीक्षा : संस्कृत जैन ग्रन्थों के आधार पर

(शोध-प्रबन्ध)

में प्रयुक्त

सहायक ग्रन्थों की तालिका

1 अष्टसहस्री - आ. विद्यानन्द, सम्पा. श्री वंशीधर जी, गाँधी नाथारंग जी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन् 1915 ई.

2 अष्टसाहस्री - आ. विद्यानन्द, अनु. आर्यिका ज्ञानमती, प्र. दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर (मेरठ) उ. प्र. ई सन् 1974 वीर नि. सं. 2500

3. Aklanka's Criticism of Dharmkirtis Philsophy - A Study-Nagin J Shah, L. D Institute of Indology, Ahmedabad - 9, 1967

4. अभिधर्मकोश - आ. वसुबन्धु, अनु. आ नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तान एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद 1958 ई

5 आप्त परीक्षा - विद्यानन्द सम्पा. अनु - पं दरबारी लाल कोठिया, प्र. वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला-सहारनपुर, दिसम्बर 1949

6 आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार - डॉ लालबहादुर शास्त्री, प्र. चाँदमल सरावगी चैरिटेबिल ट्रस्ट, गोहाटी (आसाम) 1976 ई

7 आगम युग का जेनदर्शन - पण्डित दलसुख मालवणिया, प. सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, जनवरी 1966

8. आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका - प्रो. उदयचन्द्र जैन, श्री गणेश वर्णी दि जैन संस्थान, वाराणसी, वीर निर्वाण सं. 2501

9 आदिपुराण - भाग - 1 आ. जिनसेन - भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रथम सं

10 आदिपुराण - भाग - 2 आ जिनसेन - भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रथम सं

11 आत्मानुशासन - आ. गुणभद्र, प्र जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुर

11 (a) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, डॉ. नलिनाक्षदत एवं कृष्णदत्त बाजपेयी, प्रकाशन ब्यूरो उत्तर प्रदेश सरकार लखनऊ।

12 एन्साइकलोपीडिया आव रिलिजन एण्ड अथिक्स, जिल्द-8

13 चतु:शतकम् - आ. आर्यदेव, सम्पा. अनु. डॉ भागचन्द्र जैन भास्कर आलोक प्रकाशन, नागपुर, 1971

14. जैन न्याय खण्ड खाद्य - उपा यशोविजय, व्याख्या, श्री बदरीनाथ शुक्ल चौखम्भा संस्कृत सीरीजि आफिस, वाराणसी, 1966

15. जैनदर्शन - डॉ मोहनलाल मेहता, सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी आगरा सन् 1959

16 जैनदर्शन - पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य प्र. सं

17 जैनन्याय पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन प्रथम सं. 1966

18 तत्वसंग्रह पंजिका - कमलशील, प्र गायकबाड़ सीरिज बड़ौदा

19. तत्त्वार्थवार्त्तिकम् (भाग 1) - अकलंकदेव, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्रथम संस्करण।

20. तत्वार्थवार्त्तिकम् (भाग 2) - अकलंकदेव, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्र. सं.

21. तत्त्वससिद्धि - वीरनन्दि, सम्पा पं अमृतलाल शास्त्री, राज विद्या - मन्दिर बी. 24/ 109, कश्मीरी गंज, वाराणसी-1 प्र. सं. 1970
22. तत्त्व संग्रह - शान्तरक्षित, बौद्धभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968
23. तत्वार्थाधिगम भाष्य - उमास्वाति, अनु. पं. खूबचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, वाया आणंद सन् 1932
24. तत्त्वार्थसूत्र - गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामि
25 तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा - ले. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री प्र भा. दि जैन विद्वत परिषद्, सागर प्र. सं.
26 तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक - विद्यानन्द, प्र. कुन्थुसागर जैन ग्रन्थमाला सोलापुर, प्र. सं. (भाग 1-6)
27 दर्शन और चिन्तन - पं सुखलाल संघवी
28 न्यायाबिन्दु टीका - आ धर्मोतर, डॉ श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ-2, प्र सं 1975 ई
29 न्यायबिन्दु - सम्पा चन्द्रशेखर शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीजि बनारस 1
30 न्यायकुमुदचन्द्र - प्रभाचन्द्र सम्पा. पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, प्र. मणिकचन्द्र (भाग 1, 2) दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र सं
31. न्यायविनिश्चय विवरण - वादिराज सूरि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी सम्पा (भाग - 2) प्रो महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य प्र. सं वीर नि. सं 2480
32 न्यायावतार - आ. सिद्धसेन, अनु. पं विजयमूर्ति शास्त्राचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, चौकसी चैम्बर खाराकुआँ, जौहरी बाजार बम्बई।
33 न्याय मंजरी - प्र. विजय नगरम् सीरीज, काशी
34 न्याय वार्तिकम् - चौखम्भा सीरीज, काशी
35. न्याय दीपिका - श्रीमदभिनवधर्मभूषण यति, सम्पा. अनु पं दरबारी लाल जैन कोठिया, वीर सेवा मन्दिर 21 दरियागंज, दिल्ली, वीर नि. सं 2494
36 न्याय सूत्र - चौखम्भा सीरीज, काशी
37. न्यायभाष्य - गुजराती प्रेस, बम्बई
38. प्रमाणवार्त्तिकालंकार - महोबोधि सोसाइटी, सारनाथ
39. प्रमेयकमल मार्तण्ड - सम्पा पं महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य
40 प्रमेयकमल मार्तण्ड - आ प्रभाचन्द्र, अनु आ. जिनमती जी, प्रकाशक - लाला मुलद्दीलाल जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, 2/4 अन्सारी रोड़, दरिया गंज देहली, वीर नि सं. 2504
41 प्रमेयरत्नमाला - श्रीमल्लघु-अनन्तवीर्य, अनु पं. हीरालाल जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी -1, 1964 ई.
42. प्रमाण प्रमेय कलिका - नरेन्द्रसेन, सम्पा डॉ. दरबारी लाल कोठिया मणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, प्र. सं. वीर नि. सं. 2487
43. प्रमाणवार्तिक मनोरथनन्दिवृत्ति - मनोरथनन्दि, बिहार उड़ीसा रिसर्च जर्नल, पटना 1937
44. प्रमाणवार्तिक - धर्मकीर्ति, बिहार उड़ीसा रिसर्च जर्नल, पटना, 1937
45 प्रशास्तपाद कन्दली टीका - विजयनगरम् सीरीज काशी

46. परीक्षामुखसूत्र - मणिक्यनन्दि

47. प्रमाण परीक्षा - वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, चमेली कुटीर 1/128 डुमराव कॉलोनी, अस्सी, वाराणसी - 5

48. प्रमाण मींमासा - आ. हेमचन्द्र, सम्पा. पं. सुखलाल संघवी, सिंघी जैन ग्रन्थमाला प्र. सं.

49. पालि साहित्य का इतिहास - भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, शक 1885

50 बौद्धदर्शन मीमांसा - आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्याभवन, चौक, बनारस, वि. सं 2003

51. बोधिचर्यावतार पंजिका - लुइस डी. ला पुसिन् : एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता 1901

52 बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन - भरतसिंह उपाध्याय

53 बौद्धधर्म के 2500 वर्ष, सम्पा. पी. वी. वापट, पब्लिकेशन्स डिवीजन ओल्ड सेक्रेट्रिएट, दिल्ली-8

54 बौद्धन्याय - एफ. टी. शेखात्स्की, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणासी - 1, 1969

55 माध्यमिक वृत्ति (बिब्लोथिका बुद्धिका, रूस)

56 मीमांसा श्लोकवार्त्तिक - चौखम्भा सीरीज काशी

57 युकत्यनुशासन - स्वामी समन्तभद्र, विद्यानन्द टीका, प्र मणिकचन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वीर नि. स. 2446

58 युक्त्युनुशासन - स्वामी समन्तभद्र, अनु. जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर सरसावा, जिला - सहारनपुर ।

59 योगबिन्दु - हरिभद्र

60 लघीयस्त्रय -

61 लङ्कावतारसूत्र - लन्दन प्रकाशन

62 वाक्यपदीप - चौखम्भा सीरीज, काशी

63 वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन - डा. श्री निवास शास्त्री कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र 1968

64. स्याद्वाद रत्नाकर

65. स्याद्वाद मंजरी - मल्लिषेण अनु. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्री मद्राजचन्द्र आश्रम, अगास ई. सन् 1970

66. सौन्दरनन्द - अवघोष, सम्पा. अनु. सूर्यनारायण चौधरी, प्र संस्कृत भवन, कठौतिया, प्रो. काझा, जिला पूर्णियाँ (बिहार) द्वि. सं. 1959

67 सत्यशासन परीक्षा - विद्यानन्द - सम्पा. डॉ गोकुलचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं

68. सेक्रेड बुक ऑव दि ईस्ट, जिल्द - 34

70. संस्कृत कविदर्शन - डॉ. भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा प्रकाशन

71 सिद्धिविनिश्चय टीका - अकलंकदेव, अनन्तवीर्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वीर. नि. सं. 2470

72. समदर्शी आचार्य हरिभद्र - पं. सुखलालजी

73 Central conception of buddhism विधुशेखर भट्टाचार्य

74. सन्मति तर्क - पं. सुखलाल संघवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, प्र. दि. जैन समाज, अजमेर

75 समयसार - आ. कुन्दकुन्द, प्र. दि. जैन समाज, अजमेर

76. समयसार - आ कुन्दकुन्द पं. पन्नालाल साहित्यचार्य, राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, अगास, पो बोरिया, वाया - आणंद (गुजरात) प्र. सं.

77. शास्त्रवार्तासमुच्चय - हरिभद्र, प्रका एल. डी. इन्सटटीट्यूट, अहमदाबाद पत्रिकायें- अनेकान्त वर्ष 14, किरण 1, 11, 12

लेखक की प्रकाशित कृतियाँ

1. पद्मचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति
2. पावनतीर्थ हस्तिनापुर
3. अहिच्छत्रा की पुरासम्पदा
4 पार्श्वाभ्युदय (हिन्दी अनुवाद)
5. समराइच्छकहा (हिन्दी अनुवाद)
6 भावसंग्रह (हिन्दी अनुवाद)
7 सुदर्शनचरित (हिन्दी अनुवाद)
8 शिशुपालवध प्र सर्ग (हिन्दी अनुवाद)
9 नीतिशतक (हिन्दी अनुवाद)
10. नैषधीयचरितम तृ. सर्ग (हिन्दी अनुवाद)
11 माण्डूक्योपनिषद् (हिन्दी अनुवाद)
12 प्रमेयरत्न माला (हिन्दी अनुवाद)
13. सिद्ध चक्र विधान (सम्पादन)
14 इष्टोपदेश (सम्पादन)
15 समाधितन्त्र (सम्पादन)
16 हे ज्ञानदीप आगम प्रणाम
17 सल्लेखना दर्शन (सम्पादन)
18. बौद्ध दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा (संस्कृत जैन ग्रन्थों के आधार पर)
19 अंजना पवनञ्जय नाटक (हिन्दी अनुवाद)
20. श्रावक धर्म
21. बुद्धचरित (हिन्दी अनुवाद)
22 शिवराजविजय (हिन्दी अनुवाद)
23 आप्तमीमांसा (ढूँढारी से आधुनिक हिन्दी में अनूदित)
24. Hindi - English Jaina dictionary
25.